UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182915

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. [illegible] Accession No. [illegible]

This book should be returned on or before the date marked below.

हिन्दी साहित्य की कहानी

आलोचना व निबन्ध

लेखक
डा० रामरतन भटनागर
एम० ए०, डी० फिल०
सागर-विश्वविद्यालय

राजपाल एण्ड सन्ज
कश्मीरी गेट
दिल्ली

प्रकाशक
राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट
दिल्ली ।

मूल्य
साढ़े तीन रुपया

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
रीवन्स रोड, दिल्ली ।

आलोचना व निबन्ध

प्रवेश

हिन्दी-साहित्य लगभग १००० वर्ष पुराना है और उसे क्रम-विकास की अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ा है। साधारणतः उसे तीन युगों में विभाजित किया जाता है। आदि युग, मध्य युग, और नवयुग। मध्य-युग के दो और विभाग किये जाते है—पूर्वमध्य युग और उत्तरमध्य युग। यह विभाजन बहुत-कुछ प्रचलित इतिहासों की शैली पर है और इससे ऐतिहासिक विवेचन में थोड़ी-बहुत सुविधा अवश्य हो जाती है। प्रत्येक युग का एक प्रचलित लोकप्रिय नाम भी चल रहा है। आदि युग को चारण काल या वीरगाथा काल भी कह दिया जाता है। पूर्वमध्य युग को भक्ति काल कहा जाता है और लगभग १६०० ई० तक इसका विस्तार माना जाता है, परन्तु १५०० ई० तक भक्ति-भावना का विशेष विकास नहीं हो पाया था और उनका वही रूप लोकप्रियता को प्राप्त था जो हमें सन्त-काव्य में मिलता है। अतः इसे 'सन्त युग' कहना अधिक उपयुक्त होगा। उत्तरमध्य युग में भक्ति और शृंगार की धाराएँ पूर्ण वेग से चलती दिखाई देती है और कहीं-कहीं दोनों धाराओं का जल इतना अधिक मिल गया है कि उन्हें अलग करना असम्भव है।

नवयुग को गद्य-काल भी कहा जाता है। परन्तु केवल गद्य-काल कह देने से इस युग की विशेषताओं से हम परिचित नहीं होते। 'गद्य' हमारे युग की मुख्य प्रवृत्ति है, परन्तु इस नाम से साहित्य की अन्तर्वृत्ति का प्रकाशन नहीं होता। सच बात तो यह है कि काल-विभाजन के सम्बन्ध में एकमत होना बड़ा कठिन है। कोई किसी प्रवृत्ति पर बल देता

है, कोई किसी प्रवृत्ति पर। फलतः अनेक भेद उत्पन्न होने की सम्भावना है। फिर नाम से कुछ विशेष आता जाता नहीं। साहित्य जन-जीवन का प्रतिबिम्ब है और उसी तरह अखंडित, अविभाजित और अविच्छिन्न है। उसे इसी रूप में देखना अधिक उपादेय होगा। फिर भी सुविधा के लिए कोई विभाजन लेकर चलना हो तो ऐतिहासिक विभाजन ही अधिक ठीक होगा। इससे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के निश्चय करने और सन्-संवत् को स्मरण रखने में सहायता मिलती है।

भाषा की दृष्टि से भी हिन्दी-साहित्य का क्रम-विकास महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी-साहित्य हमें कई भाषाओं से मिलता है। हिन्दी के पूर्वी प्रदेश का साहित्य मगही और मैथिली भाषाओं में मिलता है। मगही सिद्ध कवियों की भाषा है और वह अपभ्रंश के अधिक निकट है। मैथिली भाषा में सबसे सुन्दर साहित्य विद्यापति की पदावली है। मध्य युग के बाद इस भाषा की रचना-परम्परा समाप्त हो गई है यद्यपि आधुनिक युग में जनपद भाषा के रूप में इसके पुनरुत्थान का प्रयत्न हो रहा है और कुछ कविताओं, कहानियों और नाटकों की रचना उसमें हुई है। हिन्दी-प्रवेश के मध्य भाग में दो भाषाओं ने साहित्य में विशेष योग दिया है। ये हैं—अवधी और ब्रज। मध्य युग में अवधी और ब्रज भक्ति-आन्दोलनों के केन्द्र थे। अयोध्या राम की जन्मभूमि है। ब्रज कृष्ण की लीला-भूमि है। अतः कृष्ण-भक्ति के काव्य की रचना इसी प्रदेश में हुई है। कबीर के काव्य का बहुत बड़ा भाग अवधी में ही है, यद्यपि कुछ रचनाएँ भोजपुरी में भी हैं। जायसी और अन्य सूफी कवियों की भाषा अवधी ही है। इसका कारण यह है कि पूर्वमध्य युग में यही प्रदेश सूफियों का केन्द्र बन गया था। जौनपुर का शिया राज्य (१३९३–१४९४) सूफियों का बहुत बड़ा आश्रय रहा है।

पश्चिमी हिन्दी-प्रदेश में खड़ी बोली और राजस्थानी (डिंगल) काव्य की भाषा रही हैं। खड़ी बोली आधुनिक नाम है। प्राचीन साहित्य में इसे 'हिन्दवी' कहा गया है। मुसलमानों का बहुत-सा साहित्य

इसी भाषा में हैं और १८०० ई० के बाद तो यह गद्य-पद्य की प्रधान भाषा बन गई। अब इसी भाषा को राष्ट्रभाषा बनने का गौरव प्राप्त हुआ है यह कुरुपांचाल प्रदेश की मातृभाषा है और शासन के केन्द्र (दिल्ली) के आस-पास की भाषा होने के कारण लोक-भाषा का रूप ग्रहण करती रही है और राज-काज, व्यापार और लेन-देन की भाषा रही है। राजस्थानी (डिंगल) भाषा की परम्परा भी मगही की भाँति पुरानी है। यह भाषा अपभ्रंश से अत्यन्त निकट से सम्बन्धित है, विशेषतया १५०० ई० के बाद। इसके पहले का साहित्य पूर्णतः प्रामाणिक नहीं है।

आज इस विशाल हिन्दी-प्रदेश में साहित्य के क्षेत्र में केवल एक भाषा—खड़ी बोली—का प्रयोग हो रहा है, परन्तु दिल्ली-मेरठ की खड़ी बोली से यह भिन्न है। धीरे-धीरे इसका एक सर्वमान्य साहित्यिक रूप निश्चित हो चुका है और आज इसी सर्वमान्य रूप को मानदण्ड माना जाता है। कुरु-पांचाल की जन-भाषा इस भाषा का मूल उत्स है, परन्तु अब हम खड़ी बोली के मुहावरे और शब्दों की प्रामाणिकता के लिए कुरुपांचाल की बोली की खोज नहीं करते। यह साहित्य के लिए अच्छा है या बुरा, यह हम नहीं कहते, परन्तु वस्तुस्थिति कुछ ऐसी ही है। 'जनपद-आन्दोलन' के रूप में प्रादेशिक बोलियों को फिर साहित्य के क्षेत्र में लाने का प्रयत्न हो रहा है और मैथिली और राजस्थानी में कुछ रचनाएँ भी उपस्थित हुई है, कुछ भोजपुरी कहानी-नाटक भी सामने आये हैं। परन्तु व्यापक रूप से जिस खड़ी बोली का प्रचार हो गया है उसे साहित्य के आसन से उतारना कठिन है। मध्य युग में यातायात के साधन सुलभ नहीं थे, शिक्षा की कोई केन्द्रीय व्यवस्था नहीं थी। प्रादेशिक धार्मिक आन्दोलनों ने प्रादेशिक बोलियों को साहित्य की श्रेष्ठ निधि से सम्पन्न कर दिया। आज के युग में इस प्रकार के किसी प्रादेशिक आन्दोलन के उठने की संभावना नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि अभी बहुत दिनों तक सारे हिन्दी-प्रदेश पर खड़ी बोली का अखण्ड राज्य रहेगा। हिन्दी का आधुनिक साहित्य खड़ी बोली

के जन्म, विकास और विस्तार का ही इतिहास है।

यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि भारतीय मनीषा बराबर दो श्रेणियों का काव्य अथवा साहित्य प्रस्तुत करती रही है। एक श्रेणी का साहित्य नगरों की शिष्ट जनता, उसके आचार-विचारों, धार्मिक विश्वासों और आमोद-प्रमोदों से संबन्धित है। यह साहित्य ही विशुद्ध साहित्य के रूप में आज तक सुरक्षित रह सका है। उसमें सामान्य जनता की प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं, परन्तु उतनी मात्रा में नहीं, न उस स्फूर्ति के साथ। दूसरे प्रकार का साहित्य लोक-गीतों और लोक-गाथाओं, कहावतों, मुकरियों-पहेलियों और दंतकथाओं का साहित्य है। सम्पूर्ण जनता ने इसके निर्माण में भाग लिया है और इसमें न जाने किन-किन सोतों से आई हुई सामग्री एकरूप हो गई है। जनता के इस बृहद् साहित्य ने विशुद्ध साहित्य को बहुत-कुछ दिया है। जब-जब साहित्य-सृष्टाओं का मुख जनता की ओर रहा है, तब-तब उन्होंने लोक-गीतों और लोक-कथाओं से बहुत-कुछ लिया है। गोरखनाथ, कबीर, दादू, सूर और प्रेमचन्द जन-मान्यताओं को अपनाकर ही महान् हैं। आज फिर जनान्दोलनों ने हमारे साहित्य-सृष्टाओं और कवियों को जन-जीवन की ओर आकर्षित किया है। और अब तो हम जनपदीय विभाषाओं के प्रचुर जन-साहित्य का वैज्ञानिक और साहित्यिक अध्ययन भी करने लगे हैं। इस साहित्य में जीवन का जैसा रस ओत-प्रोत है, वह हमें केवल-मात्र साहित्य, विशुद्ध साहित्य नाम कहलाई जाने वाली चीज में नहीं मिलेगा। विशुद्ध साहित्य की हमारी परम्परा संस्कृत के विशाल साहित्य, महान् आचार्यों की शास्त्रीय मान्यताओं और पौराणिकों की वाग्विदग्धता और सरसता को लेकर चलती है। इस परम्परा के संवाहक एक ओर कालिदास, सातवाहन और अमरुक हैं और दूसरी ओर रामायण, भागवत, अध्यात्म और ब्रह्मवैवर्त पुराण के लेखक महाकवि और महामनीषी। रस, अलंकार, ध्वनि, गुण इत्यादि के सम्बन्ध में हमारा साहित्य बहुत दूर तक संस्कृत साहित्य का ऋणी है। वस्तुतः साहित्य-

शास्त्र के विकास का समय ५०० ई० से १५०० ई० तक है और हिंदी साहित्य को अपनी किशोरावस्था में ही यह महान् उत्तराधिकार प्राप्त हो जाता है। हिन्दी के सामंती और पौराणिक काव्य को हम गुप्त युग से चली आती हुई काव्य-परम्परा की अन्तिम शृंखला मान लें तो कदाचित् हम उसको कुछ अधिक अच्छी तरह समझ सकें। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-साहित्य में सामान्य जनता और विदग्ध पंडितवर्ग दोनों की साहित्यिक चेष्टाएँ सुरक्षित हैं और जहाँ वह बहुत-कुछ सामयिक प्रभावों और आन्दोलनों को समेटकर चला है वहाँ बहुत ऐसा भी है जो भारत की अमर साहित्यिक विभूति और उसकी अपनी साहित्य-दृष्टि से पुष्ट है।

अनुक्रम

प्रवेश

१. आदि युग (७००—१२०० ई०) १–२१

पृष्ठभूमि—संधि युग—अपभ्रंश भाषा और प्राचीन हिंदी—सिद्ध-साधकों का काव्य—जैनाचार्यों का काव्य—रासो-ग्रन्थ उपसंहार।

२. पूर्व मध्ययुग (१२००—१५००) २२–५७

पृष्ठभूमि—पूर्व मध्य युगीन काव्य की भाषा—काव्य-शैलियाँ—गोरखनाथ और 'नाथ' कवि—रामानन्द और कबीर—विद्यापति—खुसरो और अन्य मुसलमान कवि।

३. उत्तर मध्ययुग (१५००—१८००) ५८–१०३

पृष्ठभूमि—काव्य-भाषाओं और शैलियों का विकास—सूफी काव्य-धारा—संत-काव्य-धारा का विकास—कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदाय और कृष्ण-काव्य—सूरदास—राम-भक्ति-धारा और तुलसीदास—चारण-काव्य और वीर रस की रचनाएँ—हिंदी भाषा और साहित्य का विकास—उत्तर मध्ययुग के काव्य पर विहंगम दृष्टि—उसका सांस्कृतिक महत्त्व—रीति धारा—रीति धारा का पूर्व पर।

४. नवयुग (१८०० –) १०४–२४०

पृष्ठभूमि—नया-पुराना—कवियों और साहित्यकारों की नई संवेदनाएँ।

(१) कविता १२३

काव्य-भाषा और शैलियों का विकास—काव्य-विषय—आधुनिक कविता का विकास-क्रम।

(२) गद्य १४८
भाषा और शैली का क्रमिक विकास—प्रमुख शैलीकार ।

(३) उपन्यास १६६
ऐयारी तिलिस्मी उपन्यास—जासूसी उपन्यास ।

(४) कहानी १८६
(क) निबन्ध—निबन्धों की दो प्रधान श्रेणियां—(ख) आलोचना और काव्य-चर्चा ।

(५) निबन्ध, आलोचना और साहित्य का इतिहास १९६

(६) नाटक २१७

५. उपसंहार २३५—२४०

काल की दृष्टि से युग-विभाजन इस प्रकार है—

(१) आदि युग—७०० ई० से १२०० ई० तक
(२) पूर्व मध्ययुग—१२०० ई० से १५०० ई० तक
(३) उत्तर मध्ययुग—१५०० ई० से १८०० ई० तक
(४) नवयुग—१८०० ई० के बाद

: १ :

आदि युग

(७०० ई० — १२०० ई०)

पृष्ठभूमि—७०० ई० से १२०० ई० तक ५०० वर्ष हुए। ५०० वर्ष का समय कुछ थोड़ा समय नहीं है और इतने लम्बे काल की सांस्कृतिक प्रवृत्तियों की विवेचना करना सरल नहीं है। इतिहासविद् इस काल को राजपूत-काल कहते हैं। राजपूत इस समय की सबसे बड़ी राजनैतिक शक्ति थे। ६५७ ई० में हर्ष की मृत्यु के बाद एकच्छत्र सम्राट् की परम्परा का लोप हो गया। अनेक छोटे-छोटे राज्य उठ खड़े हुए। इन राज्यों के शासक राजपूत थे और सूर्यवंशी-चंद्रवंशी राजाओं से अपना संबंध स्थापित करते थे। परन्तु विद्वानों का मत है कि ये उन विदेशियों की संतान थे जो पहली शताब्दी ईस्वी से पाँचवीं-छठी शताब्दी तक इस देश में उत्तर-पश्चिम और पश्चिम के मार्गों से आकर बस गये थे। हूण, कुषाण और शक आदि विदेशी जातियाँ ही बाद में जाट, आभीर, राजपूत और अन्य अनेक नामों से प्रसिद्ध हुईं और कालांतर में इन्होंने भारतीय इतिहास में महत्व-पूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया।

सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हम मगध के मुखारी और गुप्त शासकों को राजनैतिक शक्ति की प्राप्ति के लिए झगड़ते देखते हैं। इसी समय अरब में एक नई धार्मिक और राजनैतिक शक्ति का उदय हुआ। यह शक्ति मुसलमानों की थी। आठवीं शताब्दी में इस शक्ति का परिचय

भारतवर्ष को हो गया था, परन्तु हिन्दी प्रदेश में यह नवीन मुसलमान शक्ति १३ वीं शताब्दी में आई। ७११ ई० में मुहम्मद बिन क़ासिम ने आलोर पर विजय प्राप्त की और अगले ही वर्ष (७१२ ई०) में मुलतान सूफ़ी सन्तों का अड्डा बन गया।

इस समय उत्तरी-भारत में अनेक राजपूत राजा थे और भारत की राजनैतिक शक्ति अनेक केन्द्रों में बँट गई थी। इन राजाओं मे परस्पर स्पर्द्धा चलती और ज़रा-ज़रा सी बात पर बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हो जातीं। हर्ष की राजधानी कन्नौज थी और कन्नौज की राजपूत-शक्ति सबसे महत्वपूर्ण मानी जाती थी। ८ वीं शताब्दी में यशोवर्मदेव कन्नौज का राजा था। भवभूति इसी के राजकवि थे। नवीं शताब्दी के मध्य में कोई केन्द्रीय शक्ति नहीं रह गई थी और सारा देश भिन्न-भिन्न राजवंशों में बँट गया था। ७३६ ई० में दिल्ली में तोमरवंश की नींव पड़ी। अनंगपाल इस वंश का पहला राजा था। ११५१ ई० में अन्तिम तोमरराज अनंगपाल के समय में अजमेर के चौहानराज वीसलदेव ने दिल्ली पर चढ़ाई की। अनंगपाल ने अपनी लड़की वीसलदेव के पुत्र सोमेश्वर को विवाह दी। प्रसिद्ध पृथ्वीराज (रायपिथौरा) इन्हीं सोमेश्वर के पुत्र थे। पृथ्वीराज के समय में दिल्ली और अजमेर दोनों पर चौहान राज्य करते थे। इस समय मुसलमान राज्य लाहौर पर शासन कर रहा था। अतः पृथ्वीराज को ही मुसलमानों से मोर्चा लेना पड़ा।

उत्तर-पश्चिम भारत में सिन्ध के उस पार पहला मुसलमान राज्य सुबुक्तगीन के समय (९७७ ई०) में स्थापित हुआ। उस समय पालवंश पंजाब पर शासन करता था और लगभग ५० वर्षों (१०२३ ई०) तक इस देश ने मुसलमानों से मोर्चा लिया। इसी वर्ष कन्नौज पर महमूद ग़ज़नवी ने आक्रमण किया। १०२३ ई० से ११८६ ई० तक लाहौर पर ग़ज़नवी वंश का शासन रहा। फिर इस वर्ष ग़ौरीवंश आया। ११९१ ई० की नारायण की लड़ाई में पृथ्वीराज ने मुहम्मद ग़ौरी को हरा दिया। परन्तु दो वर्ष बाद (११९३ ई०) तलावड़ी की लड़ाई में वह परास्त हुए।

अगले कुछ वर्षों मे सारा उत्तर-भारत मुसलमानों द्वारा विजित हुआ। कन्नौज (११९४), अवध और उत्तर-बिहार (११९७), गौड़ और नवद्वीप (११९९)। इस प्रकार १२ वीं शताब्दि का अन्त होते-होते उत्तर-भारत अपनी स्वतन्त्रता खो चुका था।

मुसलमानों की विजय के समय उत्तर-भारत में अन्य महत्वपूर्ण शक्तियाँ चंदेलों और परमारों की थीं। पृथ्वीराज के समय परमार्दिदेव (परमाल) चंदेलाराय थे। अकबर के समय तक चंदेल स्वतन्त्र रहे। मालवा के परमारों में सबसे प्रसिद्ध नाम मुंज (९९३ ई०) और भोज (१०४२ ई०) का है। १२९७ ई० तक मालवा स्वतन्त्र रहा और धार हिन्दू संस्कृति का केन्द्र बना रहा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आदि युग को हम राजनैतिक दृष्टि से दो भागों में बाँट सकते हैं: (१) ७०० ई०-१२०० ई० और (२) १२०० ई०-१४०० ई०। ७०० ई० से १२०० ई० तक देश स्वतन्त्र रहा और राजपूत सभ्यता और संस्कृति का विकास होता रहा। १२०६ ई० में ग़ुलाम वंश का पहला शासक कुतुबुद्दीन दिल्ली के तख्त पर बैठा। शेष काल में ग़ुलाम वंश (१२०६—१२९०), ख़िलजी वंश (१२९०—१३२०) और तुग़लक वंश (१३२०—१४१२) दिल्ली के सिंहासन पर रहे। इस समय में सारे राजपूताना और मध्यदेश (बुन्देलखंड) को छोड़कर शेष हिंदी प्रदेश विदेशियों द्वारा शासित रहा।

७०० ई० से १२०० ई० तक बौद्ध धर्म, जैन धर्म और ब्राह्मण धर्म ही भारतीय जनता के रंगमंच पर रहे। इस युग के साहित्य में इन तीनों धर्मों का ही प्रतिबिम्ब मिलता है। सिद्ध काव्य बौद्ध धर्म, जैन अपभ्रंश काव्य जैनधर्म और चारण काव्य ब्राह्मण धर्म की ध्वजा लेकर ही आगे बढ़ते हैं। बौद्ध धर्म के केन्द्र मगध, नैपाल की तराई और पूर्वी हिंदी प्रदेश थे। हिंदी साहित्य में इसका जो रूप सुरक्षित है, वह वज्रयान (८०० ई०—१२०० ई०) कहलाता है। इस समय बौद्ध धर्म तिब्बत में विशेष रूप से फैला और अनेक आचार्य और सिद्ध तिब्बत, नैपाल या भूटान (भोट प्रदेश)

से सम्बन्धित हैं। ११९७ ई० में बख्तियार खिलजी ने बौद्धों के केन्द्र नालंदा को भूमिसात कर दिया और कुछ ही वर्षों बाद भारत में बौद्धधर्म के चिन्ह भी नष्ट हो गए।

जैनधर्म का केन्द्र राजस्थान, गुजरात और दक्षिण भारत था। चौल राजाओं के समय (४००ई०—७५२ ई०) में दक्षिण में शैव और वैष्णव मतों का विशेष प्रचार हुआ और जैनधर्म क्षीण होकर गुजरात, राजस्थान और मालवा तक सीमित रह गया। जैन साहित्य इन्हीं प्रदेशों से आया।

परन्तु इन ५०० वर्षों के इस लम्बे समय में सारे भारत में शैव और वैष्णव मतों का अत्यन्त तीव्र गति से उत्थान हुआ। पल्लव (पहली शताब्दी ईस्वी—११वीं शताब्दी), चालुक्यों (४०० ई०—७५२ ई०) और राष्ट्रकूटों (८वीं शताब्दी—१२वीं शताब्दी का अन्त) ने इन नये मतों के विकास में विशेष भाग लिया। १३वीं शताब्दी में यादवों ने ब्राह्मण मतवाद को बहुत बल दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि पहली शताब्दी से १३वीं शताब्दी के अंत तक दक्षिण शैव और ब्राह्मण धर्मों का केन्द्र रहा। उत्तर भारत में बौद्धों के वज्रयान के विरोध में शैव मतवाद का प्रचार गोरखनाथ (१०वीं शताब्दी) ने किया और कदाचित् इसी समय शंकराचार्य ने वैदिक कर्मकांडी धर्म और शैव-वैष्णव भक्ति की उत्तर में प्रतिष्ठा की। उत्तर भारत में जो राजपूत वंश स्थापित हुए उनमें से कुछ दक्षिण से आये थे और उनमें ये मतवाद विशेष रूप से लोकप्रिय हुए। जोधपुर के राठौर राष्ट्रकूट हैं। ११वीं शताब्दी के कन्नौज का प्रसिद्ध राठौर राजवंश दक्षिण के राष्ट्रकूटों की ही शाखा थी। राष्ट्रकूट शिव और विष्णु के उपासक थे। इलौरा की गुफायें उनके धर्म-सम्बन्धी उत्साह की प्रतीक हैं। ११वीं शताब्दी के अंत में बंगाल में नवद्वीप में कर्नाटकी सामंतसेन ने एक राज्य स्थापित किया और बाद में इसी दक्षिणी वंश ने मिथिला पर शासन किया। इस प्रकार गौड़, नवद्वीप और मिथिला में ब्राह्मण धर्म की जो प्रगति हुई उसका सारा श्रेय दक्षिण को है। इस प्रकार ७०० ई० से १२०० ई० तक के समय को हम दक्षिण के शैव

और ब्राह्मण धर्मों की उत्तर विजय का समय कह सकते हैं। हिंदी साहित्य में इस विजय का इतिहास स्पष्ट नहीं मिलता। हाँ, चारण-साहित्य में शैव और वैष्णव भावना के विषय में कोई मतभेद नहीं हो सकता और नाथ-साहित्य शैवाद्वैत का ही प्रचारक है। इस सारे युग में हमें कई बड़े-बड़े व्यक्तित्वशाली धर्म-प्रवर्तक, पण्डित और दार्शनिक मिलते हैं—शंकराचार्य (९वीं शताब्दी), गोरखनाथ (१०वीं शताब्दी), रामानुज (१०१७—११२०), निम्बार्क (१२वीं शताब्दी), मध्व (ज० १२३७) और रामानंद (१२९९—१४९९)। ज्ञानेश्वर (१२वीं शताब्दी), नामदेव (ज० १२५० ई०) और रामानंद के शिष्यों ने इस धारा को नया जन-सुगम्य रूप दिया। इन शिष्यों में सब से प्रसिद्ध कबीरदास (१३९९—१५१८) हैं।

यह स्पष्ट है कि धार्मिक आन्दोलनों की दृष्टि से यह युग अत्यंत महत्वपूर्ण था। १२०० ई० में उत्तर भारत में मुसलमान शक्ति की जड़ जम गई, परन्तु धार्मिक आन्दोलनों की प्रगति कम नहीं हुई। अगले दो सौ वर्षों में दक्षिण का वैष्णव-धर्म नये संस्कारों के साथ उत्तर में घर-घर में प्रवेश कर गया। इस धार्मिक आन्दोलन में दक्षिण का क्या महत्त्व है, इसका पता इसी से लगता है कि शंकराचार्य चालुक्यों से सम्बन्धित हैं और रामानुज यादवों से। भागवतकार का हमें पता नहीं मिलता, परन्तु भागवत शैली में ही 'लघु भागवतामृत' के रचयिता बोपदेव देवगिरि के यादवों के आश्रय में रहते थे। संभव है, कृष्ण कथा के विकास एवं प्रचार में यादवों का विशेष हाथ हो। गौड़राज राजा लक्ष्मणसेन (११६८ ई०—११९९ ई०) के समय में ही जयदेव ने 'गीत-गोविन्दम्' की रचना की। इन रचनाओं ने ही परवर्ती-कृष्णोपासना और वैष्णवधर्म की रूपरेखाएं स्थिर कीं। अतः उनके ऋण को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

१२०० ई० तक शासक धर्म के रूप में इस्लाम का प्रवेश नहीं हुआ था, परन्तु हिंदी प्रदेश सूफ़ी साधकों और पीरों से परिचित हो चुका था। शेष दो सौ वर्षों में इस्लामी धर्म का प्रचार हुआ और सूफ़ी साहित्य के रूप में प्रचारात्मक और भावात्मक गद्य और पद्य हिन्दी में आया।

सामाजिक जीवन और संस्कृति की दृष्टि से भी इन सात सौ वर्षों में महान परिवर्तन हुए। बौद्ध धर्म के उत्कर्ष के समय वर्णाश्रम की संस्था शिथिल हो गई थी। ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान ने उसे पुनर्जीवित कर दिया। अबकी बार यह संस्था और भी कड़ी, और भी जड़ होगई। यह युग विशेषतः क्षत्रियों और ब्राह्मणों की प्रधानता का युग था और शूद्र उपेक्षित और अस्पृश्य माने जाने लगे थे। स्वेन चाँग ने अनेक शूद्र और अस्पृश्य जातियों का वर्णन किया है जो अधिकतः नगर के बाहर रहती थीं। इस प्रकार सामाजिक वैषम्य की नींव दृढ़ होगई। नये धर्म (इस्लाम) में यह असंतुष्ट अछूत वर्ण ही पहले दीक्षित हुआ। जान पड़ता है, कमकर हीन समझे जाने लगे थे और उन्होंने असंतुष्ट हो बड़ी संख्या में संस्थाबद्ध हो इस्लाम क़बूल कर लिया। सारे भारतवर्ष के जुलाहे इसी समय मुसलमान होगये। इस प्रकार इस युग में ब्राह्मणों की वर्ण-संस्था ने जड़ होकर हिन्दुस्तान के पतन का मार्ग खोल दिया। इस समय सारा भारतवर्ष रक्त-गर्व से दूषित था। पिछले युग में विदेशियों द्वारा जो रक्त-मिश्रण हो गया था, उसे स्वीकार कर लिया गया, परंतु नये सम्मिश्रण की गुञ्जाइश नहीं रही।

सारे समाज पर ब्राह्मणों का आधिपत्य स्थापित हो गया था। व्यवस्थापक के रूप में उनकी सत्ता सर्वमान्य थी। कल्पसूत्र और स्मृतियाँ ब्राह्मणों ने ही लिखीं, परन्तु वही राजनियम होगईं। वास्तव में इस युग में ब्राह्मणों के आचार-विचार अत्यंत उच्च थे। सारे हिन्दू समाज को वही एक सूत्र में बाँधे हुए थे। धर्म, समाज और राज-व्यवस्था तीनों में वही सर्वोच्च थे। अतः क्षत्रियों द्वारा शासित होते हुए भी वास्तव में समाज ब्राह्मणों द्वारा शासित था और धन और शस्त्र के ऊपर शास्त्र की महत्ता स्थापित थी। कालांतर में वर्ण-व्यवस्था जटिल होती गई। हीन वर्णों में असंतोष बढ़ता गया और ब्राह्मण ऊंचे आदर्श से नीचे गिर गये। राजसूय और अश्वमेध और तीर्थयात्राओं एवं पूजा-उत्सवों का आयोजन कर श्रमणों ने सारे समाज को एक-सूत्र में बाँधा। परन्तु बौद्ध

धर्म के ह्रास के बाद बौद्ध ब्राह्मणों और जैन-गच्छों के स्थान पर दण्डियों (संन्यासियों) के दल उठ खड़े हुए। कुम्भ-जैसे बड़े-बड़े मेलों का आयोजन इन्हीं संन्यासियों और परिव्राजकों ने किया। कभी-कभी ब्राह्मणों और संन्यासियों से स्पर्द्धा चलती। इसके कारण देश की शक्ति का ह्रास होता फिर ब्राह्मणों ने वर्णाश्रम-संस्था को बहुत विकसित किया और साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में यह युग केवल गुप्तकाल के बाद आता है। इस युग के विशाल वाङ्मय के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश की जीवंत परंपराएँ अभी भी कुण्ठित नहीं हुई थीं और धर्म, दर्शन, साहित्य चिंतन और कृतित्व के क्षेत्र में भारतीय मेधा किसीभी देश और जाति की मेधा से निम्नतर नहीं थी। इसमें संदेह नहीं कि उस युग की सारी चेष्टाएं साहित्य में उभर नहीं पाई हैं—बहुत कुछ बाहर रह गया है—परन्तु जिस युग ने नागार्जुन, शंकराचार्य, रामानुज, सरहपा, हर्ष, बाण, भवभूति, आनन्दवर्द्धनाचार्य और गोरखनाथ जैसे कृती उत्पन्न किये वह सदैव मूर्धाभिषिक्त रहेगा। इसी युग में बौद्धधर्म, दर्शन, साधना और आचार-विचार हिन्दू-रूप धारण करके हमारे सामने आये और परवर्ती युगों की धार्मिक, दार्शनिक और साहित्यिक धाराओं की जड़ें इसी युग में बहुत नीचे गढ़ी हैं।

सन्धि युग—एक तरह से ७०० ई० से १२०० ई० तक के लम्बे काल को हम संधि युग कह सकते हैं। संस्कृति, साहित्य, धर्म और दर्शन लगभग सभी क्षेत्रों में एक प्रकार का समन्वय हमें इस युग में मिलता है। पिछले पांच-छः सौ वर्षों में उत्तर-पश्चिम के मार्ग से देश में अनेक विदेशी जातियां आ गई थीं। गुर्जर, आभीर, हूण, जाट, पुलिंद आदि जातियों ने पश्चिमी भारत की सांस्कृतिक भित्ति में महान परिवर्तन कर दिया। पुराणों में इन नवागुन्तकों का स्पष्ट उल्लेख है और वायु, हरिवंश, मत्स्य और मार्कण्डेय जैसे पुराणों में तो कदाचित् इन विदेशी जातियों की कितनी ही जनश्रुतियाँ समाविष्ट हो गई हैं। यह सारा युग बौद्ध विचारा-

वली, संस्कृति और साधना के स्थान पर हिन्दू वैष्णव और शैव विचारावली, संस्कृति और साधना की पुनर्स्थापना का युग है। हर्ष के समय का विस्तृत वर्णन हमें ह्वेनचाँग की भारत-यात्रा में मिलता है। उससे यह स्पष्ट है कि उत्तर-पश्चिमी और पश्चिमी भारत में भक्तिप्रवण और चैत्य (मूर्ति) पूजक महायान धर्म का प्राबल्य था और पूर्वी हिंदी प्रदेश और दक्षिण-भारत में शून्यवादी सन्यास-प्रधान ज्ञानमूलक हीनयान की महत्ता अधिक थी। पश्चिम में काश्मीर और शौरसेन प्रदेश (मथुरा आदि) महायान के केन्द्र थे और पूर्व में नालंदा-विक्रमशिला। यह स्पष्ट है कि परवर्ती युग में हमें पूर्वी प्रदेशों में संत मत और सूफी मत की प्रधानता मिलती है और पश्चिमी शौरसेनी प्रदेश वैष्णव भक्ति-भावना का केन्द्र बन जाता है। यह परिवर्तन एक दिन की वस्तु नहीं है। संधि युग का पूरा समय इसमें लग जाता है। ७०० ई० से १००० ई० तक नेतृत्व बौद्धों के हाथ में है, परन्तु इसके बाद शैव, नाथों और वैष्णवों का प्रादुर्भाव होता है। शंकराचार्य (७८८—८३२) और गोरखनाथ (१०१५ के लगभग) शैव-भक्ति और योग-साधना के प्रतीक-पुरुष के रूप में हमारे सामने आते हैं। इसी समय के लगभग रामानुज (ज० १०१७ ई०) का जन्म होता है और उनके द्वारा वैष्णव भाव को विशेष महत्ता मिलने लगती है। परवर्ती युग में हम विष्णु लक्ष्मी की अर्चना सीताराम और राधाकृष्ण के युग्मों को ही विशेष रूप से प्रतिष्ठित पाते हैं। जहाँ तक संस्कृति का सम्बन्ध है, बौद्ध, जैन और हिंदू संस्कृति में कोई अंतर नहीं है। वे एक ही भारतीय संस्कृति के तीन स्पंदन-मात्र हैं।

इस युग में हिंदी प्रदेश संस्कृत-साहित्य-रचना का केन्द्र था। केवल सीमाओं पर प्राकृत और अपभ्रंश की रचनायें चल रही थीं। इस युग का संस्कृत साहित्य एक तरह से गुप्त-युग के संस्कृत साहित्य का ही प्रसार है और उसी के आधार पर हम संस्कृत आचार्यों को साहित्यशास्त्र-संबंधी मानदंड खड़ा करते पाते हैं। महाकाव्य, खंडकाव्य, गीतिकाव्य, नाटक और मुक्तक के क्षेत्र में संस्कृत साहित्य में जो सामग्री हमें प्राप्त है, उसका

अधिकांश ७०० ई० के बाद ही आया है। अंतर यह है कि इस परवर्ती साहित्य में हमें वह सौंदर्य-दृष्टि, वह रसानुभूति, वह दृष्टिकोण-सम्बन्धी स्वस्थता नहीं मिलती जो गुप्त-युग में प्राप्त थी। रससिद्ध कवि कालिदास का स्थान चमत्कारप्रिय माघ ने ले लिया है और पुराण-कथाओं एवं टीका-ग्रंथों और निबंधों की बाढ़ आ गई है। यह क्षोभ का विषय है कि हिंदी-प्रदेश में रूढ़िवाद को विशेष प्रश्रय मिला और इसी से नई भावनायें और नई साहित्यधाराओं का प्रारम्भ सीमांतों और इतर प्रदेशों में होता है।

धर्म के क्षेत्र में समन्वय की बात हमने अभी कही है। आज हमें यह आश्चर्य होता है कि ह्वेनचाँग के समय का बौद्ध भारत १००० ई० के पास पहुँचते पहुँचते कैसे एकदम लुप्त हो जाता है परन्तु उस समय हिंदू और बौद्ध धार्मिक भावनाओं और कृत्यों में विशेष अंतर नहीं रह गया था और समसामयिकों को बौद्ध धर्म के हिंदू धर्म में समाहृत होने की प्रक्रिया किंचित्मात्र भी अस्वाभाविक नहीं लगी होगी। दर्शन के क्षेत्र में यह प्रक्रिया कुछ प्रच्छन्न रही परन्तु यह स्पष्ट है कि वज्रयानियों का शून्यवाद ही शंकर का अद्वैत और मायावाद बन गया है। वस्तुतः अद्वैतदर्शन में बौद्ध चिंता का एक बड़ा भाग आ जाता है और इसीलिए शंकराचार्य के विरोधियों ने उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा था। परन्तु इस समन्वय और ग्रहण के बिना वैष्णव आंदोलन की पराजय निश्चित थी।

अपभ्रंश भाषा और प्राचीन हिन्दी—हिन्दी साहित्य के इतिहासकार के लिए यह आवश्यक है कि वह अपभ्रंश और प्राचीन हिन्दी के बीच की सीमा-रेखा स्पष्ट रूप से निर्धारित कर सके। इसमें सन्देह नहीं कि किसी समय अपभ्रंश लोकभाषा के रूप में चल रही थी। पंतजलि के महाभाष्य (१५० ई० पू०) में स्पष्ट रूप से 'अपभ्रंश' शब्द आया है परन्तु वहां वह भाषा-विशेष के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है। भरत के नाट्यशास्त्र (२०० ई०) में प्राकृत और संस्कृत के साथ देशभाषाओं की भी चर्चा है और आभीरी, शाबरी और द्राविड़ी का स्पष्ट रूप से निर्देश है।

बाद के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि आभीरी से अपभ्रंश का ही निर्देश है। परन्तु वल्लभी धारासेन द्वितीय ने एक शिलालेख में अपने पिता गुहसेन (५५६—५३६) का उल्लेख करते हुए उन्हें स्पष्टतयः संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषात्रय की रचना में निपुण बताया है। इसके बाद 'काव्यादर्श' में दंडी (६०० ई०) का उल्लेख है जिसमें आभीरादिकों की भाषा को अपभ्रंश कहा है और उसके काव्य-रचना में प्रयोग का भी उल्लेख किया है। 'काव्यालंकार' में भामह (६५० ई०) ने उसमें गद्य-पद्य रचना का उल्लेख करते हुए उसे साहित्य-क्षेत्र में संस्कृत और प्राकृत के समकक्ष स्थापित कर दिया है। उद्भट (काव्यालंकार, ६०० ई०) से हमें यह भी ज्ञात हो जाता है कि देश-भेद के आधार पर अपभ्रंश के भी कई भेद थे। मागधी, पैशाची और शौरसेनी का तो स्पष्ट ही उल्लेख है। इस समय के लगभग ही राजशेखर ने उसे काव्यपुरुष का जघन अंग बतलाया है। संस्कृत मुख है, प्राकृत बाहु और पैशाची चरण प्रदेश। उसके अनुसार मारवाड़ और सौराष्ट्र की जनभाषा अपभ्रंश ही थी। मध्यदेश के कवि भी इस भाषा में निपुण थे—परिचारक वर्ग मुख्य रूप से अपभ्रंशविद् था। भोज (१००० ई०) ने अपभ्रंश को गुर्जर-भाषा कहा है। कदाचित् उस युग में एक विचारधारा यह भी चल रही थी कि अपभ्रंश प्राकृत का ही विकास, वस्तुतः प्राकृत ही है। नेमिसाधु (१०६६ ई०) ने उपनागर, आभीर और ग्राम्य-प्राकृत भेद दिये हैं और प्राकृत को ही अपभ्रंश कहा है।

ऊपर जो कहा गया है उससे स्पष्ट है कि ५०० ई० के लगभग अपभ्रंश प्राकृत से भिन्न एक स्वतन्त्र काव्य-भाषा मानी जाती थी। कदाचित् आभीरी उसका जन-रूप या लोकभाषा-रूप रहा होगा। गुर्जर-आभीर प्रदेश शौरसेन प्रदेश से लाट तक फैला था। अंतः शौरसेन प्रदेश, मारवाड़ और गुर्जरराष्ट्र (गुजरात) में इस भाषा की मान्यता अधिक थी। पूर्वी प्रदेश में हमें सिद्ध साधकों और विद्यापति की रचनाओं में अपभ्रंश के दर्शन होते हैं। विद्यापति ने जिसे 'अवहट्ट' और 'देसिल

बअना' (देश-भाषा) कहा है, वह अपभ्रंश से भिन्न कोई अन्य चीज़ नहीं है। कुछ विद्वानों का कहना है कि ६०० ई० से १००० ई० तक आसाम से लेकर गुजरात तक एक विशिष्ट काव्य-भाषा का प्रयोग हो रहा था और यही अपभ्रंश भाषा कही जा सकती है। परन्तु कुछ अन्य विद्वान इस सम्पूर्ण प्रदेश में कई अपभ्रंश भाषाओं की कल्पना करते हैं जिनमें मागधी और शौरसेनी प्रमुख थीं। अपभ्रंश के साहित्यिक रूप को वे 'महाराष्ट्री' कहते हैं। जो हो, यह स्पष्ट है कि १०वीं शताब्दी तक प्राचीन हिंदी के रूप पूर्णतया विकसित नहीं हो सके थे और कम-से-कम साहित्य के रूप में जो हमें प्राप्त है वह अपभ्रंश ही है। १२०० ई० के बाद हमें निश्चित रूप से ऐसी रचनाएं मिलने लगती हैं जो प्राचीन हिंदी की रचनाएं कही जा सकती हैं। वस्तुतः १२०० ई० से १५०० ई० के साहित्य को हमें प्राचीन हिंदी साहित्य कहना होगा। यह हिंदी का आद्य-रूप है। जैन-साहित्य में हम अपभ्रंश को हिंदी के प्राचीन रूपों की ओर अग्रसर होते देखते हैं और उसमें भाषा-विकास का बड़ा सुन्दर चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हिंदी के इतिहास की दृष्टि से सम्पूर्ण अपभ्रंश साहित्य महत्वपूर्ण है। उसमें हिंदी तद्भव शब्द-कोष, हिंदी लोक-गाथा, हिंदी छंद और हिंदी काव्य-शैली की ऐसी निधि सुरक्षित है कि उसकी अपेक्षा असम्भव है। भाषा-विज्ञान, साहित्य और संस्कृति तीनों की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य हिंदी के ही साथ आता है।

सिद्ध-साधकों का काव्य—हिंदी का पूर्वी प्रदेश ऐसे साधकों का जन्मस्थान रहा है जिन्होंने वाह्य कर्मकांडों और प्रतीकोपासना को पीछे छोड़कर अरूप की पूजा की और अंतस्साधना पर बल दिया। इस प्रकार की विचारधारा हमें पहले उपनिषदों में मिलती है जिनका समय १००० ई० पूर्व से ७०० ई० पू० के लगभग स्थापित किया जाता है। इन ग्रंथों में जीव-ब्रह्म सम्बन्धी परवर्ती आर्यों की चिंता सुरक्षित है। ५०० ई० पूर्व के लगभग इसी प्रदेश में जैन और बौद्ध धार्मिक आंदो-

लनों का सूत्रपात हुआ। इन दोनों मतवादों का दृष्टिकोण भी नैतिक था और उनमें वाह्य कर्मकांडों, जातिभेद, वर्णाश्रम इत्यादि की नितांत उपेक्षा थी। बौद्धधर्म का प्रधान ग्रंथ 'धम्मपद' है। उसके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार-प्रधान होने पर भी बौद्धमत में अंतर-साधना को विशेष स्थान प्राप्त था। सिद्धसाधकों का सम्बन्ध बौद्धमत से ही है परंतु उनके पीछे बौद्धमत के विकास का लगभग १००० वर्षों का इतिहास था। उसके सूत्रों को फिर से स्थापित करना कुछ कठिन ही है, परंतु यह निश्चय है कि ये सिद्ध संत बौद्धमत की हीनयानी शाखा से सम्बन्धित थे जो अवतारी बुद्ध में विश्वास नहीं करती थी और जिसमें परवर्ती युगों में योग-सम्बन्धी विचारधारा का भी आश्लेष हो गया था। इन सिद्ध संतों के मतवाद को 'वज्रयान' भी कहते हैं। सिद्धों ने बुद्ध को 'वज्रसत्व' कहा है। वज्रसत्व की प्राप्ति का मार्ग ही 'वज्रयान' है।

जान पड़ता है यह धारा सरहपा (७६० ई०) से प्रारंभ हुई और लगभग १०५७ ई० तक चलती रही। इस धारा में ८४ सिद्धों के नाम लिये जाते हैं और उनमें से कितने ही सिद्धों का साहित्य भी हमें प्राप्त है परन्तु अधिक प्रसिद्ध हैं सरहपा, शवरपा, भुसुकपा (शांतिदेव), लुईपा, विरूपा, डारिकपा, गुंडरीपा, कुक्कुरीपा, कमरिपा, कण्हपा, टेंडणपा, महीपा, भादेपा, धामपा, तिलोपा, शांतिपा। इन सभी सिद्धों का संबंध नालंदा और विक्रमशिला के विद्यापीठों से रहा है। उन दिनों यह प्रदेश पालवंश (७५०—१०५७) के बौद्ध राजाओं के अधिकार था और उन्हीं के पतन के साथ बौद्धधर्म भी पतन को प्राप्त हुआ।

मध्ययुग की सभी क्रांतिवादी विचारधाराओं का आदि-स्रोत सिद्धों की कविता में मिल जाता है। इसमें ब्राह्मणों और उनके कर्मकांडों का विरोध और अंतस्साधना पर बल मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं। आदिसिद्ध सरहपा (७६० ई०) के शब्दों में—'उस भेद को ब्राह्मण भी नहीं जानते। यों ही कहते हैं कि चारों वेद पढ़ लिये। मिट्टी, पानी और कुश लेकर मंत्र पढ़ते हैं और इस प्रकार घर में बैठकर अग्नि को होमते हैं। व्यर्थ

आंखों को कड़वे धुएं में कष्ट देते हैं।' 'नंगे रहने से मुक्ति होती तो गीदड़ भी मुक्त हो जाते। चोटी बढ़ाने से जन मोक्ष पा जाते तो मोर भी मुक्ति पाता—उसके तो इतना बड़ा चमर है। उच्छिष्ट भोजन खाने से यदि मोक्ष हो जाती तो कितने पशु उच्छिष्ट खाते हैं।' 'तीर्थ और तपोवन जाने से क्या लाभ? पानी में नहाने से कहीं मोक्ष मिलती है।' इस प्रकार सभी बाह्याचारों, कर्मकांडों और कष्टसाधनाओं का विरोध इस विचारधारा की विशेषता है। सच तो यह है कि इन साधकों की दृष्टि अंतर्मुखी है। उनकी आभ्यंतरिक साधना केवल गुरु की अपेक्षा रखती है। शेष सारे साधन उसके लिए हेय है। सरह कहते हैं—'संकपास तोड़हु गुरु वअणे।' (गुरु के वचनों से शंका का पाश तोड़ो) परंतु वह तत्त्व मूलतः स्वयं-संवेद्य है—न शिष्य उसे पूंछ सकता है, न गुरु उसे सिखा सकता है। फिर भी 'गुरु के उपदेश का अमृत जिसने नहीं पिया, वह शास्त्र के मरुस्थल में प्यासा ही मर गया।' यह स्पष्ट है कि इस साधना में ज्ञानपक्ष की अपेक्षा हृदयपक्ष पर अधिक बल दिया गया है और गुरु का स्थान प्रमुख है यद्यपि अंततः साधक को अपनी स्वयंसंवेद्य आध्यात्मिक अनुभूति पर अवलंबित होना पड़ता है।

सिद्धों की आध्यात्मिक साधना कायानिष्ठ ईश्वर पर आधारित है और वह एक तरह से औपनैषदिक अद्वैत-साधना का ही विकास है। सिद्ध कवि और साधक काया (देह) के भीतर ही 'अमृत-तत्त्व' की खोज करते दिखाई देते हैं। सरह कहते हैं—'इसी काया में गंगा-जमुना हैं, यहीं गंगासागर है, यही प्रयाग-काशी, यहीं सूर्यचन्द्र। अनेक क्षेत्रों, पीठों-उपपीठों में घूमा, परंतु देह के समान तीर्थ मैंने कहीं नहीं देखा। इस कायातीर्थ में जाति-कुल, ब्रह्मा-विष्णु, लोक-परलोक सबका क्षय हो जाता है।' वह किसी अवतारी बुद्ध की कल्पना करने को तैयार नहीं हैं। वह कहते हैं—'पंडित लोग सब शास्त्र जानते हैं, परन्तु यह नहीं जानते कि देह में ही बुद्ध का वास है।' इस प्रकार सिद्धों की यह साधना मुख्यतः निर्गुण साधना है। वह कष्ट-कृच्छ्र साधनाओं की उपेक्षा करती है और

'सहज' मार्ग का अवलंबन करती है। ध्यान-धारणा, मंत्र-तंत्र में उसे अधिक विश्वास नहीं। वह मन, हृदय और व्यक्तित्व का संस्कार चाहती है। इसीलिए उसमें नैतिक तत्त्वों की प्रधानता है और वह मुख्यतः वैराग्य-मूलक है। वह इस संसार को मिथ्या मानती है। सरह इस जगत् को 'जलबिंबाकार' मानते हैं। भूसुकपा कहते हैं—यह जगत् अनादि अजन्मा है, प्रतिभास रूप से भ्रांति के कारण ही यह सत्य जान पड़ता है।' इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्धों की सगही कविता में हमें जहाँ दार्शनिक क्षेत्र में अद्वैत चिंता का पूर्ण विकास मिल जाता है, वहाँ साधना के क्षेत्र में योग-साधना और तांत्रिक निष्ठा का भी पूर्ण योग है। पूर्वी प्रदेशों में तांत्रिक विचारधारा और साधना की एक परम्परा प्रागैतिहासिक काल से चली आती है। धीरे-धीरे उसने बौद्ध, जैन और हिंदू तीनों मतवादों को प्रभावित किया। कदाचित् तांत्रिक-प्रभाव के कारण ही सिद्धों में कमल-कुलिश अर्थात् वाममार्ग की साधना का भी प्रवेश होगया। परंतु इसमें सन्देह नहीं कि इन कुछ अवांछित प्रकरणों को छोड़ देने पर सिद्धों की साधना भारतीय आध्यात्मिक साधना की ऐसी कड़ी है जो मध्ययुगीन संतसाधना को बौद्धों और नाथों (शैवों) की साधना से जोड़ती है।

इस साधना के सामाजिक पक्ष पर भी विचार करना अत्यावश्यक है। मध्ययुग की जातिभेद-वर्णाश्रम-विरोधी क्रांतिकारी विचारधारा का प्रारंभिक सूत्र हमें यहीं मिलता है। वस्तुतः उसका यही पक्ष उसे जनता में प्रिय और प्रभावशाली बनाने के लिए काफ़ी था। अधिकांश सिद्ध कवियों के काव्य में हम अद्वय वज्रसाधना, ब्राह्मणविरोध, वर्णाश्रमधर्म की कटु आलोचना और अंतस्साधना की रहस्यमयता के संबंध में एक ही तरह की बातें पाते हैं, परंतु शबरपा जैसे कुछ ऐसे साधक भी सामने आते हैं जिनका स्वर विशेषरूप से साधना का स्वर है। शबरपा ने अपने को 'उन्मत्त' कहा है। उन्होंने कहा है—'त्रिधातु की खाट पर शबर महासुख की सेज बिछा कर सोता है। वह कामकेलिचतुर शबर निरात्मा

नाम की सुन्दरी के साथ रात आनन्दपूर्वक बिताता है।' यह उसी प्रकार का उन्मनीभाव है जो हमें बाद में संतों की आत्मविस्मृति में दिखलाई पड़ता है। सिद्ध-संतों के विचित्र आचार-विचार, उनकी अद्भुत वेश-भूषा, उनकी प्रतीकवाणी, उनके केलि-रूपक, उनकी तीखी सामाजिक आलोचनाएँ और उनके ऐंद्रजालिक कूट गोरखनाथ और परवर्ती नाथों में होते हुए मध्ययुगीन संतों तक प्रसारित दिखलाई पड़ते हैं। उनकी परंपरा ७५० ई० से १८५० ई० तक बराबर चलती रही है। इसमें सन्देह नहीं कि इस विचारधारा में परस्पर नये-नये तत्त्वों का समावेश होता गया है और एक तरह से हमें निरन्तर दृष्टिकोण की अधिक से अधिक व्यापकता मिलती जाती है परंतु अनेक उपादान समानरूप से एक हैं और उनमें मूल रूप से कोई अंतर नहीं है।

साहित्य की अन्य भंगिमाओं की दृष्टि से भी यह साहित्य महत्वपूर्ण है। हिंदी का मात्रासंगीत अनेक जन-प्रथित राग-रागिनियों में बँधा हमें यहाँ पहली बार प्राप्त होता है। चर्यापदों में जिन अनेक राग-रागिनियों का उल्लेख है उनमें से कुछ तो अब लुप्त हो गई हैं, परन्तु दोहा-चौपाई छंद के अतिरिक्त विभिन्न राग-रागिनियों में गेय पदों की रचना की पहली पूर्वी-परम्परा हमें इन्हीं गीतों में मिलती है। कदाचित् जयदेव ने इन्हीं जनगीतों के प्रभाव को स्वीकार कर 'गीतगोविंदम्' में मात्रासंगीत के पद रखे और बाद में हम नाथों और संतों द्वारा योग-परक निर्गुण पदों और भावसम्पन्न गीतों की एक बहुत बड़ी परम्परा विकसित होती देखते हैं।

जैनाचार्यों का काव्य—इस समय राजस्थान, गुजरात और दक्षिण-भारत में जैनमत भली-भांति पल्लवित हो रहा था। १४वीं शताब्दी तक हमें अनेक जैन मुनियों और आचार्यों का काव्य प्राप्त होता है। इनमें देवसेन, महाकवि धवल, पुष्पदन्त, धनपाल, जिनवल्लभ सूरि, योगचंद्र मुनि, हेमचंद, सोमप्रभाचार्य, धर्मसूरि, विजयसेनसूरि और विनयचंद सूरि प्रमुख हैं। अधिकांश साहित्य गुजरात में रचा गया है और वह

नागर अपभ्रंश में हैं। यह सब कवि और साधक जैनियों के दिगम्बर समुदाय से सम्बन्धित है। इनके साहित्य में साम्प्रदायिक आचार-विचार की प्रधानता है और अधिकांश साहित्य तीर्थङ्करों की जीवनियों, श्रावकों के चित्रण, जैन जातक-कथाओं और ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरित्र तक सीमित है। परवर्ती भक्ति-काव्य में भी हमें इसी प्रकार की सामग्री मिलती है, मुख्यतः पश्चिमी हिंदी-प्रदेश के कृष्णकाव्य में। जैन-साहित्य मुक्तक और प्रबन्ध दोनों रूपों में हमारे सामने आता है और उसके छंदों और उसकी काव्य-शैलियों का मध्ययुगीन हिंदी-काव्य में व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है। जैनों ने अपभ्रंश साहित्य की रचना और उसकी सुरक्षा में सब से अधिक काम किया। उन्होंने देशभाषा का आश्रय लिया और संस्कृत की परम्परा छोड़कर उसी में कथा-साहित्य की सृष्टि की और स्वयंभू और पुष्पदंत जैसे अनमोल कवि हमें दिये। वस्तुतः जैन अपभ्रंश काव्य का आरम्भ राष्ट्रकूट (७५३-९७) और गुर्जर-सोलंकी (९६१–१२५७) राजाओं के आश्रय में ही हो गया था और बाद में भी दो सौ वर्षों तक उसकी परम्परा अबाधित रूप से चलती रही। उसे हम एक ओर प्राचीन गुर्जर काव्य और दूसरी ओर पुरानी हिंदी कविता में संबंधित कर सकते हैं।

कथा-काव्य की दृष्टि से अपभ्रंश कवियों में स्वयंभूदेव (७९० ई०) और पुष्पदंत (९५९—७२) विशेष महत्त्वपूर्ण है। स्वयंभू की तीन रचनाएं हमें प्राप्त हैं हरिवंशपुराण, पउमचरिउ (रामायण) और स्वयंभू छंद। इसमें पउम चरिउ विशेष महत्त्वपूर्ण है। तुलसीकृत रामायण की भांति यह रामायण चौपाई (पज्झड़िया) में है और आठ-आठ पंक्तियों (अर्धालियों) के बाद दोहा या किसी दूसरे छंद में धत्ता (विश्राम) मिलता है। काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से भी यह रचना महत्त्वपूर्ण है। पुष्पदंत की भी तीन कृतियां हैं महापुराण, जसहर चरित्र (यशोधर चरित) और णायकुमार चरिउ (नागकुमार चरित)। इनमें महापुराण के अंतर्गत हमें कृष्णकथा के भी दर्शन होते हैं। इन कवियों के बाद धनपाल (१००

ई०) का नाम आता है जिन्होंने भविसयत्त कहा (भविष्यदत्त कथा) की रचना की है। इस कथा में हमें कथानक और दृष्टिकोण की वह स्वच्छंदवादिता मिलती है जो हिंदी के सूफ़ी काव्यों में पल्लवित हुई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी चरितकाव्य और आख्यानक काव्य के बीज इस युग के अपभ्रंश काव्य में पूर्णरूप से मिल जाते हैं। इन आख्यानक काव्यों में हमें सामंती काव्य की ऐश्वर्यपूर्ण और विलासमय रूपरेखाएं स्पष्ट रूप से दिखलाई देती हैं। कनकामर मुनि (१०६० ई०) की एक रचना करकंडचरिउ भी इसी श्रेणी में आती है।

विचारधारा की दृष्टि से मुक्तक रचनाएँ और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें हमें निर्गुण विचारधारा के सभी सूत्र मिल जाते हैं। योगीन्द्र (१००० ई०) कहते हैं—'अनेक तीर्थों में घूमता है। मूर्ख, इस प्रकार मोक्ष प्राप्त नहीं होती। ज्ञान प्राप्त हुए बिना मुनि नहीं बन सकता। चेली-चेला और पोथी में जो सन्तुष्ट होते हैं वे मूर्ख हैं। मंदिर, देवता, शास्त्र, गुरु, तीर्थ, वेद, काव्य—ये सब कुसुमित वृक्ष की भांति दिखाई देते हैं। अंत में इन सब को ईंधन बनना है।' रामसिंह (१००० ई०) का कहना है—'बहुत पढ़ा परन्तु मूढ़ रहा। तालू सुखा लिया। एक अक्षर भी जिसने (प्रेम का) पढ़ लिया, वह शिवपुर पहुँच गया।' 'सिर को बार-बार मूंडा और मन को नहीं मूंडा। जिसने एक बार भी मन को मूंड लिया, उसने संसार का खण्डन कर लिया।' 'वही शिवशंकर-विष्णु है, वही रुद्र-बुद्ध, वही जिन-ईश्वर-ब्रह्म, वही अनन्त सिद्ध; वह परम निष्कल देव देह में ही निवास करता है। उसके लिए कोई भेद-भाव नहीं।'

केवल विचारधारा ही नहीं प्रकृति-वर्णन, बारह मासा और षटऋतु-वर्णन, चांचरी, कक्का (ककहरा, चौंतीसी) इत्यादि अनेक तत्त्वों के लिए मध्ययुगीन हिंदी काव्य जैन अपभ्रंश काव्य का ऋणी है। प्रारम्भिक हिंदी काव्य के विकास-क्रम के लिए उसका अध्ययन अनिवार्य है।

रासो-ग्रंथ—'रास' नाम की अनेक रचनाएँ हमें अपभ्रंश-काव्य में ही मिलती हैं जैसे संनेह रासअ (संदेशरासक। अब्दुर्रहमान, १०१०

ई०), बाहुबलि रास (शालिभद्र सूरि, ११८४ ई०), समररास (नंद-देव सूरि, १३१४ ई०), जंबूस्वामी रासा (धर्मसूरि १२०४) और रेवतगिरि रासा (विजयसेन सूरि, १२३१) । जिस अर्थ में यहाँ 'रास' शब्द का प्रयोग हुआ है, उससे इन्हें गीतात्मक चरितकाव्य या खंड-काव्य ही समझा जा सकता है । वस्तुतः प्रबंधात्मक और गीतात्मक दोनों प्रकार के रास-ग्रंथ हमें अपभ्रंश में ही मिल जाते हैं ।

राजस्थान के रासो-ग्रंथों में हम अपभ्रंश 'रासा' की परम्परा ही विकसित पाते हैं । सबसे प्राचीन रासो दलपति विजय (८१३ ई०–८४३ ई०) का 'खुमानरासो' है परन्तु इस ग्रंथ की जो प्रति प्राप्त हुई है उससे महाराणा प्रताप के समय तक का वर्णन है । अतः उसे किसी भी प्रकार प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता । जिसे हम निश्चित रूप से प्रामाणिक मान सकते हैं वह नरपति नल्ह का 'बीसलदेव रासो' है । हिंदी के विद्वान् इस रचना को १३ वीं शताब्दी में कहीं पर स्थान देते हैं, परन्तु बीकानेर के श्री गजराज ओझा ने एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति में १०७३ वि० (१०१६ ई०) रचनाकाल देखा है । शैली की दृष्टि से इसे प्रबंधात्मक गीतिकाव्य कहा जा सकता है और अपभ्रंश रचनाओं में यह 'संनेहरासअ' (अब्दुर्रहमान, १०१० ई०) और नेमिनाथ-चतुष्पादिका (विनयचंद्र सूरि, १२०० ई०) के समकक्ष रखा जा सकता है । पूर्वलिखित दोनों ग्रंथों की तरह उसकी प्रेरणा भी मूलतः शृङ्गारिक है और उसमें भी बारहमासे की शैली को ग्रहण कर वियोगिनी के हृदय की उथल-पुथल का चित्र अंकित किया गया है । कालिदास के समय से—कदाचित् और पहले से—प्रकृतिवर्णन के माध्यम से विरहानुभूति के प्रकाशन की यह शैली बराबर चली आती थी । लोकगीतों में आज भी यह शैली बहुत प्रिय है ।

इस परंपरा का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'पृथ्वीराज रासो' है जिसके लेखक चंदबरदाई हैं । इस बृहद् रचना में समयों (अध्यायों) में पृथ्वीराज चौहान के प्रेमप्रसंगों और शौर्यपूर्ण कृत्यों का वर्णन है ।

विद्वानों ने ग्रंथ की प्रामाणिकता पर अनेक प्रकार से संदेह किया है। ऐतिहासिक घटनाओं, ऐतिहासिक व्यक्तियों और तिथियों के निर्देश एवं भाषा-शैली की साक्षी से वह इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि यह ग्रंथ १६ वीं शताब्दी की रचना है और इसमें कदाचित् अनेक चारणों द्वारा उस समय तक चली आती चौहान-सम्बन्धी अनेक किंवदंतियों को लिपिबद्ध कर दिया गया है। परंतु फिर भी यह ग्रंथ ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है ही। १६ वीं शताब्दी तक हमें निश्चित रूप से अपने साहित्य में क्या मिलता है और जो मिलता है उसमें विद्यापति, सूर, जायसी और तुलसी को छोड़कर साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कितना है? आखेट, अपहरण, विवाह, विलास और युद्ध मध्ययुगीन सामंतीजीवन के पाँच महत्त्वपूर्ण चरण थे। इस ग्रंथ में हम उन्हें विशद रूप में पाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि मध्ययुग की राजपूत-संस्कृति की जैसी झांकी इस ग्रंथ में उतरी है वैसी अन्यत्र नहीं मिल सकती। अतिशयोक्ति से दूषित होने पर इसका साहित्यरस आज भी शुष्क नहीं हो पाया है। संभव है मूल ग्रंथ में 'कनवज्ज समयौ' और 'बड़ो युद्ध समयो' नाम के दो समय (अध्याय) रहे हों और बाद में चारणों ने अनेक विवाह-युद्ध प्रसंग जोड़कर ग्रंथ को आश्चर्यजनक रीति से पृथुल बना दिया हो। ये अपेक्षाकृत बड़े हैं और इनकी स्वतंत्र प्रतियाँ भी प्राप्त हैं। ग्रंथ में 'महोबा समयौ' नाम का एक प्रकरण भी है जिसमें चंदेलराय परमाल (परमार्द्रिदेव) और आल्हा-ऊदल के युद्धों का विवरण है। कदाचित् इसी समय की वार्ता अन्य चारणों द्वारा 'आल्हाखण्ड' में विकसित हुई है। आज जिस रूप में आल्हाखण्ड प्राप्त है वह १९ वीं शताब्दी से पहले नहीं जाता, परंतु रासो में उसकी कथावस्तु का लगभग ३०० वर्ष पुराना रूप तो हमें मिल ही जाता है।

'हम्मीर रासो' (शारङ्गधर, १३००) और 'विजयपाल रासो' (नल्लसिंह भट्ट, १२९८) नाम के दो अन्य रासो-ग्रंथों से भी हम परिचित हैं। परंतु पहली रचना के केवल कुछ ही उल्लेख हैं और

परवर्ती रचना में भाषा भेद पड़ा है। जो हो, उनका ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही।

उपसंहार—आदियुग (६००—१२००) के साहित्य के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि इस साहित्य का उपयोग मुख्यतः प्राचीन हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में ही हो सकता है। इसकी भाषा हिंदी के बहुत निकट होने पर भी हिंदी नहीं है, भले ही हम कल्पना की डोर को लंबी कर उसे 'प्राचीन हिंदी' कह लें जैसा चंद्रधर शर्मा गुलेरी आदि हिंदी विद्वानों ने किया है। इस समय के साहित्य के दो केन्द्र हैं। एक पूर्वी हिंदी प्रदेश के नालंदा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालय जहाँ कुछ आचार्यों ने मागधी अपभ्रंश (मगही) में वज्रगीतों की रचना की। ७५० ई० से १००० ई० तक इस केन्द्र से साहित्य की परम्परा चलती है। १०५७ ई० में दक्षिणी सामंत सामंतसेन नवद्वीप में एक नए राज्य की नींव डाल लेता है और कर्णाटकी प्रभाव के कारण इस प्रदेश में श्रीमद्भागवत द्वारा अनुप्राणित कृष्णभक्ति का बीजारोपण होता है जिसका सर्वश्रेष्ठ प्रकाशन हम जयदेव के गीतगोविंद (११६७ से पहले) में पाते हैं। दूसरा साहित्य केन्द्र अन्हलवाड़ था। उस समय तक मारवाड़ में हिन्दी का कोई केन्द्र विकसित नहीं हो पाया था और इसीलिए अन्हलवाड़ का अपभ्रंश साहित्य ही उस युग के राजस्थान को रससिक्त कर रहा था। सच तो यह है कि उस समय शौरसेन प्रदेश से गुर्जरभूमि तक संस्कृति और साहित्य की एक ही धारा बह रही थी। इसीलिए जिसे प्राचीन गुर्जरकाव्य कहा गया है, उसे ही हम जैन अपभ्रंशकाव्य के नाम से अभिहित कर हिंदी काव्य के आदि स्रोत के रूप में अध्ययन करते हैं। १२०० ई० से पहले मरुभूमि में डिंगल-भाषा की बहुत थोड़ी रचनाएं उपलब्ध होती हैं और जो रचनाएं आज उपलब्ध भी हैं उनमें अपभ्रंश के रूपों ने आधुनिक रूप ग्रहण कर लिया है—अधिकांश रचनाओं में १५वीं-१६वीं शताब्दी की भाषा ही प्राप्य है। 'रासो' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के सम्बन्ध में भी अभी हम संदिग्ध अवस्था में ही हैं।

परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि १००० ई० के आस पास हिंदी के स्वतंत्र काव्यरूप भी विकसित हो रहे थे। परवर्ती सिद्धों और जैन कवियों की रचना में उस युग की लोक-भाषा की झलक मिलती है जो काव्य-प्रयुक्त अपभ्रंश से भिन्न है। इसके अतिरिक्त प्रारम्भिक सूफी कवियों के अटपटे गद्य-पद्य और नाथों की रचनाओं में भी हम हिंदी की लोक-परम्परा का प्रकाश पाते हैं। गोरखनाथ की अनेक रचनाएं हमें उपलब्ध हैं और यद्यपि मौखिक रूप से चले आने के कारण हम उनमें आदि युग की अति प्राचीन हिंदी के दर्शन पाने की सम्भावना नहीं करते परन्तु यह स्पष्ट है कि उन रचनाओं का स्वर हिंदी का स्वर है। गोरखनाथ के समय के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है और उन्हें ८५० ई० से १४०० ई० तक कहीं-न-कहीं रखने का प्रयत्न किया गया है। बौद्ध परम्परा उन्हें ९वीं शताब्दी में रखती है तो महाराष्ट्र-परम्परा उन्हें १२०७ ई० से लगभग जीवित बतलाती है। अन्य परम्पराओं और किंवदंतियों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि १२०० ई० के बहुत पहले ही हिंदी भाषा का निर्माण हो चुका था और कदाचित् काव्य-रचना भी पर्याप्त मात्रा में हो चुकी थी। इस काव्य-रचना का सम्बन्ध हिंदी के पश्चिमी प्रदेश से है और इसकी भाषा में हमें हरियानी (अहीरी अर्थात् आभीरी), कुरु-पांचाली (प्राचीन खड़ी या हिंदवी), शौरसेनी (ब्रज) और राजस्थानी (डिंगल) के मिश्रित रूप मिलते हैं। गोरखनाथ के पूर्वी पर्यटन के कारण मगही और अवधी-भोजपुरी के भी अनेक रूप इस भाषा में आगये हैं। इसे हमें ११वीं-१२वीं शताब्दी की जन भाषा का सर्व-सामान्य रूप समझना होगा। बाद में नामदेव, रामानंद, कबीर और सूफी (हिंदवी) कवियों की रचना में यह रूप विशेष विकास को प्राप्त हुआ। १५०० ई० बाद हमें सभी जनपदीय भाषाओं के विकसित साहित्य मिलने लगते हैं।

: २ :

पूर्वमध्य युग

(१२०० ई०—१५०० ई०)

पृष्ठभूमि—पूर्वमध्य युग को राजनैतिक दृष्टि से बहुत कुछ अराजकता का युग कहा जा सकता है। १२०० ई० तक मुसलमानों ने पंजाब से बंगाल तक का सारा भूप्रदेश हस्तगत कर लिया था परन्तु मुसलमानों के आने से पहले भी इस प्रदेश में अनेक राज्य थे और संपूर्ण महादेश पर एकच्छत्र शासन करना उन दिनों बड़ा कठिन काम था। फलतः इस सारे लम्बे काल में इस्लामी राज्य दिल्ली और उसके आस-पास के प्रदेशों तक सीमित रहा और शासन के लिए अनेक कुचक्र चलते रहे। भारतीय ग्रामों की ग्रामीण पंचायतों की व्यवस्था पूर्ववत् चलती रही और एक तरह से प्रादेशिक शासन-केन्द्रों के बाहर विदेशी राजनैतिक प्रभाव लगभग शून्य ही रहा। इस सारे युग में चार शासक वंश पहले ग़लामवंश (१२०६—१२९०), ख़िलजीवंश (१२९०—१३२०), तुग़लकवंश (१३२०—१३८८) और लोदी वंश (१४५०—१५२६)। ये सभी वंश एक तरह से पठान वंश थे और जहाँ तक संस्कृति का संबंध है वहाँ तक भारत इनसे अपरिचित नहीं था। कुभा की घाटियों और गांधार प्रदेश में ३२० पू० ई० से लेकर ४८० ई० तक मौर्य और गुप्त संस्कृति का ही राज रहा परन्तु इस सारे समय में इन पर्वत-घाटियों में यूनानियों, शकों और हूणों के दल-बादल आ-आकर बसते रहे और रक्तमिश्रण के साथ संस्कृति की दृष्टि से भी नए-नए तत्त्वों का समावेश होता रहा। १५० ई० के लगभग दक्षिणी अफ़गानिस्तान शकों का

बहुत बड़ा केन्द्र बन गया था और आज भी यह सीस्तान के नाम से प्रसिद्ध है। धीरे-धीरे यह प्रदेश ईरानी संस्कृति के प्रभाव में आगया। ८वीं शताब्दी में अफ़गानिस्तान में इस्लाम का प्रवेश हुआ और चार शताब्दियों के बाद हम इस्लामी पठानों को उत्तर-भारत का छत्रपति बना पाते हैं। उस समय तक संस्कृति की दृष्टि से वे बहुत कुछ ईरानी हो चुके थे।

परन्तु धीरे-धीरे तुर्की, ईरानी, पठानी, मंगोल और देशी मुसलमानों में संघर्ष शुरू हुआ और उसने पूर्वमध्य युग की राजनीति को अस्थायी बना दिया। अंतिम विजय मंगोलों की हुई। १५२६ ई० की पानीपत की लड़ाई में बाबर विजयी हुआ और १६वीं शताब्दी में हम उसके पोते अकबर (१५५६—१६०५) को सम्पूर्ण भारतवर्ष पर एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करता पाते हैं।

मुसलमानों की विजय उत्तरी-भारत के लिए अप्रत्याशित बवंडर के रूप में की और उसने भारत की सांस्कृतिक मनीषा को एकदम क्षुब्ध कर दिया। वस्तुतः १४०० ई० तक के समय को अराजकता का युग कहना ही उपयुक्त होगा। आक्रमणकारियों ने चारों ओर नाश और ध्वंस के रक्तबीज फैला दिये। चैत्य और विहार नष्ट कर दिये गये। देवमूर्तियाँ खंडित हुईं। मंदिरों के खंडहर बन गये और उनकी अपार धन-संपत्ति लूट ली गई। स्त्रियों का स्त्रीत्व नष्ट हुआ और उन्हें बलपूर्वक मुसलमान बनाया गया। उन दिनों प्राण-रक्षा का मूल्य धर्म-परिवर्तन था। लोग सुरक्षा की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान, एक जनपद से दूसरे जनपद में जाने लगे। विभिन्न जातियों, वर्गों और पेशों के लोग सामूहिक रूप से दूर देशों में चले गये और वहाँ बस गये। पंडित, साधु, कवि और चिंतक नगरों की समृद्धि को छोड़कर सुदूर अज्ञात ग्रामों में चले गये। उस युग के भयग्रस्त लोगों के लिये यह आवश्यक हो गया कि महिलाओं को गृहप्राचीरों में बन्दी बनायें और वर्णव्यवस्था और ग्रामीण पंचायत-व्यवस्था की ओट में अपनी सुरक्षा खोजें। रक्तगर्वी हिंदू-समाज

के लिए पग-पग पर रक्तदोष की शंका उठने लगी और रक्त-शुद्धता की रक्षा के लिए प्रादेशिक बिरादरियों और गोत्रों का एक बहुत बड़ा इन्द्र-जाल खड़ा होगया। पहली शती ईस्वी से पांचवीं छठी शताब्दी तक उत्तर-पश्चिम के मार्ग से जो अनेक विदेशी जातियां आ गई थीं, उन्हें लेकर अनेक जातियों-उपजातियों की सृष्टि हो चुकी थी। नई परिस्थितियों ने इनकी संख्या आशातीत कर दी। सवर्ण हिन्दुओं का नेतृत्व ब्राह्मणों ने ग्रहण किया और पौराणिक व्रताचारों और नये स्मृतिग्रन्थों के द्वारा उन्हें मर्यादित करने की चेष्टा की परन्तु देश का एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसा था जिसमें पौराणिक हिन्दू आचार-विचार दृढ़ नहीं हो सके थे अथवा जिसे समाज की मान्यता प्राप्त नहीं थी। यह हीनवर्ण समाज सामूहिक रूप से नया धर्मावलंबी बना। उत्तर-पश्चिम की बहुत-सी नवागन्तुक विदेशी जातियां और बंगाल की बौद्ध और डुमी (डोमी) जनसंख्या बहुत बड़ी संख्या में मुसलमान बन गई और इस धर्म परिवर्तन ने नवागन्तुकों और सवर्ण हिंदू-समाज के बीच एक ऐसी खाई खोद दी जो आज ८-९ शताब्दी बाद तक पट नहीं पाई है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रागैतिहासिक काल से इस देश में एक ऐसा बहुसंख्यक समाज था जो किसी भी वर्ण और धर्म-व्यवस्था में नहीं बंध पाया था। इस प्रवहमान जनसमाज ने पहले 'नहिंदू-नमुसलमान' का दृष्टिकोण ग्रहण किया और इस तरह अपनी सुरक्षा चाही परन्तु बाद में उसे हिंदू और मुसलमानों में से एक को चुन लेना पड़ा।

सांस्कृतिक मूल्यों में भी महान परिवर्तन हुआ। लगभग १२ शताब्दियों के राजाश्रय के बाद संस्कृत निराश्रित होगई। पठान युग (१२०६—१५२६) में हम शासकों को भाषा, साहित्य, कला और संस्कृति के सम्बन्ध में विशेष क्रियाशील नहीं पाते। इन शासकों पर विदेशी अरबी-ईरानी संस्कृति की छाप थी और वहीं से उन्हें धर्म, काव्य साहित्य, दर्शन और कला की प्रेरणा मिलती थी। सहस्रों की संख्या में अरबी-ईरानी सूफी-संत, कवि और कलाकार प्रमुख शासन-केन्द्रों में बस

गये और इन्हीं के सहारे विदेशी सत्ता जनता से अलग रहकर भी उनकी व्यवस्था कर सकी। राजाश्रय न मिलने के कारण पंडितों और राजकवियों को जीवनोपार्जन के नये-नये मार्गों का अवलम्बन लेना पड़ा। संस्कृत-काव्य-रचना की जो परम्परा कालिदास के समय से चली आती थी, वह इस तरह समाप्त हो गई और साथ ही नाटक और रंगमंच की प्रवृत्तियां भी लुप्त हो गईं। इस युग में काशी, मिथिला, नवद्वीप और पूणा हिंदूधर्म और संस्कृति के केन्द्र थे और इन केन्द्रों से स्मृति और आचार सम्बन्धी नई व्यवस्थाओं का जन्म हुआ। इन नई व्यवस्थाओं ने ब्राह्मणों के लिए एक नया क्षेत्र खोल दिया—वे पुरोहित और पौराणिक (कथा-वाचक) बन गये। इसका फल यह हुआ कि शास्त्रज्ञान को नई मेधा और नई प्रतिभा का योग नहीं मिल पाया। मुस्लिम-आक्रमण के लगभग दो शताब्दियों बाद तक भारत की प्रतिभा मौन रही। १५वीं शताब्दी में हम रामानंद, कबीर, विद्यापति, नामदेव और नानक के द्वारा नया युग-सन्देश पाते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि १५वीं शताब्दी में शास्त्रीय मेधा टीका-ग्रन्थों और निबंधों तक सीमित रही और नई विचारधारा का ध्वज अपढ़ नाथों, सन्तों और भक्तों के हाथ में रहा। जिन महापुरुषों में मौलिकता का स्फुरण था वे लिखना-पढ़ना तक नहीं जानते थे, शास्त्र-ज्ञान तो दूर रहा और जो पंडित थे उनके पास अपने युग के लिए कोई सन्देश ही न रह गया था।

एक तरह से इस सारे युग को प्रतिक्रिया और समन्वय का युग कहा जा सकता है। उच्च वर्गों, विशेषतयः ब्राह्मणों में इस्लामी संस्कृति और मुसलमान धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई परन्तु इस प्रतिक्रिया ने कोई क्रियात्मक रूप ग्रहण नहीं किया। वर्णाश्रम, जाति-पांत, छुआछूत आदि के सम्बन्ध में और भी कड़ाई से पालन किया जाने लगा और इस तरह संकीर्णता के सहारे नए धर्म के श्वासोच्छ्वास से बचने की चेष्टा हुई, परन्तु यह निश्चित है कि यह ग़लत दृष्टिकोण था। नवागन्तुकों के प्रति एक प्रकार की सामाजिक बहिष्कार की भावना का जन्म होगया जिसके

फलस्वरूप घृणा और द्वेष का वात्याचक्र उठ खड़ा हुआ। इससे पहले भी भारतीय-संस्कृति को शकों और हूणों जैसी युद्धलिप्स जातियों और कठोर सभ्यताओं से मोर्चा लेना पड़ा था, परंतु बौद्ध और हिंदू धर्माचार्यों की उदारता और नीतिपरायणता ने उन्हें थोड़े ही दिनों में भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग बना लिया था। मुसलमानों के साथ ऐसा नहीं हो सका। इसका कारण चाहे जो हो इसमें संदेह नहीं कि इसने भावी पीढ़ियों के सामने एक नई समस्या उत्पन्न कर दी। यह समस्या मूलतः सामाजिक थी परंतु बाद में उसने सैद्धान्तिक और राजनैतिक रूप भी ग्रहण कर लिया। नाथों और संतों द्वारा सांस्कृतिक समन्वय का भी प्रयत्न हुआ। मुसलमान सूफी भी इसी ओर क्रियाशील रहे। ७ वीं ८ वीं शताब्दी के बौद्ध (सिद्ध) और जैन अपभ्रंश काव्य और लकुलेश आदि शैव संप्रदायों के ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुसलमानों के आने से बहुत पहले इस देश में वर्णाश्रम, ब्राह्मण-पंडित-पुरोहित, कमकांड, मूर्तिपूजा और अवतारवाद के विरुद्ध एक बड़ा मोर्चा खड़ा हो गया था और योग और अद्वैतवाद के आधार पर अंतस्साधना का विकास भी हो चुका था परन्तु यही बातें जब मुसलमानों ने तलवार के बल पर कहीं तो उनका विरोध हुआ। नवागन्तुकों में से सूफियों ने और हीनवर्ग भारतीय संतों ने इस परम्परा के आधार पर अनेक समन्वय-सूत्र भी खोज लिये और मध्ययुग के समान मानव-भाव को नई दिशायें दीं, परन्तु प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ इस प्रगतिशील समन्वयात्मक शक्ति से कहीं अधिक शक्तिशाली थीं। फलस्वरूप यह समन्वय हिंदू-समाज के निम्न स्तरों तक ही सीमित रहा और उसने व्यापक जनांदोलन का रूप ग्रहण नहीं किया। हिंदी साहित्य का संत और सूफ़ी काव्य इस समन्वय का लिखित प्रमाण है। इस युग का प्रतिक्रियावादी साहित्य संस्कृत के स्मृति-ग्रंथों तक सीमित है परन्तु १६ वीं शताब्दी में मर्यादावादी तुलसीदास के मुख से उसका सबसे प्रबल प्रकाशन सामने आता है। इस प्रतिक्रियावादी हिंदू आंदोलन का

एक रूप पौराणिकता का पुनरुत्थान भी था। अनेक नये पुराणों का निर्माण हुआ और कुछ पुराणों के हिंदी रूपांतर भी उपस्थित हुए। मध्ययुग के भक्ति-आंदोलन को हम पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान का आंदोलन भी कह सकते हैं। वस्तुतः गुप्तों के युग में विष्णु और लक्ष्मी को लेकर जिन धार्मिक-भावनाओं का विकास हुआ था वही इस युग में राधाकृष्ण और सीताराम के माध्यम से विकसित हुई। विद्यापति के काव्य में हमें राधाकृष्ण-सम्बन्धी-भक्ति आंदोलन का पूर्वाभास मिलता है और रामानन्द और उनके शिष्यों के साहित्य में हम राम के सगुण रूप और हनुमद्भक्ति के पूर्वचिन्ह भी पाते हैं।

इस युग में मुसलमानों की सत्ता पूर्णतः स्थापित नहीं हो पाई थी। राजस्थान, बुन्देलखंड, गुर्जरप्रदेश, महाराष्ट्र और दकन में मुसलमान आक्रमणकारियों को पग-पग पर घोर विरोध का सामना करना पड़ा। इस विरोध ने विभिन्न भाषाओं में वीरकाव्य को जन्म दिया। इस वीर-काव्य का अभी पूर्णतयः उद्घाटन नहीं हो पाया है। हेमचंद ने अपनी रचनाओं में जो अपभ्रंश के उद्धरण दिये हैं वह वीरकाव्य की श्रेणी में ही आते हैं और उनमें हमें चालुक्य और बघेल सामंतों और राज-पूतों की वह जीवनदृष्टि मिलती है जो 'बप्पा की भूमडी' के लिए अपना अंग-अंग कटाने के लिए तैयार थी। कदाचित् हमारा बहुत-सा वीर काव्य नष्ट हो गया है, परन्तु पृथ्वीराज रासो, हम्मीररासो, परमाल रासो, आल्हाखण्ड इत्यादि के रूप में—बहुत कुछ परवर्ती भाषा में—हमें उसका थोड़ा आभास अवश्य मिल जाता है। पृथ्वीराज रासो हमारी उस युग की वीरगाथाओं का सबसे बड़ा संकलन है। पुस्तक रूप में यह संकलन कदाचित् अकबर के सिंहासनारूढ़ होने के कुछ पहले की चीज़ है, परंतु मौखिक रूप से इन गाथाओं की रचना इस युग में बराबर होती रही और एक ही गाथा अनेक प्रकार से गुम्फित हुई।

पूर्वमध्ययुगीन काव्य की भाषा—पूर्वमध्ययुगीन काव्य में जिन भाषाओं का प्रयोग हुआ है वह हिंदी के अतिरिक्त और कुछ नहीं

कही जा सकती। गोरखनाथ, कबीर, रैदास, विद्यापति और नानक की भाषाएं स्पष्टतः अपभ्रंश नहीं हैं। उनका आधार विभिन्न जानपदीय बोलियाँ हैं। सिद्धों और जैनकवियों के अपभ्रंश काव्य से उनकी तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषाविकास की कई शताब्दियाँ पार की जा चुकी हैं। यह स्पष्ट है कि विद्यापति (१३३५-१४५०) की पदावली की भाषा मगही भाषा से बहुत भिन्न है और उनमें तीन सौ वर्षों का व्यवधान पड़ जाता है। भाषाक्षेत्र की दृष्टि से हम उसे मैथिली अर्थात् मिथिलाप्रदेश की बोली कहते हैं यद्यपि 'मैथिली' नाम १६ वीं शताब्दी से पहले की चीज़ नहीं है। विद्यापति ने उसे 'देसिल बअना' (देशी बोली) मात्र कहा है। कबीर और रैदास की रचनाएँ अवधी और भोजपुरी क्षेत्र के अंतर्गत आती हैं। संभवतः उस युग में इस संपूर्ण प्रदेश में एक ही भाषारूप चल रहे होंगे और इसीसे हमें कबीर की भाषा में अवधी और भोजपुरी के तत्त्व समान रूप से बहुत बड़ी मात्रा में मिल जाते हैं। आधुनिक युग में ही उन्हें अलग करने का आग्रह अधिक है। भाषा का एक तीसरा रूप हमें गोरखनाथ, नामदेव और नानक में मिलता है। सूफ़ी संतों के गद्य-पद्य में यह भाषा प्रयोग में आई है और इसे 'हिंदवी', 'भाषा', 'नागरी' आदि नाम दिये गये हैं। वस्तुतः यह उस युग की सामान्य भाषा है जिसका विस्तार पंढरपुर से नानकाना और पूर्व में प्रयाग तक होता है। शूरसेन प्रदेश में रचनाओं की परंपरा हमें इस युग के अंतिम चरणों में अथवा बाद में मिलती है। वैसे उसे जैनकवियों के अपभ्रंश काव्य से पूर्णतः संबंधित किया जा सकता है। दोनों शौरसेनी प्राकृत के विकास जान पड़ते हैं। इसका एक निश्चित साहित्यिक विकास हमें डिंगल (साहित्यिक राजस्थानी) के रूप में मिलता है। संभव है, १२०० ई० से १४०० ई० तक के कुछ अन्य साहित्य का पता हमें चल सके, और उसमें हम प्राचीन हिंदी अथवा हिंदी की ओर संक्रमण करती हुई अपभ्रंश के दर्शन कर सकें। परन्तु जब तक विकास की ये कड़ियाँ हमें नहीं मिलतीं, तब तक हमें भाषा के उस

विकसित रूप से ही संतोष करना पड़ता है जो गोरख, कबीर, सूर अथवा नानक में हमें मिलता है।

एक दृष्टिकोण यह भी है कि इन जानपदीय काव्यभाषाओं को अपभ्रंश का विकसित रूप नहीं माना जाये। इनमें हमें अपभ्रंश से भिन्न लोकभाषाओं अथवा जानपदीय बोलियों का विकास मिलता है। इनमें आरंभ से ही ऐसे तद्भव शब्दों का प्रयोग मिलता है जो हमें अपभ्रंश, प्राकृत और संस्कृत में नहीं मिलते, न इन भाषाओं के किसी साम्यवाची शब्द से उनकी व्युत्पत्ति स्थिर हो सकती है। उनका रूपगठन भी अपभ्रंश से भिन्न है। १८५० ई० तक हमें इन देशभाषाओं के साहित्य और विकास की अनुएण परंपरा चलती दिखाई पड़ती है। उन्नीसवीं शताब्दी में विशेष परिस्थितियों के कारण हम इन विकासमान जानपदीय भाषाओं को छोड़कर फिर एक साहित्यिक भाषा का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं। यह साहित्यिक भाषा मूल रूप से कुरु-पांचाल की बोली थी और 'हिंदवी', 'भाषा', 'उर्दू', 'रेख्ता' और 'खड़ी' नाम से उसके साहित्यिक विकास की एक परंपरा लगभग १० शताब्दियों से चली आती है। आधुनिक युग में उसने वही रूप ग्रहण कर लिया है जो कभी अपभ्रंश, प्राकृत और संस्कृत को प्राप्त था। सार्वदेशिक साहित्यिक भाषा के रूप में चलने के कारण वह प्रतिदिन अधिक-अधिक रूढ़ियों से जकड़ती जा रही है।

काव्य-शैलियाँ—परन्तु विकासक्रम की दृष्टि से चाहे जो परिस्थिति हो, इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन हिन्दी काव्य (१२००-१५००) में प्रचलित काव्य-शैलियाँ हमें जैनों और सिद्धों के अपभ्रंश काव्य में ही मिल जाती हैं। इनके लिए हमें कहीं दूर नहीं जाना पड़ता। इन शैलियों को हम गीति-काव्य, मुक्तक और प्रबंध काव्य अथवा छंद काव्य की शैली कह सकते हैं। सूफी कथाकाव्यों और डिंगल के 'रासो'-ग्रन्थों को छोड़कर शेष साहित्य में गीति और मुक्तक शैलियों का ही प्रयोग हुआ है। नीचे हमें कुछ प्रमुख शैलियों पर विचार करेंगे—

(१) पद-शैली—पदों की शैली का आरम्भ कब हुआ, कैसे हुआ, यह कहना कठिन है, परन्तु सिद्धों की आठवीं शताब्दी की कविता में हमें राग-रागिनियों में लिखे 'पादाकुलक' के दर्शन होते हैं और पदों का प्रारम्भिक रूप भी मिल जाता है। १००० ई० के आसपास नाथपंथियों (जोगियों) द्वारा पदों का प्रयोग व्यापक रूप में हुआ और सूफियों ने यह शैली वहीं से ग्रहण की। छंदशास्त्र की दृष्टि से इन पदों में अनेक छंदों का प्रयोग हुआ है। ये सभी मुख्यतः प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत के मात्रिक छंद हैं। पद-लेखकों ने संगीतशैलियों और राग-रागिनियों का विशेष ध्यान रखा है।

(२) बारहमासा—पंजाबी सूफी काव्य में भी यह 'बारहमासा' नाम से प्रसिद्ध है। 'बारहमासे' की शैली जन-शैली है। अपभ्रंश-काव्य में इस शैली में बहुत कुछ लिखा भी गया था। साधारण बारहमासों में लौकिक प्रेम-विरह को वाणी दी जाती है। सूफ़ी बारहमासों में इस लौकिक प्रेम को ही ईश्वरपरक बनाया गया है। कदाचित् हिन्दी में इस श्रेणी की पहली रचना हमें 'बीसलदेव रासो' (१२१२) के अंतर्गत मिलती है।

(३) सप्तवार अथवा अठवारा—इसमें सप्ताह के प्रत्येक दिन के सम्बन्ध में चर्यादर्श का वर्णन रहता है। गोरखनाथ, संतों और सूफ़ियों के काव्य में इस प्रकार की रचनायें मिलती हैं। तिथि और वार को अलग-अलग लेकर इस प्रकार की रचनायें उपस्थित की गई हैं।

(४) ककहरा, कक्का, चौंतीसी या बावनी—सूफी काव्य में इस श्रेणी की कविता का 'सिहरफी' भी कहा गया है। इसमें वर्णमाला के अक्षरक्रम को लेकर सिद्धान्त-संबंधी विचार उपस्थित किये जाते हैं। कबीर की 'अक्षरक्रम की रमैनी' (चौंतीसा, बावनी) और जायसी का 'अखरावट' इसी श्रेणी की रचनाएं हैं। 'शालिभद्र कक्का' नाम की एक अपभ्रंश रचना भी हमें इस शैली में मिलती है—इसमें जैन धार्मिक सिद्धान्तों का वर्णन है।

(५) कथा (क़िस्सा)—इसमें युगल प्रेमियों की दुःखद कथा को

आध्यात्मिक प्रेम के रूपक के रूप में उपस्थित किया जाता है। ये कहानियाँ छंदोबद्ध रूप में बड़ी लोकप्रिय थीं। इनमें बेत (द्विपदी, सलोक) छंद का प्रयोग किया जाता था। यह मसनवी शैली है। अपभ्रंश कथाकाव्य में यह शैली पहले भी प्रचलित थी और अवधी सूफी काव्य में भी दोहा-चौपाई क्रम के रूप में इसका प्रयोग होता रहा।

(६) मुक्तक—इस रूप में द्विपदी का प्रयोग भी सूफ़ी काव्य में हुआ है। कबीर की रमैनियाँ इस श्रेणी में आती हैं।

(७) दोहा या दोहरा—दोधक, पज्झटिका अथवा दोहा छंद का प्रयोग अपभ्रंश काव्य में मिलता है। सूफ़ी संत-काव्य में इस छंद का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है। पंजाबी सूफ़ी-काव्य का 'दोहरा' हिन्दी दोहरे से थोड़ा भिन्न है। इसमें मध्यानुप्रास को भी स्थान मिलता है और अधिकांश दोहरों में मध्यानुप्रास वही होता है जो अंत्यानुप्रास। हिन्दी दोहों में संत-सूफ़ी साहित्य की बहुत बड़ी सामग्री सुरक्षित है।

इसमें संदेह नहीं कि मध्ययुगीन काव्य की ये अनेक शैलियाँ १६ मात्रा के चौपाई छन्द और दोहा-छन्द का ही विकास हैं। आज हम साहित्य के माध्यम से इन छन्दों से परिचित होने के कारण उनकी संगीतमयता के सम्बन्ध में विशेष आश्वस्त नहीं है, परन्तु जो जन-संगीत और उसकी हिन्दी परम्परा से परिचित हैं उन्हें उनमें हिन्दी भारती का गीतिकंठ निश्चित रूप से मिलेगा। वस्तुतः चौपई (१५ मात्रा), चौपाई (१६), रोला (२४), सरसी (२७), सार (२८), ताटंक (३०) और वीर (३१) में एक ही लय का प्रसार है। दोहे की लय इनसे भिन्न है, परन्तु कई दोहों की कड़ियों को एक स्थायी से जोड़कर हमें गीति या पद का एक निश्चित स्वरूप मिल जाता है।

शैली की दृष्टि से गोरखनाथी साधुओं और रामानंदी संतों की रचनाएं एक कोटि में आती हैं। सूफ़ी संतों ने भी इन्हीं की शैलियों को ग्रहण किया है। इन साधु-संतों के छन्द साधारण लोक-छंद हैं और भाषा-शैली में भी किसी प्रकार की साहित्यिकता का समावेश नहीं है।

इस साहित्य को हम आदियुग की सिद्ध साहित्य की धारा से संयोजित कर सकते हैं। अन्तर केवल इतना है कि सिद्धों के मगही अपभ्रंश काव्य में तत्सम शब्दों का प्रवेश निषिद्ध है। वस्तुतः प्राकृत-पाली अपभ्रंश में उच्चारण और व्याकरण की दृष्टि से सरलीकरण की क्रिया चलती रही। पाली में केवल द्विवचन का प्रयोग हुआ और संस्कृत के ६ हज़ार से ऊपर वार्त्तिकों के स्थान पर आठ-नौ सौ सूत्रों से ही काम निकलने लगा। प्राकृत ने उच्चारण के सरलीकरण की प्रक्रिया को और बढ़ाकर व्यंजनों को स्वर बना डाला परन्तु प्राकृत और पाली ने सुबन्त, तिङन्त या शब्द-रूप और धातु-रूप की शैली में संस्कृत का अनुकरण नहीं छोड़ा। इस तरह संस्कृत से बहुत भिन्न होने पर भी वह उसके बहुत पास रहीं। परन्तु अपभ्रंश में भाषा में जो परिवर्तन हुआ वह एकदम असाधारण था—उसका ढाँचा ही बिल्कुल बदल गया, उसने नये सुबन्तों-तिङन्तों की सृष्टि की और इस परिवर्तन के कारण वह संस्कृत-पाली से नितांत भिन्न होगई। संस्कृत से पाली तक के विकास को हम क्रमिक विकास कह सकते हैं परन्तु पाली से अपभ्रंश तक पहुँचने के लिए भाषा को अपनी प्रकृति ही बदलनी पड़ी—इसे 'जाति-परिवर्तन' कह सकते हैं। हिन्दी ने इस जाति-परिवर्तन को एक सीमा तक ही सुरक्षित रखा परन्तु तद्भव-रूपों के स्थान पर उसने तत्सम शब्दों को खुब तत्परता से प्रयोग में लाना आरम्भ किया और इस प्रकार उसका रूप अपभ्रंश से भिन्न हो गया। इसमें संदेह नहीं कि चौदहवीं सदी से तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगता है।

तत्सम या शुद्ध संस्कृत शब्दों का प्रयोग फिर क्यों होने लगा? इसका एक कारण तो विदेशी धर्म और शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वैष्णवधर्म (पौराणिक धर्म) और भारतीय संस्कृति की पुनरुत्थान की भावना थी। पुराणों, उपनिषदों, गीता जैसे धर्मग्रन्थों, महाकाव्यों आदि के अध्ययन की नई परंपरा ने पंडित और शिक्षित वर्ग में तत्सम शब्दावली लोकप्रिय कर दी। जिस प्रतिक्रिया ने हिन्दू-धर्म को

सुरक्षित रखा उसी ने संस्कृत-प्रधान काव्यशैली को भी जन्म दिया। परन्तु जब हम साधारण जनता में भी संस्कृत-प्रधान शैली की लोकप्रियता पाते हैं तो हमें और कारणों की भी खोज करनी पड़ती है। जान पड़ता है, तत्सम शब्दों का आकर्षण विदेशी (मुसलमान) आक्रमण से बहुत पहले राजपूत काल (७५०-१२००) में ही बढ़ गया था। सामंती समाज के विकास के साथ सैकड़ों नये शब्दों की आवश्यकता पड़ी। उनके लिए एक ही स्रोत हमारे पास था—संस्कृत धातुओं से सैकड़ों नए शब्द गढ़े गए और इतिहास-प्रवाह में जो संस्कृत शब्द छूट गये थे उनका नये ढंग से प्रयोग किया गया। १२०० ई० तक उच्च वर्गों और शासन-केन्द्रों में यह प्रतिक्रिया चलती रही परन्तु जन-सामान्य और उसके कवि अपभ्रंश को ही अपनाते रहे। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी के प्रारंभिक कवियों, प्रमुखतः चंद, नरपति नल्ह, गोरखनाथ और कबीर में तद्भव-तत्त्व कहीं अधिक हैं। १६ वीं शताब्दी में इन तत्त्वों का एकदम लोप होगया और नये क्रियापदों के प्रयोग ने अपभ्रंश-काव्य को प्राचीन युग की चीज़ बना दिया। फलतः अपभ्रंश के महान् कवियों की कृतियों का पठन-पाठन लुप्त होगया और काव्यशैली की एक नई तत्सम-प्रधान परंपरा सामान्य नियम बन गई। पूर्वमध्य-युग के काव्य में हम इस प्रक्रिया को अत्यन्त जागरूक पाते हैं। पूर्वमध्य युग में नये शब्दों की माँग को संस्कृत और फ़ारसी शब्दकोष से पूरा कर लिया गया और कालांतर में ये शब्द इतने प्रचलित होगये कि साधारण जन भी तद्भव शब्दावलि भूल गये। इस परिवर्तन ने हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति को बल दिया और उसे क्षेत्र की दृष्टि से भी बहुत व्यापक बना दिया। तत्सम शब्दों के व्यापक प्रयोग के कारण हिन्दी के सभी प्रादेशिक रूप बहुत पास आगये।

गोरखनाथ और 'नाथ' कवि—गोरखनाथ के सम्बन्ध में दो परम्पराएं चल रही हैं—एक उन्हें ७५० ई० के लगभग रखती है और इस परम्परा का सम्बन्ध मुख्यतः बौद्ध-ग्रन्थों और बौद्ध जैनश्रुतियों से है जो भोट ग्रन्थ 'तंजुर' आदि में सुरक्षित हैं। दूसरी परम्परा महाराष्ट्र की

है जो उन्हें गैनीनाथ (गहिनीनाथ) और निवृत्तिनाथ के माध्यम से प्रसिद्ध महाराष्ट्र संत ज्ञानेश्वर (ज्ञाननाथ, १२७५–१२९६) से जोड़ती है। यदि हम इस दूसरी परम्परा को ग्रहण करें तो गोरखनाथ का समय तेरहवीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध ठहरता है और वह उत्तरमध्य युग के प्रारम्भिक चरण में आते हैं। यह तो निश्चित है कि बौद्ध परंपराओं में कोई बड़ी भ्रांति है जिसका निराकरण विद्वानों ने गोरखनाथ को १०१५ ई० के आस-पास रखकर किया है। जो हो, विचारधारा की दृष्टि से गोरखनाथ सिद्धों की अपेक्षा संतों के ही अधिक निकट हैं और उन्हें हम कबीर (१३९९—१५१८) से बहुत दूर अतीत की चीज़ नहीं बना सकते।

'गोरखनाथ' ने अपने पदों में अपने को बार-बार 'आदिनाथ नाती मछेन्दरनाथ पूता' कहा है। हिंदू परंपराओं में ये आदिनाथ 'शिव' हैं जो स्पष्टतयः कल्पित हैं परन्तु बौद्ध-परंपराओं में मीनपा नाम के साधक को गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ और कण्हपा (कानीफनाथ) के गुरु जालंधरनाथ (जालंधरिपा) के गुरु के रूप में रखा गया है। गोरख नाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे, इसमें तो कोई भी सन्देह नहीं है। जन-श्रुतियाँ एक स्वर में यही चिल्लाती हैं। कदाचित् वे चर्पटी नाथ, जालंदर नाथ, कण्हपा, गोपीचन्द, भर्तृहरि और मैनावती के समकालीन ही थे। जनश्रुतियों ने उनके व्यक्तित्व को इतना चमत्कार-ग्रस्त कर दिया है कि आज उनके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना कठिन हो गया है परन्तु इसमें किंचित्मात्र भी सन्देह नहीं कि 'गोरखनाथ अपने युग के सबसे महान् धर्म नेता थे। उनकी संगठन-शक्ति अपूर्व थी। उनका व्यक्तित्व समर्थ धर्म-गुरु का व्यक्तित्व था। उनका चरित्र स्फटिक के समान उज्ज्वल, बुद्धि भावावेश से एकदम अनाविल और कुशाग्र तीव्र थी। उनके चरित्र में कहीं भी भाव-विह्वलता नहीं है। जिन दिनों उन्होंने जन्म ग्रहण किया था उन दिनों भारतीय धर्मसाधना की अवस्था विचित्र थी। शुद्ध जीवन, सात्विक वृत्ति और अखंड ब्रह्मचर्य की भावना उन दिनों अपनी निम्नतम सीमा तक पहुँच गई थी। गोरखनाथ ने निर्मम

हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया। लोकजीवन में जो धार्मिक-चेतना पूर्ववर्ती सिद्धों से आकर उसके पारमार्थिक उद्देश्य से विमुख हो रही थी उसे गोरखनाथ ने नई प्राणशक्ति से अनुप्राणित किया। किसी भी रूढ़ि पर चोट करते समय उन्होंने दुर्बलता नहीं दिखाई। वे स्वयं पण्डित व्यक्ति थे पर यह अच्छी तरह जानते थे कि पुस्तक लक्ष्य नहीं, साधन है। उन्होंने किसी से भी समझौता नहीं किया, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं, परन्तु फिर भी उन्होंने समस्त प्रचलित साधना-मार्ग से उचित भाव ग्रहण किया। केवल एक वस्तु वे कहीं से न ले सके। वह है भक्ति। वे ज्ञान के उपासक थे और लेशमात्र भावुकता को भी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे।' इस कथन के साथ आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने गोरखनाथ के मार्ग को 'भावावेग विनिर्मुक्त, शुद्ध बुद्धिमूलक ज्ञान-मार्ग' कहा है और उसमें नैतिक तत्त्वों एवं योग-साधना की प्रधानता बतलाई है।

गोरखनाथ की रचनाओं में चौरासी सिद्धों का उल्लेख आदर के साथ लिया गया है। स्वयं गोरख ने एक स्थान पर अपनी वाणी को 'सिद्ध-संकेत' कहा है। नौ नाथ और चौरासी सिद्ध हैं। इन नौ नाथों में आदिनाथ, मछिन्द्रनाथ, ईश्वरनाथ, चौरंगीनाथ, गोरखनाथ, कणेपा (कानीफनाथ) का निर्देश गोरखवाणी में ही मिल जाता है। आदिनाथ कदाचित् जालंधर नाथ हैं। ऐतिहासिक नाथों में गाहिनीनाथ और निवृत्तिनाथ को जोड़ देने से ज्ञानेश्वर तक नाथों की संख्या नौ हो जाती है। परन्तु अन्य स्रोतों में विभिन्न नाथ स्वीकृत हैं जिनमें नागनाथ, चर्पटनाथ (चर्पटी), रेवानाथ, भरथरी (भर्तृनाथ) गोपीचंद, मीननाथ, हरिनाथ, एकनाथ, उदयनाथ, दण्डनाथ, सत्यनाथ, संतोषनाथ, कूर्मनाथ आदि आते हैं। सभी स्रोतों को लें तो नाथों की संख्या काफ़ी बड़ी हो जाती है और उसमें बहुत से सहजयानी और वज्रयानी सिद्ध, तांत्रिक, निर्गुणी संत और कापालिक सिद्ध भी आ जाते हैं। केवल कछ ही 'नाथ' ऐसे हैं जिनका साहित्य हमें उपलब्ध है अथवा जिनके

सम्बन्ध में कोई अनुश्रुति शेष रह गई है। अधिकांश अनुश्रुतियाँ करामाती कहानियाँ मात्र हैं और उनसे कोई ऐतिहासिक तथ्य सिद्ध नहीं होता। प्रमुख रूप से गोरखनाथ की रचनाएं ही हमें प्राप्त हैं। डा० बड़थ्वाल ने 'जोगेश्वरी बानी' नाम से अन्य नाथों की वाणी को संपादित रूप से प्रकाशित करने की सूचना 'गोरखबानी' में दी थी, परंतु उनके अकाल कालकवलित हो जाने के कारण वह संग्रह हिन्दी जगत् के सम्मुख नहीं आ सका।

संतों की भाँति गोरखनाथ भी सहजतत्त्व के उपासक हैं। उन्होंने 'सहज समाधि' को साधक का अंतिम लक्ष्य माना है। एक स्थान पर वह कहते हैं कि गोरख 'सहज तत्त्व' का व्यापार करते हैं—

सहज गोरखनाथ वणिज कराई, पंच बलद, नौ गाई।
सहज सुभावें वापर ल्याई, मोरे मन उडियानी आई॥

'सहज सुन्नि' (शून्य) से इस संसार की उत्पत्ति हुई, शून्य में ही आत्मा (हंस) का वास है (सुंनि हंस का वास). सहज तत्त्व में ही साकार-निराकार बनकर उद्भासित होता है –'सहजैं ही आकार निराकार होइसी, परम ज्योति हंस का निवास।' यह सहज की साधना मध्यममार्ग है, इसमें न भोग लिप्सा है, न कष्टकृच्छ्र तप। इस मध्यमार्ग को गोरख ने 'संयम' का मार्ग बताया है :

खाये भी मरिये अणखावे भी मरिये।
गोरख कहै पूता संजमि ही तरिये॥
मधि निरंतर कीजै वास।
निहचल मनुवां थिर होइ सांस॥

वस्तुतः गोरखमत में आत्मनिग्रह और ब्रह्मचर्य का महत्वपूर्ण स्थान है। गोरख ने नारी को बार-बार बाधिनी कहा है और ब्रह्मचर्य को 'अमीमहा-रस' (महामृत)। संपूर्ण भारतीय साहित्य में ब्रह्मचर्य और नीतिमय जीवन का ऐसा स्वस्थ स्वर और कहीं हमें सुनाई नहीं पड़ता। गोरख कहते हैं—

दिवसै बाघनि मन मोहै राति सरोवर सोग्वै।
जाणि बूझि रे मूरिख लोया घरि-घरि बाघणि पोग्वै॥
नदी तीरै विरपा नारी संगै पुरुषा अलप जीवन की आसा।
मनथैं उपज मेर खिसि पड़ई तार्थे कंध विनासा॥

संतों के काव्य में हमें नारी के प्रति जुगुप्सा की भावना इतनी अधिक मात्रा में नहीं मिलती, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि संत भी नारी को साधना-मार्ग में बाधा मानते हैं।

गोरख ने उस परमतत्त्व को 'अलख' और 'निरंजन' कहा है। इस निरंजन की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—

उदय न अस्त राति न दिन, सरवै सचराचर भाव न भिन्न।
सोई निरंजन डाल न मूल, सर्वव्यापिक सुपम न अस्थूल॥

'जहां उदय नहीं, अस्त नहीं, न भाव है, न अभाव, वहीं निरंजन तत्त्व का निवास है। उसका अस्तित्व स्वयंसिद्ध और सर्वनिरपेक्ष है। वह डाल-रहित मूलरहित तरु है। उस सर्वव्यापक निरञ्जन तत्त्व को न सूक्ष्म कहा जा सकता है, न स्थूल।' इस संसार में जो कुछ भी दृश्यमान है, वह सब माया का प्रसार अर्थात् 'अंजन' है। 'अंजन' को छोड़कर जो सारभूततत्त्व 'निरंजन' को पकड़ पाता है, वही सच्चा योगी है। इस निरंजन-तत्त्व को 'शून्य' नाम से भी अभिहित किया जाता है—गोरख कहते हैं : शून्य ही माता है, शून्य ही पिता, शून्य ही आत्मतत्त्व निरंजन है। उसे शून्यतत्त्व का परिचय हो जाने पर योगी आत्मस्थित हो जाता है। उसी को 'आकाशतत्त्व' और 'सदाशिव' भी कहा गया है—'आकाशतत सदाशिव जांण'। इस तत्त्व को जानना ही, इसकी अनुभूति ही निर्वाण-प्राप्ति है।

इस निरंजन तत्त्व की खोज के लिए साधक को अपने से बाहर नहीं जाना पड़ता। उसे अपने भीतर ही ढूँढना होता है। संतसाहित्य में हम 'कायागढ़' जीतने का रूपक देखते हैं। जायसी ने भी 'पद्मावत'

में अध्यात्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये इसी रूपक का प्रयोग किया। गोरख भी कहते हैं—

कायागढ़ लेबा जुगि-जुगि जीबा ॥ टेक ॥
कायागढ़ भीतर नौ लख खाई, जंत्र फिरै गढ़ लिया न जाई।
ऊँचे-नीचे परबत झिलमिल खाई, कोठड़ी का पाणीं पूरण गढ़ जाई॥
इहां नहीं उहां नहीं त्रिकुटी मँझारी, सहज सुंनि में रहनि हमारी ॥
आदिनाथ नाती मछिन्द्रनाथ पूता, कायागढ़ जीति ले गोरख अवधूता॥

इस 'कायागढ़' अथवा देहस्थित आत्मतत्व की साधना ही अंतिम साधना है। है। इस साधना में योग और चक्रभेद (कुण्डलिनी) साधना को प्रमुख स्थान मिला है। कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन को गोरखनाथ ने आध्यात्मिक प्रगति का प्रतीक माना है और अनेक प्रकार के रूपकों में सर्वोच्च आध्यात्मिक आनन्द की अभिव्यंजना भी उन्होंने की है। इसमें सन्देह नहीं कि योगदर्शन और योग (प्राणायाम) साधना के अनेक शास्त्रीय तत्त्व गोरखनाथ की वाणी में मिल जाते हैं और इसीसे वह हमें किसी नये चमत्कार से अभिभूत नहीं करते, परन्तु इड़ा-पिंगला, सूर्य-चंद्र, गंगा-जमुना, अनहद नाद, शिव-शक्ति का सम्मिलन इत्यादि शास्त्रीय संकेतों के साथ-साथ गोरखवाणी में बहुत कुछ ऐसा है जो स्वसंवेद्य है और इस नाते हमें पूर्ण रूप से आश्वस्त करने में समर्थ है। यह निश्चय है कि गुरु गोरखनाथ का पंथ प्राचीन योगमार्ग और औपनैषदिक तत्त्वज्ञान से बहुत कुछ लेता है। उसके प्रवर्तक का इस बात में पूर्ण विश्वास है कि आत्मा की खोज में कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं, वह अपने भीतर—काठ के भीतर अग्नि, बीज के भीतर पुष्प एवं पुष्प के भीतर गंध की भाँति व्याप्त एवं अंतर्निहित है। उन्होंने प्राचीन हठयोग-पद्धति की अनेक बातों को स्वीकार करते हुए भी उसकी बहुत-सी क्रियाओं का अधिकतर लाक्षणिक अर्थ ही लगाया है और स्पष्टरूप से कह दिया है कि केवल बाह्य बातों में न पड़कर हमें आत्मचिंतन की ओर ही विशेष ध्यान देना चाहिये। इसके सिवाय उन्हें

वाह्य विडंबनाओं के प्रति बड़ी घृणा है। वे कल्पित देवी-देवताओं की आराधना के प्रति अश्रद्धा तथा वर्णविभेद एवं साम्प्रदायिक संकीर्णता के प्रति घोर विरोध प्रदर्शित करते हुए और ब्रह्मचर्य, आत्मसंयम व युक्ताहार-विहारादि में अटूट विश्वास रखते हुए दीख पड़ते हैं। उनकी साधना का सुर चाहे आज कुंठित और रहस्यमय हो गया हो परन्तु उनका रूढ़ि-खंडन, चमत्कार-विरोध, आत्मनिग्रह और आत्मसंयम का संदेश आज भी उतना ही क्रांतिकारी है। उन्होंने कदाचित् भारतीय साधना के इतिहास में सबसे पहली बार उच्च स्वर से घोषित किया कि तन्त्र-मन्त्र, वेदांत, रसायन, धातुशोध आदि केवल मात्र पाखण्ड सिद्ध हो सकते हैं। उन्होंने स्तंभन, मोहन, वशीकरण, जड़ीबूटी के ज्ञान, वैद-वणिज-व्यापार, तीर्थाटन, जटाजूट सभी को तत्त्व से बहुत दूर माना। एकमात्र योग को उन्होंने स्वीकार किया परन्तु उनका योगी का आदर्श बहुत ऊँचा था —वह आत्मज्ञानी का आदर्श था। जिस प्रकार अग्नि के लिए लोहा-पानी समान हैं, उसी प्रकार योगी के लिए राजा-प्रजा समान है। योगी का मन निश्चल रहता है। वह 'मध्य' में निवास करता है। वह विंदुरक्षा (ब्रह्मचर्य) को परम धर्म मानता है। वह किसी भी समय अपनी आध्यात्मिक जागरूकता को नष्ट नहीं होने देता। वस्तुतः गोरखनाथ ने जिस योग की कल्पना की है, वह सहज साध्य नहीं है—

नौ लख पातरि आगे नाचै पीछे सहज अखाड़ा।
ऐसे मन लै जोगी खेलै तब अँतरि वसै भँडारा॥

असंख्य विकारों के सम्मुख भी जो निर्विकार भाव से आत्मस्थित रहे वही तो सच्चा योगी है। ऐसा योगी दृश्यमान जगत् (अंजन) के भीतर ही निरंजन तत्त्व के दर्शन करता है। वह मूर्त्त जगत के भीतर अमूर्त्त जगत् का परिचय पाता है और तदनंतर उसके भीतर वह निरन्तर क्रीड़ा शुरू होती है जो चरम आनन्द है।

इसमें सन्देह नहीं कि गोरखनाथ के संदेश और उनकी साधना में रामानन्द और कबीर द्वारा प्रवर्तित संत-साधना के बीजांकुर मिल जाते

हैं। वाक्संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आन्तरिक शुद्धि और मद्य-मांसादि बहिष्कार ये ऐसे तत्त्व हैं जो परवर्ती संतों में भी उसी प्रकार स्वीकृत हैं। कठोर ब्रह्मचर्य और कष्टकृच्छ्र योगसाधना का स्थान शीलमय गृहस्थ-जीवन और भक्तिभाव ने ले लिया है। संत-साहित्य में भक्तों की गलिदाश्रु भावुकता भी आगई है, परन्तु उसमें आचरणशुद्धि और सामाजिक क्रांति का जो बलिष्ट सुर है वह गोरखनाथ की ही देन है।

रामानन्द और कबीर—पूर्व मध्ययुग में रामानन्द और कबीर के व्यक्तित्व कदाचित् सबसे अधिक प्रभावशाली हैं। हिंदी साहित्य की निर्गुण और सगुण काव्य-धाराओं को हम तुलसीदास और कबीर के माध्यम से रामानन्द से ही सम्बन्धित पाते हैं। वस्तुतः मध्ययुग के भक्ति-आंदोलन में रामानन्द का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। रामानन्द का समय १२९९ ई० या १३०० ई० से १४१८ ई० तक कहा जाता है। वह प्रारंभ में रामानुज के श्री सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे। रामानुज ने अपने श्रीभाष्य में विष्णु के विभवों अथवा अवतारों में राम को भी स्थान दिया है और अनेक सगुणोपासना-प्रधान ग्रंथों का प्रणयन उनके सम्प्रदाय में हुआ। अगस्त्य-संहिता, कालिराघव, बृहद्राघव, राघवीय संहिता, रामपूर्वतापनीय उपनिषद्, रामोत्तरतापनीय उपनिषद् और रामरहस्योपनिषद् इस सम्प्रदाय के ऐसे मान्य ग्रंथ हैं जिनका उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलता है। इनमें सबसे प्राचीन ग्रंथ कदाचित् राम-तापनीय उपनिषद है जिसका समय ईसा की ११ वीं शताब्दी माना जाता है। यह कहना कठिन है कि रामानन्द के पूर्व रामभक्ति का क्या रूप था, परन्तु यह निश्चित है कि उन्होंने इस धारा को विशेष बल दिया, और निर्गुण धारा से भी राम का सम्बन्ध जोड़ा। उनके अधि-कांश तथाकथित ग्रंथ सगुण रामभक्ति से सम्बन्धित हैं जैसे वैष्णव-मताब्ज भास्कर, श्रीरामार्चन-पद्धति, रामरक्षास्तोत्र। हनुमान की प्रार्थना

में उनका एक पद भी हमें प्राप्त है। परंतु 'आदिग्रंथ' में उनके दो पद ऐसे भी मिलते हैं जिनमें निर्गुण विचारधारा के बीज वर्तमान हैं। इसमें संदेह नहीं कि रामानन्द में भक्तिवाद और योगवाद का विचक्षण समन्वय उपस्थित था और उनकी योगपरक विचारधारा ही रामपरक बनकर निर्गुणवाद के रूप में प्रचलित हुई।

वस्तुतः रामानन्द से कुछ पहले ही महाराष्ट्रप्रदेश में एक स्वतंत्र विचारधारा का जन्म हो गया था जिसका क्रमिक विकास हमें नामदेव (११९२-१२७२), ज्ञानेश्वर (११९७-१२७८), राघवानन्द (१२७५ के लगभग) और रामानन्द (१२९९-१४१८) में मिलता है। इस विचार-धारा को संतों की विचारधारा कहा गया है और इसके बीजतत्त्व इस प्रकार हैं—

१—ब्रह्म निर्गुण है। 'हरि', 'मुरारी', 'राम' उसी ब्रह्म के नाम हैं। वही 'भगवान' है, 'गोविंद' है।

२—गुरु 'रमता ब्रह्म' है। सद्गुरु की खोज करो। वह (आध्या-त्मिक) दुःखदारिद्र्य को दूर करेगा।

३—ब्रह्म घट-घट व्यापी है।

४—संसार सत्य है। वह ब्रह्म का प्रपंच, लीला-मात्र है। असल में वह नहीं है।

५—जीव ब्रह्म है। जैसे जल-तरंग, फेन-बुद्बुद्।

६—हठयोग, ध्यान, खेचरी, प्राणायाम, ऊर्ध्वतत्त्व, कुंडलिनी योग चाहे उपादेय हों, परन्तु वह साधक को बहुत आगे नहीं ले जाते।

७—बाह्याचार—चाहे वह भस्म हो, या तीर्थयात्रा, या तुलसी-माला-चन्दन, सब व्यर्थ है, असार है।

८—सन्त चमत्कार में विश्वास नहीं करता।

९—सन्त जोगियों जैसे महंती अखाड़े नहीं बनाता, कंथा-भर उसका अवलंबन है। संतोष उसका धन है।

१०—सबसे प्रधान साधन है नामस्मरण।

११–प्रभु को जानने के लिये दूर नहीं जाना है। जो पिंड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। इसी मनुष्य-शरीर के भीतर परमात्मा का निवास है। इसी माया में नवनिधि की प्राप्ति होती है। यहीं देव, देवल, धूप-दीप-नैवेद्य सभी कुछ हैं। जो खोजता है, वह पाता है।

१२–कमलापति, राजा रामराम, निरंजन, पूरन परमानन्द, गोविंद उसी ब्रह्म के नाम हैं। इस (ब्रह्म) राम की भक्ति ही परम साधना है।

१३–इस भक्ति का रूप विरह-प्रधान है।

रामानन्द और उनके शिष्यों की जो रचनाएँ हमें प्राप्त हैं, उनके सहारे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि रामानन्द योग-भक्ति और सगुण-निर्गुण धाराओं के संगम पर खड़े थे। उनका झुकाव निर्गुण धारा की ही ओर था। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक रहा होगा और उन्होंने जाति-पांति और कर्मकांड का जो विरोध किया, उसने उनके चारों ओर ऐसे व्यक्तियों को इकट्ठा कर दिया जो सभी वर्गों के थे–मुख्यतः हीन वर्ण–परन्तु थे बड़े प्रतिभाशाली। इनके व्यक्तित्व और इनकी साधना ने शीघ्र ही निर्गुण मत को सारे भारत का सामान्य धर्म बना दिया। यह अवश्य है कि इस समय वैष्णव सगुण भक्तिधारा भी आचार्यों, महात्माओं और सवर्णों का बल पाकर चलती रही, परन्तु १६ वीं शताब्दी तक उसे निर्गुण धारा के सामने निर्बल रहना पड़ा। १६ वीं शताब्दी में महाप्रभु वल्लभाचार्य, चैतन्य और महात्मा तुलसीदास के के व्यक्तित्व और प्रचार के कारण सगुण भक्तिधारा प्रबल पड़ गई और उसने संतधारा की अनेक विशेषताओं को ग्रहण कर लिया।

रामानन्द के अनेक शिष्य रहे होंगे, परन्तु उनमें बारह प्रसिद्ध हैं। अनन्तानन्द, सुरेश्वरानन्द, सुखानन्द, नरहरियानन्द, योगानन्द, महानन्द गालवानन्द, पीपा, सेना, धना, रैदास, कबीर और पद्मावती। इनमें 'आनन्द' नामधारी शिष्य सगुण रामोपासक थे। शेष छः निर्गुणवादी। निर्गुणवादी शिष्यों में रैदास और कबीर का साहित्य ही हमें अधिक मात्रा में मिलता है। 'आदि ग्रंथ' में पीपा, सेना और धना के भी कुछ

पद उपलब्ध हैं। परन्तु उनकी संख्या अधिक नहीं है। इनमें धना (ज० १४१५ ई०) जाट थे और धुवान (देवली, राजपूताना) के निवासी, पीपा (ज० १४२५) गगरौनगढ़ के अधिपति, सेन बाधोगढ़ (रीवाँ) के राजा राजाराम की सेवा में नियुक्त नाई। रैदास चमार और कबीर मुसलमान जुलाहा थे और दोनों का अधिकांश जीवन काशी में बीता। ये दोनों समकालीन थे और इनका समय १३९८ ई० से १५१८ ई० तक माना जा सकता है। ये दोनों ही अपने समय में बड़े प्रभावशाली रहे और इनकी मृत्यु के बाद रैदासी और कबीर पन्थ नाम के सम्प्रदाय ही चल पड़े। इनमें कबीरपंथ अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं में फूला और उसने पूर्वी भारत, मध्यभारत और गुजरात को विशेष रूप से प्रभावित किया। परन्तु कबीर की विचारधारा मध्ययुग के और भी अनेक सम्प्रदायों में पल्लवित हुई और सामूहिक रूप में उसने एक महान् आन्दोलन का रूप ग्रहण किया।

कबीर (१३९८–१५१८) के जीवनवृत्त और उनकी पारिवारिक स्थिति के सम्बन्ध में आज हम कुछ अधिक जानते हैं और हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उनका जन्म और पोषण मुसलमान कुल में हुआ। सम्भव है कि उनके कुल का सम्बन्ध किसी जोगी सम्प्रदाय से रहा हो। इन जोगियों के बहुत-से संस्कार ऐसे थे जो मुसलमानों से अभिन्न थे और इस कुल को धर्मान्तरित होने में कोई विशेष असुविधा नहीं हुई होगी। वे वर्णाश्रम नहीं मानते थे, मृतक का दाह नहीं करते थे, बल्कि पृथ्वी में गाढ़ देते थे। गुरुमन्त्र, तीर्थ, पूजा, प्रार्थना, सब उन्हें अस्वीकार थे। कदाचित् कबीर के बालपन में ही उनके माता-पिता बनारस में आकर रहने लगे थे और यह सम्भव है कि किशोरावस्था में ही कबीर रामानन्द से प्रभावित हो गए हों। सहिष्णुता, रक्तपात, धार्मिक-विद्वेष और नैतिक अराजकता के उस युग में कबीर जैसे भावुक का अंतर्द्वन्द्व स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है। कदाचित् वैष्णव रामानन्द के प्रभाव को नष्ट करने के लिए ही उन्हें शेख़ तक़ी की सेवा में उपस्थित किया

गया होगा। मुसलमानों में किंवदन्ती है कि २६–३० वर्ष की अवस्था में कबीर शेख़ तक़्क़ी के शिष्य हुए और इसके एक ही वर्ष बाद शेख़ तक़्क़ी का देहान्त होगया। यह भी सम्भव है कि शेख़ तक़्क़ी कबीर जैसे स्पष्टवादी और जिज्ञासु को पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं कर सके हों। जो हो, यह स्पष्ट है कि कबीर ने रामानन्द के प्रभाव को स्वीकार किया, परन्तु उनके व्यक्तित्व में छनकर उनकी वाणी का जो रूप हमारे सामने आता है उसका अपना व्यक्तित्व है।

कबीर की रचनाओं के दो पक्ष हैं। एक को हम साधनापक्ष कह सकते हैं। कबीर की साधना में उत्कृष्ट वैष्णव भक्ति, औपनैषदिक, कैवल्यभाव और सूफ़ियों की 'प्रेम की पीर' का पूर्ण समन्वय मिलता है। रामानन्द के सभी शिष्य निर्गुणिये थे। सभी अहैतुक-भक्ति को प्रधानता देते हैं, मूर्तिवाद के विरोधी हैं और नाम-स्मरण को महत्त्व देते हैं। रामानंद में योग, भक्ति और सगुण-निर्गुण मतवादों का पूर्ण संगम है, परन्तु उनका झुकाव निर्गुण की ओर ही था। कबीर में यह संगम और भी स्पष्ट है। उनमें रामनंदी भक्ति तो पूर्ण रूप से विकसित हुई ही है, परन्तु साथ ही योग और सूफ़ी साधनाओं में भी बहुत कुछ ग्रहण किया गया है। रामानंद के अन्य शिष्यों में सूफ़ी भावना के दर्शन नहीं होते और न वे कबीर की भाति राम-रहीम की एकता के उपासक, मूर्ति-पूजा के विरोधी और हिन्दू-मुस्लिम कर्मकाडों के आलोचक हैं। परंतु कबीर के व्यक्तित्व के यही अंग उन्हें युग-पुरुष बना देते हैं। उनके साहित्य में हमें संस्कृत और फ़ारसी के आध्यात्मिक काव्य के गहरे से गहरे तत्त्व मिल जायेंगे, परन्तु कबीर की विशेषता यह है कि उन्होंने अध्ययन से नहीं, सत्संग के द्वारा उन्हें प्राप्त किया और स्वयं उनके काव्य में जनता की शैली और जनजीवन के अलंकारों से सजकर उन साहित्यगर्भित सिद्धांतों का साधारणीकरण हो गया है। सच तो यह है कि वेदांत (ब्रह्म-जीवैक्य) तत्त्व और आध्यात्मिक मिलन-वियोग का जितना भावपरक, सूक्ष्म और प्रभावशाली वर्णन कबीर के काव्य में हुआ है, उतना उच्च-कोटि के

संस्कृत और फ़ारसी के आध्यात्मिक साहित्य में भी नहीं। इसमें संदेह नहीं कि वे हिमालय से विन्ध्याचल और पंजाब से भागलपुर तक फैले हुए विशाल जनसमुदाय के सर्वप्रथम गायक हैं। वे हमारे पहले जन-कवि हैं। उनके साहित्य का एक दूसरा पक्ष सामाजिक जीवन से सम्बन्धित है और वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। कबीर का युग सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में उच्छृङ्खलता का युग था। एक ओर थे हिंदू और एक ओर थे मुसलमान। कबीर ने दोनों धर्मों के विरोध के तत्त्वों का परिहार कर उनकी समानता की ओर इंगित किया। उन्होंने जहां मुसलमानों की हिंसावृत्ति की निन्दा की, वहां हिंदुओं की छुआछूत की भी भर्त्सना की। जहां एक ओर काज़ी संसार के जीवों में अल्लाह के नूर का प्रसार मानता है, वहां वह हिंसा करते हुए भी संकोच नहीं करता। यह इस्लाम धर्म और पैग़म्बर के उपदेशों की कैसी विडम्बना है। उधर हिंदू ब्राह्मण है जो ब्रह्मवाद को मानता हुआ भी स्पृश्य-अस्पृश्य मानता है। कबीर ने कहा—

माटी एक अनेक भांति कर साजी भाजनहारै।
ना कछु पोच माटी के भाडे ना कछु पोच कुँभारै॥

इस शरीर से, जन्म से, व्यवसाय से—किसी भी भांति से क्या मनुष्य-मनुष्य में भेद हो सकता है? इस शरीर का क्या गर्व? मिट्टी-मिट्टी में भेद कैसा? मध्ययुग में यह बात कितनी क्रांतिकारी थी, आज के साम्यवाद और विश्वबन्धुत्व के युग में हम नहीं समझ सकते। कबीर की विशेषता यह है कि उन्होंने धार्मिक और सामाजिक वैषम्य के उस युग में अत्यन्त आत्मविश्वास के साथ मनुष्य-मनुष्य की समानता की बात उठाई। उन्होंने मनुष्यता की सामान्य भूमि की ओर संकेत किया।

इसमें सन्देह नहीं कि यह मध्ययुग का सबसे बड़ा और सबसे अधिक क्रांतिकारी सन्देश था। रहस्यवादी कवि और साधक अपने युग के सबसे प्रगतिशील और क्रांतिकारी व्यक्ति रहे हैं और भारतीय रहस्यवादी (सूफ़ी-संत) साधकों के सम्बन्ध में यह बात और भी दृढ़ता से कही जा सकती है। रहस्यवादी सूफ़ी-संतों का धर्म धर्म की किसी भी स्वीकृत रूढ़ि

पर आधारित नहीं था। वह साधक का अपना निजी सम्बन्ध था। अतः उसमें ब्राह्मण-पुरोहित, मुल्ला-काज़ी और भेद डालने वाले कर्मकांडों और वाह्याचारों का किंचित् भी स्थान नहीं था। उसमें मूलभाव को पकड़ने की विचित्र क्षमता थी। फलतः समाज-धर्म के सम्बन्ध में उसकी दृष्टि अकुंठित थी। संतों और सूफ़ियों ने अपनी आध्यात्मिक साधना को जीवन के महास्रोत से छिन्न-भिन्न नहीं किया। उन्होंने उसे जीवन के महान् नैसर्गिक उपकरणों के समान सहज सुलभ और प्रिय बना दिया। जब उन्होंने वाह्याचारों, रूढ़ियों और वाद-विवादों की व्यर्थता समझ ली तब वे चुप नहीं रहे। उन्होंने मनुष्य-मात्र की समानता की घोषणा की और मनुष्य के युग-प्राचीन बंधन तोड़ डाले। हिंदी कविता में मानव-मन की सर्वमुक्ति का यह चरण सचमुच ही बेजोड़ है।

कबीर की यह विचारधारा यद्यपि मूल रूप में रामानंदी निर्गुणी विचारधारा थी परंतु उसका व्यक्तिगत सुर उनकी अपनी चीज़ था। धन्ना, पीपा, सेन और रैदास भी रामानंद के शिष्य और कबीर के गुरुभाई थे। इनमें से रैदास को छोड़कर शेष सन्तों की बहुत थोड़ी रचनायें हमें प्राप्त हैं। रैदास भी कबीर की तरह काशी के निवासी थे परंतु उनके मतवाद को राजस्थान और गुजरात में अधिक मान्यता मिली। परवर्ती युग में उत्तर-भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक अनेक-अनेक साधकों ने यह सत्य की खोज जारी रखी। नानक (१४६९-१५३४), दादू (१५४४-१६०३), लालदास (मृ० १६४८)। दादालाल (आ० १६४९), हरिभानु (आ० १६०३), धरनीदास (ज० १६७६), मलूकदास (१६३१-१७३९), चरणदास (१७०३-१७८२), गरीबदास (१७१७-१७८२), पलटूदास (आ० १७९३), प्राणनाथ (आ० १५५३), रामचरण (ज० १७८०) और तुलसीदास (हाथरस वाले निर्गुणी सत्य, ज० १७८८) कबीर की साधना और उनके क्रांतिकारी संदेश को १९ वीं शताब्दी के आरंभ तक ले जाते हैं। कदाचित् संसार के किसी भी साधक ने जनमन पर इतना प्रभाव नहीं डाला। इन परवर्ती साधकों ने जहाँ

अध्यात्मभाव में ऊँचे से ऊँचे तत्त्वों का आविष्कार किया, वहाँ उन्होंने जन-जीवन को भी परिष्कृत किया और समान भाव से मानव-मात्र की धर्मोपरिता और महिमा के गीत गाये। आडम्बरों और जाति-कुल वर्णगत भेद-भावों के लिये ये साधक बराबर चुनौती देते रहे। उन्होंने कभी भी रूढ़ियों और परंपराओं से समझौता नहीं किया। २५० वर्षों तक जनता के अल्पसंस्कारी हीन-वर्ण का नेतृत्व कबीर और इन परवर्ती साधु-संतों की तेजमय वाणी ने ही किया।

एक तरह से हम देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुग की औपनैषदिक चिंता को कबीर ने नया रूप दिया। आचार्यों और विद्वानों ने अनेक प्रकार से उपनिषदों की व्याख्या की और उनके तत्त्ववाद के संबंध में अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित किये परंतु उपनिषद् तो जीवन-दर्शन हैं। वह केवल-मात्र तत्त्वचिंता नहीं है। उसे वही समझता है जो उपनिषद् का जीवन जीता है। मध्ययुग में कबीर, दादू और अन्य अनेकानेक संतों ने इस प्रकार का जीवन जिया। यही उनका लक्ष्य था। कबीर ने बड़े ज़ोर से कहा कि वे जो घोषित कर रहे हैं वह काग़ज़ पर लिखी, शास्त्रोन्मोदित चीज़ नहीं है, वह आँखों देखी चीज़ है, स्वसंवेद्य है। आँखों देखी चीज की सारी शक्ति देकर उन्होंने अपने संदेश को उपस्थित किया। परंतु फिर भी उनके संदेश में ऐसा बहुत कुछ है जो बे-कहा रह गया है और आश्चर्य का विषय यह है कि यह बे-कहा कबीर की रचनाओं में ऐसी शक्ति में व्यंजित है कि हमें उसके सम्बन्ध में किंचित् भी मतभेद की गुंजाइश नहीं है। कबीर ही क्यों, दादू, रज्जन, नानक और अनेकानेक संत-साधकों में यही व्यंजित गूढ़ सत्य के प्रकाश से उद्भासित हो उठा है। मध्ययुग की यह निर्गुणी धारा औपनैषदिक चिंता और साधना का प्रतिनिधित्व करते हुए भी समसामयिक अनेक धाराओं और चिंतनाओं को समाविष्ट करने के कारण नूतन हो गई हैं और अभी आधुनिक काल के आरंभ तक उसकी मौलिकता और क्रांति का कोष कम नहीं हो गया था।

विद्यापति

सरहपा (७६० ई०) से लेकर विद्यापति (१३७५-१४५०) तक हमें ऐसे अनेक महानुभवों के दर्शन होते हैं जिन्होंने हिंदी में कविता की। चौरासी सिद्ध, नवनाथ, अनेक सामंती कवि, चारण और जैन मुनियों का काव्य हिंदी कविता के आदि युग की महत्वपूर्ण निधि है। इस काव्य के द्वारा हम अनेक प्रकार की साधनाओं और लोक भावनाओं से परिचय प्राप्त करते हैं। गोरखनाथ जैसे साधक हमारे सामने आते हैं जिन्होंने अपने युग की जनता को तो प्रभावित किया ही परंतु जिनका तेज कई शताब्दियों बाद तक हिंदी प्रदेश की जनता और हिंदी काल को प्रभावित करता रहा। परंतु ये साधक, वीर काव्य प्रणेता और लोकनेता केवल-मात्र काव्य को अपना ध्येय नहीं बनाते। काव्य उनके लिए स्वतः साध्य नहीं है, वह साधन-मात्र है। उनकी वाणी में कल्पना, साहित्यकला और भाषा की उस भंगिमा का परिचय नहीं मिलता जो कविता का प्राण है। हिंदी कविता पर ऐतिहासिक-दृष्टि डालने पर हमें सबसे पहले विद्यापति का काव्य ही ऐसा मिलता है जो शुद्ध काव्य की भूमि पर पड़ा है और जो काव्य तत्त्वों से पूर्णतया ओत-प्रोत है। उसने मध्ययुग के सारे परवर्ती कृष्णकाव्य को प्रभावित किया है और केवल यही एक बात उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करने में समर्थ है।

विद्यापति के समय तक पूर्व में वैष्णव भावना का काफ़ी विकास हो चुका था और जयदेव के गीत-गोविंद, भागवत पुराण और ब्रह्मवैवर्त पुराण की जनता और पंडितों में बड़ी मान्यता थी। ये पूर्वी प्रदेश शैवों, शाक्तों, वामाचारियों, तांत्रिकों और सहजियों के केन्द्र थे। बौद्ध-धर्म का जन्म और विकास इन्हीं क्षेत्रों में हुआ था और कोई भी नई साधना बौद्ध-धर्म के परवर्ती विकास से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती थी। फलतः पूर्व की वैष्णव भावना में महायान, वज्रयान और मंत्रयान के अनेक तत्वों को स्थान मिल गया। यही क्षेत्र निर्गुण भावना के भी केन्द्र रह चुके थे और कदाचित् इसी कारण मध्ययुग की वैष्णव भावना

निर्गुण भावना को समेटकर चलती है और विद्यापति जैसे कवियों के काव्य में ऐसे अनेक स्थल मिल जाते हैं जिनमें स्पष्ट रूप से निर्गुण भावना प्रतिध्वनित है। स्वयं विद्यापति शैव थे। मिथिला शैवों का गढ़ रहा है। अब भी है। फलतः विद्यापति के काव्य में राधाकृष्ण कथा के भक्तिभाव, निर्गुण भावना और शैवभक्ति-साधना की त्रिवेणी बह रही है। युग की सारी पृष्ठभूमि को लेकर ही हम विद्यापति के काव्य के अंतरतम में प्रवेश कर सकते हैं।

विद्यापति के काव्य के अध्ययन से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि जहाँ तक राधा-कृष्ण पदावली का सम्बन्ध है, वहाँ तक यह निश्चित है कि उसमें साहित्य के सुर की प्रधानता है भक्तिभाव की नहीं। बाद में चैतन्य महाप्रभु की छाप पाकर विद्यापति के पद भक्तिभाव परक समझे जाने लगे और विद्यापति—साहित्य रसिक पंडितकवि—वैष्णवभक्त रह गये, परन्तु ऐतिहासिक अनुसंधान यह स्पष्ट कर देते हैं कि शैवभक्त मिथिला-केन्द्र से राधाकृष्ण-सम्बन्धी भक्तकाव्य की आशा असंभव है। जान पड़ता है जयदेव के 'गीत गोविंद (११९१) की गीति-माधुरी और उसके विषय ने विद्यापति के काव्यरसिक और पंडितहृदय को आकर्षित किया और उन्होंने राधाकृष्ण के मिलन और वियोग की कथा को शृङ्गारकाव्य की मान्यताएं देकर उपस्थित कर दिया। इस क्षेत्र में वे 'काव्यप्रकाश' (मम्मट) के ऋणी दिखलाई पड़ते हैं। 'काव्यप्रकाश' की एक ऐसी प्रति हमें प्राप्त है जो विद्यापति के लिए लिखवाई गई थी। 'सद्यस्नाता', 'पूर्वराग', 'वयःसन्धि' आदि के प्रसंगों का 'काव्यप्रकाश' में स्पष्ट निर्देश है, 'पदावली' में भी इन प्रसंगों को प्रधानता मिली है। जो हो, यह स्पष्ट है कि वयःसन्धि, पूर्वराग, दूती-प्रसंग, अभिसार, मान, मानमोचन, मिलन, विप्रलंभ द्वारा विद्यापति ने प्रेमविकास के सम्बन्ध में शास्त्रीय रूढ़ियों को ही मान्यता दी है। जयदेव में राधा को अष्टनायिका के रूप में उपस्थित किया है और उसमें अभिसार, मान, मानमोचन और क्रीड़ा-विलास (रास) के प्रसंग हैं, परन्तु उनकी चित्रपटी अपेक्षाकृत छोटी

है और उन्होंने साहित्य-शास्त्र की अपेक्षा काव्यानुभूति को अधिक प्रधानता दी है। विद्यापति विदग्ध कवि थे, पंडित थे, राजसभा को लुभानेवाली रसिकता से वे परिचित थे। इसी से उनके काव्य में पूर्ववर्ती और परवर्ती सामंती-काव्य का स्फुरण ही अधिक है।

विद्यापति के राधाकृष्ण के शृङ्गार-पदों की संख्या ५०० के लगभग है। इन पदों में उपमा, अपन्हुति, व्यतिरेक, रूपक और उत्प्रेक्षा का जैसा सौन्दर्य है, वह अप्रतिम है। परन्तु अलंकार से बाहर भी बहुत कुछ है, जो और भी महत्वपूर्ण है। विद्यापति अतीन्द्रिय सौन्दर्य और प्रेम के उपासक हैं, परन्तु वह वासनाजन्य सौन्दर्य और प्रेम को पारमार्थिक-सौन्दर्य और प्रेम का प्रारम्भिक रूप मानते हैं। वस्तुतः कवि ने सारी चराचर सृष्टि को सौन्दर्य और प्रेम के अलौकिक पाश में बँधा देखा है। कवि के सौन्दर्य की कल्पना इतनी सूक्ष्म है कि वह नायिका (राधा) की पकड़ में ही नहीं आता। राधा सखी से कहती है—

सखी कि कहब किछु नहि फूर
सपन कि परतेख कहय न पारिय
किये निकट किये दूर

भावातिरेक से प्रेमी को आश्चर्य होने लगता है कि जिस सौन्दर्य के उसने दर्शन किये हैं वह सपना है या प्रत्यक्ष सत्य है—वह निकट है, या दूर है। यह सौन्दर्य नेत्रों में बन्द कर लेने की चीज़ नहीं है, इससे तृप्ति सम्भव ही नहीं। राधा कहती है—

जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरिपित भेल,
लाख-लाख जुग हिय-हिय राखलि
तैयउ हिय जुड़ल न गेल

—'जन्म भर हम उसकी रूप-माधुरी का पान करते रहे, परन्तु नयनों को तृप्ति नहीं मिली। लाख-लाख युगों तक उसे हृदय में रखने पर भी मन भर नहीं सकेगा।' सौन्दर्य की तरह प्रेम भी अलौकिक है। वह

'गूँगे का गुड़ है'—उस अनुभव को कैसे बताया जा सकेगा जो प्रत्येक क्षण नूतन बना रहता है—

सखि कि पूछसि अनुभव मोर
न हो पिरीत अनुराग बखानिय
तिल-तिल नूतन होय

इस प्रेम की पराकाष्ठा वहाँ है जहाँ माधव का स्मरण करते करते राधा स्वयं माधव हो जाती है—

अनखन माधव माधव सुमिरियत
सुन्दरि भेलि मधाई,
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल
अपने गुण लुब्धाई

इसमें सन्देह नहीं कि राधा-कृष्ण कथा के माध्यम से कवि ने सौन्दर्य और प्रेम-भाव की सर्वश्रेष्ठ भंगिमाएँ उपस्थित की हैं। वयः सन्धि के तीव्र उन्माद को कवि ने धीरे-धीरे विप्रलम्भ के ताप से तपाकर विशुद्ध अतीन्द्रिय प्रेम-भाव—विशुद्ध आत्मसमर्पण—बना दिया है। राधा-नागरि और नट-नागर श्याम की यह प्रथम रूप-माधुरी, यह अप्रतिम वचन-चातुरी, यह हासोल्लास, यह विरह-दीप्ति हमें आज भी मुग्ध करने में समर्थ है। जयदेव के गीतों में जिस माधुर्य-भाव की प्रतिष्ठा है, उनमें जो भाव-सुकुमारता और रस-विदग्धता है, जो पद लालित्य है, वह तो विद्यापति में है ही, परन्तु साथ ही सामन्ती-कला के तीव्र आकर्षक रंग भी उस पर चढ़े हैं और कवि की सभा-चातुरी, वचन-विदग्धता और भाव-विभोरता ने उसके काव्य को जयदेव के काव्य से भी कहीं अधिक मार्मिक बना दिया है। यही कारण है कि परवर्ती युग में कवियों और साधकों ने जयदेव के स्थान पर राधा-कृष्ण का नेतृत्व उन्हें दे दिया। इस नेतृत्व का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि सूरदास ने राधाकृष्ण-कथा को पर्याप्त मौलिकता से विकसित करते हुए भी उसमें वे सभी तत्व समाविष्ट कर दिये हैं जो विद्यापति के काव्य का गौरव हैं। एक ओर हिन्दी (ब्रज) के

कवियों ने उनसे अपने राधाकृष्ण-सम्बन्धी काव्य के लिए सूत्र ग्रहण किये, दूसरी ओर मिथिला और बंगाल में उन्हें लेकर वैष्णव-काव्य की एक लम्बी परम्परा चल पड़ी, जो रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक बराबर चली आती है। कालिदास और चॉसर को हम कवि-गुरु कहते हैं—परवर्ती कितने ही कवियों ने अपने काव्यादर्श उन्हीं से ग्रहण किये। उसी प्रकार विद्यापति को भी हमें कविगुरु कहना होगा। मध्ययुग के किसी भी कवि ने हमारी काव्य-परम्परा पर इतना अधिक, व्यापक और युग-विस्तृत प्रभाव नहीं छोड़ा। केवल भक्तकाव्य ही विद्यापति का ऋणी नहीं है, रीति-काव्य के वचन-वैदग्ध, उसके नायिका-भेद, उसके काव्य-स्फुरण को हम पहले-पहल विद्यापति में ही पाते हैं। इस तरह विद्यापति मध्ययुग की दो प्रमुख साहित्य-धाराओं के पूर्व-पुरुष बन जाते हैं। वही प्राचीन सामन्ती-युग और भक्तिप्रवण मध्ययुग को जोड़ने वाली कड़ी हैं। उनके काव्य में लोक-चर्चा और अध्यात्म, लौकिक और पारलौकिक, नर-काव्य और देव-काव्य की सीमाएँ इस तरह संश्लिष्ट हो गई हैं कि आज उन्हें अलग करना असम्भव है।

विद्यापति से पहले भागवत, हरिवंश और ब्रह्मवैवर्त-पुराण कृष्ण-कथा के आश्रय थे और यह निश्चित है कि विद्यापति इन स्रोतों से परिचित हैं। परन्तु कृष्ण-कथा को उन्होंने अपने ही ढंग पर विकसित किया और प्रमुख रूप से जयदेव के 'गीति-गोविंद' को अपना आधार बनाया। सम्भव है, इस दिशा में उस युग के लोक-गीतों ने भी उन्हें सहारा दिया हो। विद्यापति से कुछ पहले उमापति अपने कृष्ण-सम्बन्धी संस्कृत नाटक में मैथिली गीतों की रचना कर चुके थे। 'गीत-गोविंद' में केवल एक प्रकरण ऐसा है जिसमें मात्रिक छन्दों का प्रयोग है। सम्भव है, यह लोक-गीतों के अनुकरण में लिखा गया हो। पुष्पदंत (९५९-९७२) के उत्तर-पुराण में हमें कृष्ण-लीला का वह लोकप्रिय रूप मिलता है जो बाद में मध्ययुग के कवियों और भक्तों के द्वारा हमारे सामने आया। उसमें प्रबन्ध-काव्य के अनुसार कथा का एक उदात्त रूप प्रकाशित हो सका

है, परन्तु यह स्पष्ट है कि १००० ई० के लगभग लोकभाषा (अपभ्रंश) में गोपीकृष्ण-लीला को विषय बनाकर जनप्रिय रचनाएँ उपस्थित हो गई थीं। 'प्राकृत पैंगल' (१३वीं शती का पूर्वार्ध) में जो रचनाएं संग्रहीत हैं उनमें से कुछ रचनाओं में कृष्ण को 'भुवण अनन्दो तिहुअण कन्दो' (भुवन अनन्दा त्रिभुवन कन्दा) कहा गया है। एक पद इस प्रकार है—

जिणि कंस विणासिअ कित्ति पसाअिअ,
मुट्ठि-अरिट्ठि विणास करे, गिरि हत्थ धरे।
जमलज्जुण भंजिअ पअभर गंजिअ,
कालिअ-कुल संहार करे, जस भुअण भरे॥
चाणूर विहडिअ णिअ-कुल मंडिअ,
राहा-मुह महुपाण करे, जिमि भमर अरे।
सो तुम्ह णराअण विप्प-पराअण,
चित्तह चिंतिअ देउ वरा भअ-भीअ-हरे॥

इसमें कृष्ण की जीवन-गाथा के दो पक्षों की ओर स्पष्ट निर्देश है। एक पक्ष असुरवध, कालियदमन और गोवर्धन-धारण से सम्बन्धित है। दूसरा पक्ष कृष्ण की शृङ्गार-लीला है। भागवत में यह शृङ्गार-लीला गोपियों तक ही सीमित है, परन्तु पद में राधा की चर्चा है। जान पड़ता है, लोक-गीतों और लोक-कथाओं में राधामाधव-लीला का प्रारम्भिक रूप १०वीं शताब्दी में ही स्थापित हो गया था। इसी से विद्यापति के काव्य में उसका विशद् विस्तृत रूप हमें प्राप्त होता है। स्वयं विद्यापति ने उसे साहित्य-शास्त्र के स्पर्श से महामहिम और सरस बनाया है।

खुसरो और अन्य मुसलमान कवि

हिंदी प्रदेश में मुसलमानों का प्रवेश १२ वीं शताब्दी के अंत में हुआ, यद्यपि सातवीं शताब्दी के अंत और आठवीं शताब्दी के आरम्भ में ही दक्षिण भारत और सिंध इनसे परिचित हो चला था। अरब के मुसलमानों ने आलोर और मुलतान को ७१२-१३ के लगभग विजय कर लिया था, परंतु उत्तर-पश्चिम के मार्ग से मुसलमान सेनाएं ११ वीं

शताब्दी के आरम्भ में ही आई। १०२३ ई० में महमूद ग़ज़नवी ने लाहौर को अपने मुसलमान साम्राज्य में मिला लिया। परन्तु मध्यदेश का राजदंड अब भी सशक्त था और १५०-२०० वर्षों तक आक्रमणकारी विदेशी मुसलमान-सत्ता देश के हृदय पर अपना अधिकार जमाने में असफल रही। ११९२ ई० की पृथ्वीराज की पराजय के बाद दिल्ली, अजमेर और कन्नौज इस्लामी-शासन के अंतर्गत आगये और शताब्दी का अंत होते-होते गौड़ और नवद्वीप तक मुसलमान-साम्राज्य का एक-मात्र शासन स्थापित हो गया। परंतु उत्तर भारत को पूर्णतया पराजित होने में लगभग एक शताब्दी का समय और लगा। तेरहवीं शताब्दी के अंत में मालवा और गुजरात और चौदहवीं शताब्दी के मध्य में मिथिला के हिंदू-शासक अपना अधिकार खो बैठे और कालिंजर एवं राजस्थान के कुछ राज्यों को छोड़कर शेष उत्तर भारत नई शक्ति से पराभूत हुआ।

१०२३ ई० के लगभग जब लाहौर पर इस्लामी राज्य का झंडा लहराने लगा, तब इस्लाम-धर्म के प्रचारकों ने उसे अपना केन्द्र बना लिया। दक्षिण-पंजाब का एक दूसरा महत्वपूर्ण केन्द्र पाकपट्टन था। बलख़-बुख़ारा और तुर्किस्तान आदि मध्य-एशियाई प्रदेशों से प्रसिद्ध सूफ़ी साधक भारत में आए और उन्होंने अपने प्रचार के कार्य को आगे बढ़ाया। ये सूफ़ी-साधक प्रेम के प्रचारक थे और चमत्कारों का एक अत्यंत आकर्षक वातावरण उन्हें घेरे हुए था। हिंदी-प्रदेश में इस्लामी-शासन के स्थापित होने से भी पहले हिंदीजन इनसे परिचित हो चले थे। ११४२ ई० के लगभग मुईउद्दीन चिश्ती ने अजमेर को अपना निवास-स्थान बनाया और उनके शिष्य-प्रशिष्य शीघ्र ही सारे पश्चिम भारत में फैल गये। दिल्ली में केन्द्रीय इस्लामी-शासन की स्थापना के बाद इनका कार्यक्षेत्र और भी बढ़ा और कुछ समय बाद भारत-व्यापी हो गया।

प्रारम्भिक हिंदी-साहित्य के निर्माण में इन साधकों का बड़ा योग है। नवीं शताब्दी में मुसलमानों के भारतवर्ष में आ जाने और कुछ दिनों पंजाब और पश्चिमी हिंदी-प्रदेश में बस जाने के कारण भाषा के सम्बन्ध

में एक नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई। उस समय सारे उत्तर-पश्चिम भारत और राजस्थान में एक सामान्य भाषा का व्यवहार चल रहा था। इसका मुख्य ढाँचा नागरी (शौरसेनी) अपभ्रंश का था, परंतु उसमें मागधी, पैशाची और महाराष्ट्री अपभ्रंश के अनेक तत्व भी ग्रहीत थे। राजस्थान और गुजरात में इसका प्रयोग होने के कारण अनेक राजपूत-गूर्जर-ध्वनियों का भी समावेश हो गया था। इसे हम प्राचीन हिंदवी या प्राचीनतम खड़ीबोली कह सकते हैं। मुसलमानों के आने तक इस सामान्य भाषा का कोई साहित्य नहीं था। वह सामान्य बोल-चाल की भाषा-मात्र थी। यह सामान्य भाषा लाहौर, मुलतान और दिल्ली की भाषाओं से बहुत कुछ मिलती जुलती रही होगी। ग्यारहवीं शताब्दी तक पंचनद-प्रदेश में इस्लाम-धर्म का काफ़ी प्रचार हो गया था और हीनवर्ण हिंदू इस नये धर्म को बड़ी संख्या में अपनाने लगे थे, विशेषतः जुलाहा सम्प्रदाय। हिंदुस्तान की ज़बान से पैदा हुए सभी मुसलमानों के लिए अरबी-फ़ारसी का पंडित होना संभव नहीं था। अतः वे सामान्य बोल-चाल की भाषा की ओर झुके और उसी में उन्होंने अपने मत का प्रचार किया। इस नई भाषा को अपनाने में उन्हें बहुत समय लगा। इसी से हिंदवी-काव्य महमूद ग़ज़नवी की विजयों के बाद शुरू होता है। इस हिंदवी कविता के अनेक कवियों की रचनायें अब उपलब्ध हो गई हैं। १४०० ई० तक के प्रसिद्ध हिंदवी कवि हैं—मसूदी (१०४५-११२१, लाहौर) फ़रीद (११७३-१२६५, पाकपत्तन), बूअली क़लन्दर (मृ० १३४३, पानीपत, खुसरो (१२५३-१३२५, दिल्ली), शरफ़ुद्दीन यहिया मुनीरी (१२६३-१३८०) और बुरहानुद्दीन ग़रीब (मृ० १३३७, दौलताबाद)। इन कवियों में से अधिकांश अरबी-फ़ारसी के विद्वान थे और वे धर्म-प्रचार के लिए लोक-भाषा में रचना करते थे। इनमें से कितने ही 'पीर' थे। मसूद और खुसरो की तरह कुछ केवल कवि ही थे, परंतु उन्होंने अपनी सर्वोत्तम रचना फ़ारसी में ही लिखी। हिंदी कविता द्वारा वे केवल चलती-फिरती जन-भाषा में दो घड़ी जी बहला रहे हैं। लाहौर, दिल्ली और

मुलतान में इन दिनों मुसलमान धर्म-प्रचारकों के केन्द्र थे और यह हिंदवी-काव्य इन्हीं केन्द्रों से सम्बन्धित है।

इन कवियों में से खुसरो का ही हिन्दी-साहित्य अधिक मात्रा में पहेलियों, मुकरियों, दो सखुनों, ढकोसलों और ग़ज़लों के रूप में हम तक चला आता है, परन्तु मौखिक रूप से चलते रहने के कारण उसकी भाषा का पुरानापन बहुत कुछ समाप्त हो गया है। खुसरो की हिंदी-कविता के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं, कम से कम उसकी प्रामाणिकता पूर्णतया संदिग्ध है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि खुसरो को हिन्दी का ज्ञान था। उनके समय में 'हिन्दी' को 'हिन्दवी' कहा जाता था। उनके पूर्वजों की कई पीढ़ियाँ भारतभूमि में खप चुकी थीं। खुसरो की माता में भी भारतीय रक्त प्रवाहित हो रहा था। इसलिए यह निश्चय है कि समसामयिक मुसलमान लेखकों से कहीं अधिक हिन्दी से उनका परिचय रहा होगा। उनकी फ़ारसी रचनाओं में हिंदवी के पूर्ण ज्ञान का संकेत है। अपनी कई फ़ारसी रचनाओं में उन्होंने कहीं कम, कहीं अधिक हिन्दी शब्दों का प्रयोग किया है और बहुत उचित रूप में। उन्होंने अपनी फ़ारसी रचनाओं में हिंदवी शब्दों का अधिक प्रयोग नहीं किया—इसका कारण यह था कि यह फ़ारसी की शुद्धता के क़ायल थे। हिन्दुस्तान में जिस फ़ारसी का प्रयोग हो रहा था वह ईरान की फ़ारसी से दूर पड़ती जा रही थी और खुसरो उसे और मिश्रित करना नहीं चाहते थे। 'गुर्रा' (Ghurra) के 'दीवान' ('भूमिका') में उन्होंने लिखा है—शुद्ध फ़ारसी में हिंदवी शब्द का मेल अच्छा नहीं। जहाँ अनिवार्य हो जाये, वहाँ दूसरी बात है, मैंने उनका प्रयोग उसी समय किया है जब वह एकाततः आवश्यक हो गया। उनके एक उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अरबी की अपेक्षा उन्हें हिंदवी (हिंदी) का ज्ञान अधिक था। उन्होंने कहा है—'मैं हिंदुस्तानी तुर्क हूँ, हिंदवी में तुम्हारा उत्तर दूंगा।' अतः स्पष्ट है कि हिन्दी में कविता करना खुसरो के लिए कोई चमत्कार की बात नहीं थी। अपने फ़ारसी 'दीवान'

(कविता-संग्रह) की भूमिका में उन्होंने लिखा है—'अपने मित्रों में मैंने अपनी शुद्ध हिंदवी कविता भी बिखेर दी थी। इस स्थान पर मैं इस बात का उल्लेख-मात्र ही काफ़ी समझता हूं।' इस संग्रह में खुसरो ने अपनी कुछ ऐसी कविता के भी उद्धरण दिये हैं जो समान रूप से हिन्दी-फ़ारसी अर्थों में लग सकती है—

१—आयी आयी हमः बयारी आयी
मारी मारी दर (क) मारी (आयी)
२—रफ़्तम ब तमाशाये किनारे जुई
दीदम बलब आब जन हिंदुई
गुफ़्तम सनमा बहाई ज़लफत च बूद
फ़रयाद बरआबुर्द कि दुर दुर मुई

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का काव्य काव्यविनोद की कोटि की चीज़ है। फ़ारसी कविता में खुसरो का स्थान फ़रदौसी, ख़ाकानी, निज़ामी और सादी के पास है। उनके नाम से प्रचलित हिंदी कविताएँ अवकाश के क्षणों में मनोविनोद की चीज़ें हैं। कदाचित् स्वयं खुसरो ने उनका संग्रह नहीं किया। उनकी मृत्यु के बाद ऐसा संग्रह सम्भव है, परन्तु फिर भी अधिकांश सामग्री मौखिक रूप से चलती रही है और जहाँ भाषा की दृष्टि से उसमें अप्रत्याशित परिवर्तन है, वहाँ क्षेपक का अंश भी कम नहीं होगा। फिर भी इन रचनाओं से उस युग की विनोदी प्रकृति का हमें पता चलता है और लोक-काव्य का एक अत्यन्त आकर्षक रूप हमारे सामने आता है। संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार के विनोदी-काव्य की एक लंबी परम्परा थी और कदाचित् लोक-काव्य के रूप में भी रही होगी। खुसरो ने इस परम्परा को नए साहित्य का लोकप्रिय अंग बना दिया।

*

: ३ :

उत्तर मध्ययुग

(१५००-१८००)

पृष्ठभूमि—उत्तर मध्ययुग के तीन सौ वर्ष मुग़ल साम्राज्य के जन्म, विकास और पतन की कहानी हैं। १५२६ ई० में पानीपत के रणक्षेत्र में राणा साँगा और बाबर की सेनाओं में युद्ध हुआ और राजपूतों की पराजय के कारण एक नई इस्लामी शक्ति फिर देश की छाती पर कुण्डली मारकर बैठ गई। पठानों का शासन समाप्त हुआ और मुग़लों की सत्ता की नींव पड़ी। परंतु मुग़लों के शासन को स्थायीत्व शेरशाह (१५४२-४५) की मृत्यु के बाद ही मिला। १५५६ ई० में शहंशाह अकबर सिंहासनारूढ़ हुए और १६०५ ई० में उनका देहांत हुआ। इन पचास वर्षों में भारतीय और ईरानी संस्कृति का एक विलक्षण समन्वय उपस्थित हुआ और स्थापत्य, संगीत, काव्य और चित्रकला के क्षेत्र में नई-नई प्रतिभाओं के आविर्भाव के लिए मार्ग प्रशस्त हुए। १७ वीं शताब्दी में मुग़ल-सूर्य अपने चरमोत्कर्ष पर था। १७१७ ई० में औरंगजेब की मृत्यु से काल-चक्र का प्रत्यावर्तन हुआ। १७५७ ई० की पलासी की लड़ाई में देश एक नई विदेशी अंग्रेज़ शक्ति के शासन-सूत्र में बँध गया। संस्कृति की दृष्टि से अठारहवीं शताब्दी अराजकता और अंधकार की शताब्दी है।

इन तीन सौ वर्षों में हम धर्म और साहित्य के क्षेत्र में नई-नई स्फूर्तियों और प्रवृत्तियों के दर्शन पाते हैं। पूर्व मध्ययुग में जो संत और सूफ़ी विचारधाराएं विकसित हुई थीं। वे इस युग में प्रबल रूप से बहती हुई दिखाई पड़ती हैं। संत-विचारधारा के केन्द्रीय पुरुष कबीर (१३९८-

१५१८) हैं और उनके जीवन का अधिकांश पूर्व मध्य युग में आता है परंतु नानक, दादू, रज्जब और अन्य सैकड़ों सन्त हमें उत्तर मध्ययुग में ही क्रियाशील दिखलाई देते हैं और उनकी परंपरा अठारहवीं शताब्दी के अंत तक बराबर चली आती है। सूफ़ी साधना और विचारधारा का इस युग में विशेष विकास मिलता है। पूर्व मध्ययुग में हमें कोई महत्वपूर्ण सूफ़ी रचना प्राप्त नहीं होती। इन तीन सौ वर्षों में हमें लगभग एक दर्जन श्रेष्ठ सूफ़ी कथा काव्य मिल जाते हैं। परन्तु हम युग की सबसे बड़ी शक्ति कदाचित् सगुण भक्ति के आंदोलन हैं जो मथुरा और अयोध्या के केन्द्रों से संचालित हुए और जिन्होंने कालांतर में देश-व्यापी महत्ता प्राप्त कर ली। इन आंदोलनों के पीछे पूर्व मध्ययुग के आचार्यों, व्याख्याताओं और भक्तों का बल है, परंतु जो चीज़ उन्हें महत्वपूर्ण बनाती है वह स्वयं उनकी साधना है। सूरदास, तुलसीदास, हितहरिवंश, मीरा और अनेकानेक भक्तों का काव्य-साहित्य, संगीत और साधना की त्रिवेणी है। इसीलिए उसके जोड़ की चीज़ अन्य स्थान पर मिलना असम्भव है। उत्तर मध्ययुग का सगुण भक्तिवाद पौराणिक धर्म पर आश्रित था। वह मूलतः नीतिमूलक था और उसे संस्कृत-साहित्य और शास्त्र का बल प्राप्त था। इसीलिए उसका प्रकाशन साहित्य की उच्चतम अभिव्यक्ति प्राप्त कर सका। १५ वीं शताब्दी में ग्वालियर-मथुरा क्षेत्र में ध्रुपद-धमार की नई संगीत-शैली का विकास हुआ था। हरिदास, बैजू बावरा, हितहरिवंश, सूरदास, मीरा और तुलसीदास अपने युग के श्रेष्ठतम् संगीतज्ञ भी थे। फलतः मध्ययुग का भक्ति-साहित्य हिंदी की सर्वोत्तम निधि बन गया। मध्ययुग के अंत तक इसकी सशक्त परंपरा बराबर चली आती है।

परंतु इस बीच में परिस्थिति विशेष के कारण साहित्य को नए अर्थ भी मिल गए थे और संस्कृत के उत्तरकालीन काव्यों और आचार्यों की मान्यताओं के सहारे शृङ्गारमूलक काव्य-सृजन की एक नई परिपाटी भी स्थापित हो गई थी। अकबर युग में हिंदू और मुसलमान राजाओं में

यह काव्य-परिपाटी विकसित हुई और उसमें सामती-काव्य की सारी विशेषताएं हमें मिलती हैं। नर-नारी का प्राकृतिक प्रेम, विलास, नीति और वीरता इस काव्य के चार प्रमुख विषय थे। इस साहित्य में कला-दृष्टि का विशेष विकास हुआ। साहित्यिक आंदोलन होने के कारण उसमें अनुभूति की उतनी अधिक मात्रा नहीं थी जितनी भक्ति-काव्य में। वस्तुतः भक्तिकाव्य के राधा-कृष्ण ही यहाँ सामान्य नर-नारी बन गये थे। भक्तिकाव्य में शृङ्गार के जो स्वर प्रच्छन्न रूप से चल रहे थे उन्होंने ही इस रीति-साहित्य में नई लौकिक झंकार भरी।

काव्य भाषाओं और शैलियों का विकास

उत्तर मध्ययुग में हमारी भाषा और शैली का बड़ा विकास हुआ। राजस्थानी और ब्रजभाषा में थोड़ा गद्य भी लिखा गया, जो मुख्यतः शिलालेखों, ताम्रपत्रों, सनदों और 'वातों' एवं प्रचार-ग्रंथों के रूप में है, परन्तु साहित्य का केन्द्र-काव्य ही रहा। काव्यक्षेत्र में कई प्रमुख भाषाएँ चलती रहीं। इस युग की काव्यभाषाएँ हैं—राजस्थानी, ब्रज, प्राचीन हिन्दी या हिन्दवी, अवधी और भोजपुरी। पूर्वमध्ययुग में हमें राजस्थानी भाषा का प्रारम्भिक रूप चारण-काव्यों में मिलता है। सूफी संतों के गद्य-पद्य को हम प्राचीन खड़ी या हिंदवी में पाते हैं। कबीर के काव्य को हम अधिकतः अवधी और अंशतः भोजपुरी के अंतर्गत रख सकते हैं। इस प्रकार काव्यभाषा की तीन परम्पराएँ हमें निश्चित रूप से पूर्वयुग में मिल जाती हैं। १५०० ई० से पहले ब्रजभाषाकाव्य की कोई निश्चित परम्परा हमें दिखलाई नहीं पड़ती। आदियुग के जैनकाव्य में हमें जिस नागर-अपभ्रंश के दर्शन होते हैं, वही कदाचित् शौरसेनप्रदेश की अपभ्रंश रही होगी। कालांतर में इसी अपभ्रंश से एक ओर ब्रजभाषा और दूसरी ओर गुजराती भाषाओं का विकास हुआ। शौरसेनी अपभ्रंश की भाँति ब्रजभाषा को भी हिंद प्रदेश का साहित्यिक नेतृत्व मिल गया और यद्यपि अवधी में तुलसीदास के साहित्य ने ऐसी अभूतपूर्व निधि वितरित की कि लोक चकित हो गया, परन्तु यह निश्चित है कि लगभग ३०० वर्षों तक

हिंदीकाव्य का प्रतिनिधित्व ब्रजभाषा ने ही किया। कृष्णभक्तिकाव्य और रीतिकाव्य की दो अत्यन्त व्यापक और साहित्यनिष्ठ काव्य परम्पराएँ इसी भाषा के द्वारा पुष्ट हुईं। विद्यापति के बाद मैथिलीभाषा में कोई बड़ा कवि हमें नहीं मिलता और इस प्रकार हिन्दी के पूर्वी सीमांत की एक काव्य-भाषा इस युग में मौन दिखलाई पड़ती है, परन्तु अवधी और भोजपुरी में बहुत व्यापक रूप से सूफी और सन्तकाव्य हमें प्राप्त होता है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों का प्रतिनिधित्व इस युग में अवधी भाषा को ही प्राप्त होता है और इस भाषा में हमें सूफी-साधकों के प्रेमाख्यानक-काव्य प्रधानरूप से प्राप्त होते हैं। वस्तुतः अवधी काव्य में हमें स्वयंभू (७६० ई०) और पुष्पदंत (६५६ ६७२) की रचनाओं की परम्परा ही आगे बढ़ती हुई दिखलाई देती है। अवधीकाव्य की भांति ये रचनाएँ भा चौपाई (पज्झटिया) में हैं, और आठ-आठ पांतियों (अर्धालियों) के बाद दोहा या किसी दूसरे छंद में छत्ता (विश्राम) मिलता है। सूफी काव्य में यह विश्राम ५, ७ या ६ अर्धालियों के बाद मसंनवी-काव्य के ढंग पर होता है। परन्तु शैली में विशेष अन्तर नहीं है। यह स्पष्ट है कि प्राकृत और अपभ्रंश में सर्गबद्ध महाकाव्य के विरुद्ध कुछ कलाकाव्य की ऐसी कोटियाँ भी विकसित होगई थीं, जिनमें पौराणिकता का प्रमाद अधिक था और कथा धाराप्रवाह-रूप से चलती थी। उत्तर-मध्ययुग के कथाकाव्यों में इसी शैली को अपनाया गया। जहाँ इस शैली से हटकर 'भट्टिकाव्य' आदि के ढंग पर साहित्यशास्त्र के प्रयोगों के माध्यम से कथा करने की चेष्टा की गई है वहाँ कथा का रूप ही अनिश्चित् और खंडित हो गया है।

संस्कृतकाव्य में वर्णवृत्तों के द्वारा एक हिल्लोलमय संगीत की सृष्टि होती थी और कदाचित् स्तोत्रों और 'मेघदूत' सदृश गीतात्मक काव्यों में यह संगीत अपने सबसे पुष्ट रूप में प्रकाशित हुआ था। परन्तु मात्रा-संगीत की सबसे प्रथम और सबसे सुन्दर अभिव्यक्ति हमें जयदेव के 'गीत-गोविन्दम्' (११६१) में ही मिलती है। दो शताब्दी बाद हमें

उमापति, विद्यापति और चंडीदास के पदों में यह संगीत लोकभाषाओं के माध्यम से विकसित होता मिलता है। बारहवीं शताब्दी से पहले इसका वह रूप भी हमें प्राप्त होता है, जो सरहपा आदि सिद्ध कवियों में विकसित होता हुआ गोरखनाथ और नाथपंथ कवियों की 'सब्दियों' में प्रकाशित हुआ। कबीर और सन्तों में संगीत की यह परम्परा उत्तरमध्ययुग में भी चलती रही। केवल-मात्र आत्मानुभूति पर आधारित होने और साहित्य-शास्त्र की उपेक्षा के कारण इसमें साहित्य की मात्रा विशेष नहीं आसकी। परन्तु फिर भी विभिन्न राग-रागनियों में विष्णुपद (१६, १४), सरसी (१६, ११), हरिपद (१६ ११), सार (१६, १२), लावनी (१६, १४), वीर (१६, १५), समान सवैया (१६, १६), मत्त सवैया (१६, १६), उपमान (१३, १०), हरि (६, ६, ११), तोमर (१२,१२), शोभन (१४, १०) और रूपमाला (१४, १०) छन्दों में गीति-भाव की अभिव्यक्ति हुई। सूरदास और कृष्णभक्त कवियों के पदों में इन छन्दों के अतिरिक्त कुछ और छन्द भी आये हैं, जैसे कुण्डल (१२,१०), सुखदा (१२, १०), राधिका (१३, ६ , भानु (६, १५), गीतिका (१४, १२), हंसाल (२०, १७), हरिप्रिया (१२, १२, १२, १०) और चन्द्र (१०, ७)। इसमें सन्देह नहीं कि ये अधिकांश छन्द १६ मात्रा के चौपाई छन्द अथवा दोहा का प्रकारांतर थे और उनके अनेक पदों से ही 'पद' की सृष्टि होती थी। आज चौपाई और दोहा साहित्य-जड़ित हो गये हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनमें लोक-संगीत अपनी परिपूर्णता के साथ प्रवाहित हो रहा है। उत्तर मध्ययुग में यही लोक-संगीत कवियों के कण्ठ से फूट पड़ा था। हिन्दी गीति-काव्य की सब से सुन्दर अभिव्यक्ति हमें सूर और मीरा के पदों में मिलती है। १६वीं शताब्दी के बाद कवियों में वह संगीत-प्रतिभा नहीं रही और परवर्ती युग का गीति-साहित्य-परम्परा का पालन-मात्र ही अधिक रहा।

रीति-काव्य के प्रणेताओं ने काव्य के संगीत-पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया। रीति-काव्य मुख्यतः सामंत-काव्य था और उसमें संगीत की

अपेक्षा 'काकु' की ही प्रधानता थी। इस काव्य ने अपने लिए कवित्त (घनाक्षरी) और सवैये की कई शैलियाँ विकसित कीं। ये दोनों छन्द वार्णिक छन्द थे और उनमें उच्चारण संगीत के साथ चमत्कृत करने की कला भी थी। संस्कृत के 'आर्या' आदि श्लोकों में भाव-प्रकाशन की जो कला है, उसकी रक्षा इन छन्दों में पूर्णतया सम्भव थी। फलतः ऊहा-प्रधान शृङ्गार-काव्य के लिए ये छन्द व्यापक रूप से प्रयुक्त हुए। दोहे, सोरठे और बरवै छन्दों का भी प्रयोग इस क्षेत्र में हुआ। ये सब मात्रिक छन्द थे। बरवै का प्रयोग तो केवल रहीम और तुलसी में ही मिलता है। वास्तव में बरवा लोक-छन्द था और कदाचित् रहीम ने ही पहली बार साहित्य में इसका प्रयोग किया। सोरठे का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ। 'मानस' में तुलसी ने चौपाई-दोहे की एकरूपता नष्ट करने के लिए ही उसका प्रयोग किया है। कदाचित् मध्ययुग का सबसे अधिक लोकप्रिय साहित्य-छन्द दोहा है, जिसका प्रयोग हम सरहपा (७६० ई०) से १२५० ई० तक बराबर पाते हैं। निर्गुण और सगुण काव्य में समान रूप से उसका प्रयोग हुआ है, परन्तु साथ ही शृङ्गार-साहित्य और लक्षण ग्रन्थों के निर्माण में भी इस काव्य-रूप ने बहुत बड़ा योग दिया है। अपभ्रंश में शृङ्गार-प्रधान भावों का प्रकाशन द्विपदीय 'गाथा' छन्द में हुआ है। कदाचित् हिन्दी में हम परम्परा के जीवित रखने की चेष्टा में ही इन छन्दों का जन्म हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि १६वीं शताब्दी के आरम्भ होते-होते हिन्दी के काव्य-रूप निश्चित् हो चुके थे और उसमें पिछले युगों की शैलियों के साथ नई शैलियाँ भी प्रयोग में आने लगी थीं। परन्तु मुख्य परिवर्तन अनुभूति के क्षेत्र में था। भक्ति और शृङ्गार इस युग के दो महत्वपूर्ण अनुभूति केन्द्र हैं। वस्तुतः कृष्णभक्ति-काव्य का एक बहुत बड़ा भाग शृङ्गार-भावना से ओतप्रोत है। वह लीलाकाव्य है। उसमें गोपीजन वल्लभ (कृष्ण) की माधुरी व्रज-लीला का ही प्रसार है। जयदेव और विद्यापति ने इस प्रेम-लीला को शास्त्र की परिपाटी में बाँधना चाहा।

विद्यापति का आदर्श मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' था। बाद में भक्ति-भावना की प्रबलता के कारण शृङ्गार का नेतृत्व पीछे पड़ गया। सूर जैसे साहित्य-रसिक के काव्य में साहित्यिक स्फुरण काफी होने पर भी उनकी भक्त हृदय की भावुकता ही प्रधानता पाती है। बाद में भक्ति में भाव-प्रवणता का लोप हो जाता है और विशुद्ध शृङ्गार-साहित्य का मेरुदण्ड बन जाता है। इसतरह हम मध्ययुग के काव्य को आध्यात्मिक से लौकिकता और गीतात्मकता से वर्णनात्मकता की ओर बढ़ता पाते हैं। वस्तुतः ईसा की अठारहवीं शताब्दी हमारे जीवन और दृष्टिकोण को देखते हुए एक विभाजक-रेखा है। यह अवश्य है कि जो लौकिक-साहित्य रीति-युग में सामने आया उसने सामंतों और उच्चवर्गों की प्रवृत्तियों को ही अपना विषय बनाया, परन्तु बाद में उन्नीसवीं शताब्दी में उसका सम्बन्ध जन-जीवन से हो गया।

सूफी काव्य-धारा—सूफी मध्ययुग की एक अत्यन्त जाग्रत और क्रांतिकारी शक्ति के रूप में हमारे सामने आते हैं। उत्तर भारत की सभी लोक-भाषाओं में उनके साहित्य की परम्परा हमें मिलती है, परन्तु जिन प्रमुख भाषाओं में उनका साहित्य है वे हिन्दवी, राजस्थानी, पंजाबी और अवधी हैं। प्रारम्भिक युग का अधिकांश सूफी-काव्य पंजाबी और हिन्दी भाषाओं में मिलता है। उत्तर मध्ययुग में अवधी प्रदेश के मुसलमान सूफी-साधकों और कवियों का योगदान तो सचमुच अपूर्व है। इन साधकों ने हमें मुक्तक गीति-काव्य नहीं दिया, वरन् ऐसी रचनाएं दीं जो लोकप्रचलित प्रेम-कहानियों को लेकर चलती थीं और जिनमें अध्यात्मभाव की गहरी व्यंजना थी। ये प्रेम-कहानियाँ एक ओर फारसी सूफी-साहित्य की 'मसनवी' शैली से प्रभावित थीं और दूसरी ओर अवधी प्रदेश की अपभ्रंश कथा-काव्य का विस्तार थीं।

सबसे पहला सूफी-प्रेमाख्यानक-काव्य मुल्ला दाऊद की 'नूरक और चन्दा की प्रेम-कहानी' है। जिसका रचनाकाल १३१८ ई० है। इसका केवल उल्लेख-मात्र मिलता है। सम्भव है इससे पहले भी मुसलमान कवि

और सूफी कुछ अन्य प्रेमाख्यान लिख चुके हों। जायसी (१४९९—१५४५ ?) के समय तक अनेक आख्यान लिखे जा चुके थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'पद्मावत' (१५४०) में सपनावती, मुगधावती, मिरगावती, खंडावती, मधुमालती, प्रेमवती, उषा-अनिरुद्ध के आख्यानों का उल्लेख किया है। इनमें से केवल मृगावती और मधुमालती की प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं। मृगावती के लेखक कुतबन (१४९३ ई० के लगभग) हैं। मंझन का समय निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु उनकी रचना काल अवश्य ही जायसी से पहले का है। दोनों कहानियाँ, प्रेम-कहानियाँ हैं, जिनमें साथ-साथ आध्यात्मिक अर्थों का गुंफन भी मिल जाता है। प्रेम-मार्ग के त्याग और कष्ट-निरूपण द्वारा यह साधक के भगवत्प्रेम को दृढ़ करना चाहता है। इन सूफी प्रेमाख्यानकारों में जायसी अप्रतिम है। उनको वही केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। उनकी प्रमुख रचना 'पद्मावत' है, परन्तु एक अन्य छोटी रचना 'अखरावट' में भी उन्होंने अपने सिद्धांतों का निरीक्षण किया है। हिन्दी के कथा-काव्यों में यह ग्रन्थ केवल 'रामचरितमानस' से ही कुछ छोटा पड़ेगा। इसी एक बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-काव्य में मुसलमानों का योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं है।

'पद्मावत' की कथा दो भागों में रखी जा सकती है। पहला भाग लोक-कथाओं पर आश्रित है। उसमें चित्तौड़ के राजा रतनसेन को तोते (हीरामन) द्वारा पद्मावती के सौन्दर्य का परिचय, राजा का पूर्वराग, सिंहलदेश की ओर प्रयाण, मार्ग का कष्ट, देवमन्दिर में हीरामन की योजना से पद्मावती से भेंट, राजा रतनसेन और उसके जोगी-सामन्तों का युद्ध, उसका बन्दी होना, भगवान शिव की कृपा से उसकी मुक्ति और पद्मावती की प्राप्ति आदि प्रसङ्ग हैं। इन प्रसङ्गों में स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक व्यंजनाएँ हैं। वस्तुतः पूर्वार्द्ध की कथा साधक के महान् कष्टों और उसकी आध्यात्मिक यात्रा की कहानी है। कवि अलौकिक कथा को लौकिक गाथा के माध्यम से प्रकाशित कर रहा है। उत्तरार्द्ध की कथा

अधिकतः ऐतिहासिक है। दिल्ली-सम्राट् अलाउद्दीन और पद्मावत से सम्बन्धित इतिहास-कथा काफी लोकप्रिय वस्तु रही है और राजस्थानी भाषा में इसी विषय का एक आख्यानक काव्य 'लक्ष्मणसेन-पद्मावती कथा' (दामो कवि) भी हमें प्राप्त है। ऐतिहासिक कथा में कवि न साहित्यिकता का विकास ही अच्छी तरह कर सका है और न उसमें आध्यात्मिक रस का आरोप ही हो सका है। फलतः सूफी भावना की दृष्टि से ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध ही महत्वपूर्ण रह जाता है। इसमें हमें प्रवाहपूर्ण सांगोपांग वर्णन के साथ कथा का स्वच्छन्द-प्रवाह और प्रकृति का अतिरंजित चित्रण मिलता है। सूफी कवि नारी और प्रकृति के सौन्दर्य के पीछे परोक्षसत्ता का प्रकाश देखते हैं और पद्मावत के वे स्थल साहित्यिक दृष्टि से सबसे सुन्दर हैं, जिनमें पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन है या प्रकृति के ऐश्वर्य को अतिरंजना के साथ उपस्थित किया गया है। षट्ऋतु वर्णन, बारहमासे और नागमती-वियोग के विप्रलंभ-प्रधान प्रसंगों में जायसी की आत्मा की विरहानुभूति अत्यन्त मार्मिकता से प्रकाशित हुई है।

'पद्मावत' के बाद भी सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की परंपरा चलती रही। १६१३ ई० में उसमान ने चित्रावली लिखी, १६२० में शेख़ नबी ने ज्ञानदीपक लिखा, १६४० ई० में फ़ाज़िलशाह ने प्रेमरतन, १६४४ में नूरमुहम्मद ने इंद्रावती और १७३० ई० में क़ासिमशाह ने हंस जवाहर की रचना की। १६ वीं शताब्दी के अंत तक यह परंपरा चलती दिखलाई देती है। यद्यपि धीरे-धीरे इसमें मौलिक प्रेरणा का अभाव मिलने लगता है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि सूफी साधकों ने हमारी कथाकाव्य की परंपरा को विकसित किया। उनके नायक-नायिका भारतीय ही थे। अपने देश की संस्कृति और वातावरण को ही उन्होंने अपने काव्य में स्थान दिया और सारी भारतीय जनता को 'प्रेम की पीर' में डुबो दिया। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी का प्रेमाख्यानक सूफी-काव्य सूफी-परंपरा में होकर भी किसी प्रकार विदेशी नहीं रह गया है। वह अपभ्रंश काव्य,

जोगियों की रचनाओं और लोकगीतों की परम्परा का ही प्रसार है।

प्रेमाख्यानक काव्य के अतिरिक्त मुक्तककाव्य की दृष्टि से भी सूफी महत्त्वपूर्ण हैं। स्वयं कबीर (१३९८-१५१८) के काव्य में सूफी विचार-धारा और साधना पर्याप्त मात्रा में मिलती है। कमाल (१४५० के लगभग), दादू (१५४४-१६७३), रज्जब (आ० १६५३), बुल्लेलाशाह, (१७००-१७३० के लगभग), गुलाल (१७०० के लगभग), यारीसाहब (१६६८-१७२३), बखना और बुल्लेशाह आदि हिन्दी-सूफीकाव्य की परम्परा के अनमोल रत्न हैं। सच तो यह है कि मध्ययुग की संत और सूफी धारा को बहुत अलग नहीं किया जा सकता। संतों की विचार-धारा ने सूफी मतवाद के साथ रामानंद और कबीर के माध्यम से योग और वैष्णव-भक्ति के अनेक तत्वों का भी समावेश कर लिया है और इससे उसका साम्प्रदायिक रूप हमें संतों में नहीं मिलता, परन्तु प्रेम और विरह की साधना और काव्य में उसकी प्रतीकात्मक अभिव्यंजना एक ही प्रकार से प्रस्फुटित हुई है।

संतकाव्यधारा का विकास—उत्तरमध्ययुग उस संत विचारधारा के विकास के लिए भी महत्वपूर्ण है। जिसके प्रवर्तक रामानंद और कबीर (१३९८-१५१८) थे। स्वयं कबीर के जीवन के अन्तिम वर्ष भी इस युग में आ जाते हैं।

कबीर के बाद मध्ययुग की संतधारा में सबसे महत्वपूर्ण दादू हैं। यह भी मुसलमान धुनिये थे और इनका नाम दाऊद था। इनका जीवन-काल १५४४-१६०३ ई० है। नराणा (राजस्थान) में इनकी समाधि है और यही दादू-पंथियों का सबसे बड़ा केन्द्र है। कबीर के पुत्र कमाल की शिष्य-परंपरा से इनका सम्बन्ध जोड़ा जाता है। रज्जब (आ० १६२३) इनके प्रिय शिष्य थे और उन्होंने ही इनकी वाणी का प्रामाणिक संग्रह उपस्थित किया जो आज भी उपलब्ध है। और भी अनेक मुसलमान संत-साधक हमें मिलते हैं, जैसे बुल्ला साहब (१७००-१७३० के लगभग), गुलाल (१७०० के लगभग), यारीसाहब (१६६८-१७२३), बखना

बुल्लेशाह, दरियासाहब (विहारवाले, १७००-१७८०) और मारवाड़ी दरियासाहब (१६७६–१७५८)। इनमें से अधिकांश किसान अथवा धुनिए थे। इन्होंने कबीर और दादू की साधना और साहित्य की परम्परा को आगे बढ़ाया। मध्ययुग के अनेक पहुँचे हुए साधक इन्हीं के शिष्य थे। इसमें संदेह नहीं कि इन मुसलमान संत-साधकों की आध्यात्मिक और सामाजिक साधना ही मध्ययुग का सच्चा इतिहास है। सलमानों के आगमन के साथ भारतीय समाजक्षेत्र में एक विस्फोटक परिस्थिति का जन्म हो गया था। हिन्दूसंतों और मुसलमान साधकों ने प्रेम और क्षमा से इस घातक परिस्थिति के निवारण का प्रयत्न किया और मानवता की उस सामान्य भूमि का निर्माण किया जो जाति-धर्म, ऊँच-नीच, शास्त्र और लोकाचार सबकी उपेक्षा करती थी। मुसलमानों के आने से पहले ही हिन्दू साधना ऐसे सामान्य भक्तिमार्ग (संतमत) से परिचित हो गई थी। इसके प्रमाण हमारे पास हैं परन्तु नई परिस्थिति ने इस साधना को देश-व्यापी बना दिया और उसमें नये लोकप्रिय तत्वों का समावेश किया। उत्तर-मध्ययुग में संतविचार-धारा का विशेष विकास हुआ। इस विचारधारा के विकास में जिन साधकों और कवियों ने योग दिया उनमें विशेष महत्वपूर्ण हैं नानक (१४६९-१५३४), दादू (१५४४-१६०३), लालदास (मृ० १६४८), बाबालाल (आ० १६४९), वीरभानु (आ० १६०३), धरनीदास (ज० १६०६), मलूकदास (१६३१-१७३९), चरणदास (१७०३-१७८२), गरीबदास (१७१७-१७८२), पलटूराम (आ० १७९३) प्राणनाथ (आ० १५५३), रामचरण (ज० १७०८) और तुलसीदास (हाथरस वाले निर्गुणी संत, ज० १७८८)। इन सबके नामों पर आज एक-एक संप्रदाय प्रतिष्ठित है। इन सम्प्रदायों में दादूपंथ, सतनामी, मलूकदासी और सिखपंथ विशेष महत्वपूर्ण हैं। दादूपंथ में दादू के अतिरिक्त सुन्दरदास, निश्चलदास, रज्जब, जयगोपाल, जगन्नाथ, मोहनदास, खेमदास आदि कवि और साधक हुए हैं। वस्तुतः कबीर की विचारधारा और साधना का सबसे शुद्ध रूप दादूपंथ में ही मिलता है। इन

सम्प्रदायों में इतिहास की दृष्टि से सतनामी और सिखपंथ विशेष महत्ता रखते हैं। औरंगज़ेब के अत्याचारों से पीड़ित होकर इन सम्प्रदायों को अपना संगठन सैनिक ढंग का बनाना पड़ा। १७४३ ई० में औरंगज़ेब और सतनामियों में नरनौल के पास एक भीषण युद्ध का ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है। सिख गुरुओं और दिल्ली सम्राटों के संघर्ष की कहानी तो प्रसिद्ध ही है और गुरु गोविंदसिंह और बंदा वैरागी १८ वीं शताब्दी की महत्वपूर्ण राजनैतिक शक्ति सिद्ध हुए हैं। जान पड़ता है इस्लाम के प्रवेश के साथ ही संत-संन्यासी और साधू समाजों के सैनिक अखाड़े बन गये थे। इनमें आत्मरक्षा का भाव प्रबल था। एक हाथ में 'शस्त्र' (दंड) और एक हाथ में शास्त्र से ही उस भयंकर परिस्थिति में धर्म की रक्षा सम्भव थी। रामानंद के गुरु राघवानंद के ग्रन्थ 'सिद्धान्त पंचमात्रा' में बेलची और तमाची (तमंचे) को संन्यासी के लिए पास रखना आवश्यक बताया गया है। औरंगज़ेब के समय में यह धर्मविद्वेष बढ़ा और सन्तों को अपना सैनिक संगठन और भी दृढ़ करना पड़ा।

कृष्णभक्ति संप्रदाय और कृष्णकाव्य—१५०० ई० के बाद उत्तर-भारत की भावप्रवण कृष्णभक्ति का केन्द्र वृन्दावन बन गया था। १६ वीं शताब्दी में यही केन्द्र सबसे अधिक क्रियाशील रहा। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय मथुरा-वृन्दावन में भक्ति, संगीत और साहित्य की जैसी त्रिवेणी प्रवाहित हुई, वैसी भारतीय साहित्य में अपूर्व है। पूर्व-मध्ययुग में जयदेव और विद्यापति के काव्य में इनकी सूचना मिल चुकी थी, परन्तु इन दोनों कवियों में साहित्य का स्फुरण ही अधिक है, संगीत भी इनमें यथेष्ट मात्रा में है, परन्तु भक्तिभावना का वह प्रवाह नहीं है जो सूर और मीरा आदि के काव्य में मिलता है। ध्रुपद-धमार की संगीतशैली का आविर्भाव भी कदाचित् कुछ पहले हो चुका था, परन्तु राधाकृष्ण-काव्य ने ही उसे पूर्णता दी। देश की अनिश्चित राजनीति ने हिन्दू जनता को विक्षुब्ध और भावप्रवण बना दिया था और इसी से वह भक्तिभावना के ग्रहण के लिए पूर्णतः तैयार थी। इसी समय पूर्व से

माधवेन्द्रपुरी और चैतन्य और काशी से वल्लभाचार्य ने आकर इस प्रदेश में एक महान जनान्दोलन को जन्म दिया। इस आंदोलन के मूल में भगवल्लीला-गान, स्वरूपचिंतन और विह्वल रागात्मिका भक्ति का स्थान था। हितहरिवंश और हरिदास स्थानीय भक्त थे। वे उच्च कोटि के संगीतज्ञ भी थे। इन महापुरुषों के वैयक्तिक प्रभाव के कारण ब्रज में चार प्रमुख सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ। हितहरिवंश का टट्टी सम्प्रदाय, हरिदास का हरिदासी सम्प्रदाय, वल्लभाचार्य का वल्लभ-सम्प्रदाय और बंगाली वैष्णवों का चैतन्य सम्प्रदाय ये चार प्रमुख सम्प्रदाय थ। इन सब सम्प्रदायों में वल्लभ सम्प्रदाय ही विशेष रूप से संगठित हुआ और इस युग का अधिकांश कृष्णभक्तिसाहित्य इसी के द्वारा प्राप्त हुआ। वल्लभ और उनके पुत्र विट्ठलनाथ का बहुत थोड़ा ब्रज-साहित्य हमें उपलब्ध है, परन्तु 'अष्टछाप' की छाप से जो आठ कवि इस सम्प्रदाय में अभिहित हुए, उनका साहित्य सभी सम्प्रदायों की सम्मिलित साहित्यनिधि पर भारी है। अन्य सम्प्रदायों में हमें हरिदास और हितहरिवंश को छोड़कर उतनी उच्चकोटि का साहित्य नहीं मिलता।

परन्तु कृष्णभक्ति का आन्दोलन सच्चे अर्थों में जनता का आंदोलन था और उत्तर मध्य युग का ऐसा बहुत-सा कृष्णभक्ति-काव्य भी हमें प्राप्त होता है जो सम्प्रदायों के बन्धन में नहीं बँध पाया है। इन स्वतन्त्र भक्तों में मीरा सबसे प्रमुख हैं। उनका काव्य सगुण और निर्गुण के बीच की सूक्ष्म विभाजक-रेखा को छूता हुआ वैयक्तिक साधना और तन्मयासक्तिपूर्ण भक्ति का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उपस्थित करता हुआ आज भी हमारे सामने उपस्थित है। उसमें भक्ति गीतिमय हो उठी है और साहित्य ने वैयक्तिक अनुभूति की सहज सामान्यता और पूर्णता प्राप्त कर ली है। मीरा के काव्य में कृष्ण के ऐतिहासिक और साहित्यिक व्यक्तित्व का बहुत कुछ लोप हो गया है वह स्वयं मीरा के नारी हृदय की आकुल पुकार बन गया है। उसमें ऐतिहासिक और पौराणिक कृष्ण प्रतीक-मात्र रह गये हैं, यद्यपि भावना की तीव्रता के कारण मीरा ने उन पर रूप का

आरोप किया है और बार-बार उस पर अपना तन-मन न्योछावर किया है।

एक तरह से हम उत्तर-मध्ययुग के कृष्ण-काव्य को दो रूपों से ग्रहण कर सकते हैं। उसका एक अंश पौराणिक धर्मभाव के पुनरुत्थान से सम्बन्धित है। भागवत, हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त और अनेक अन्य पुराणों में कृष्ण-कथा कही गई थी। इस युग के कवियों ने इन ग्रन्थों के अनुवाद, छायानुवाद अथवा रूपान्तर उपस्थित किये और उनमें वर्णित कृष्ण-कथा के अनेक प्रसंगों पर अलग-अलग लिखा। रुक्मिणी-विवाह के प्रसंग को आधार बनाकर कुछ मंगल-ग्रन्थ लिखे गये। इन ग्रन्थों को हम तुलसी के 'जानकी-मंगल' और 'पार्वती-मंगल' की परम्परा में रख सकते हैं। सुदामाचरित इस प्रकार का एक दूसरा प्रसंग है। इतर प्रांतीय कवियों ने 'पारिजात-हरण' के प्रसंग को भी काव्य का विषय बनाया है, परन्तु हिंदी-भक्तों की दृष्टि इस प्रसंग की ओर नहीं गई। धार्मिक भावना ने कवियों की दृष्टि को इतना अभिभूत कर लिया था कि वह कृष्ण-कथा के कुछ अत्यन्त साहित्यिक और मानवीय अंगों की उपेक्षा कर बैठे। उनकी दृष्टि कृष्ण के बाल-किशोर जीवन पर ही केन्द्रित रही। बाललीला-प्रसंग वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों को विशेष प्रिय रहा। वल्लभाचार्य ने 'नवनीतप्रिय' के रूप में कृष्ण के विग्रह की स्थापना की थी और पूजा-विधान में बालकृष्ण की गोचारणलीला का ही विस्तार था। सूरदास को छोड़कर शेष सभी कवियों का गीतिकाव्य नित्यकर्मों के अवसर पर गाये हुए पदों तक सीमित है। फलतः वह बाललीला का अतिक्रमण नहीं कर सका है। सूर ने बाललीला के विशद और सरस निर्वाह के साथ राधा-माधव की प्रेमलीला भी आयोजित की। उन्होंने युगल दम्पत्ति के प्रणयारम्भ, प्रणय-विकास, अभिसार, मान, मिलन, जल-क्रीड़ा, रास, हिंडोल और उद्धव-प्रसंग (भँवरगीत) एवं विप्रलम्भ का विशेष चित्रण किया। अभिसार, मान, मिलन, क्रीड़ा-विनोद, रास और विप्रलम्भ के प्रसंगों में काव्योचित स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए भी सूर ने विद्यापति के नेतृत्व को

स्वीकार किया है परन्तु राधा-माधव का प्रेम-विकास उनकी अपनी मौलिक कृति है और भँवरगीत और विप्रलम्भ के अवसरों पर वह सम्पूर्ण पूर्व परम्पराओं को तोड़कर असाधारण बन गये हैं। भक्तिभावना और साहित्यिक प्रतिभा के मणिकाचन-संयोग से उनका काव्य मध्य युग के कृष्ण-काव्य की शीर्षमणि बन गया है।

मध्ययुग के इस कृष्णकाव्य में हम जिस भावशलता और गीतिमयता का विकास पाते हैं। उनका प्रारंभिक रूप हमें दक्षिण के अलवार कवियों के काल में मिलता है, जिनका समय ४०० ई० से ७००-८०० ई० तक निर्धारित है। दक्षिण के जो आचार्य उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति लाये वे इन भक्त कवियों की गीतिविधि से भी परिचित थे और उन्होंने उत्तर के कृष्ण-काव्य को गीतिपरक बना दिया। वह स्वयं कवि नहीं थे, परंतु उन्हें कुछ अत्यंत उच्चकोटि के भावुक कवियों का सहयोग प्राप्त हो गया। १५वीं शताब्दी के आरंभ में शौरसेन प्रदेश में देशी संगीत पद्धति का नया उन्मेष हुआ और ध्रुपद-धमार की एक नई गीतिशैली विकसित हुई। इस गीतिशैली ने राधाकृष्ण-कथा को अपना आधार बनाया। वस्तुतः सम्पूर्ण अपभ्रंश युग (४०० ई०–१४०० ई०) में शौरसेन प्रदेश, राजस्थान और गुजरात साहित्य और संगीत के केन्द्र थे। यह सम्पूर्ण प्रदेश एक इकाई के रूप में लिया जा सकता है। अपभ्रंश काव्य में षट्ऋतु-वर्णन, वसन्त, फागु, रास आदि काव्य-शैलियों का विकास गीत-पद्धति के भीतर से हुआ था। व्रजभाषा काव्य में इसी परंपरा ने पदशैली का माध्यम ग्रहण किया। उसमें सामती काव्य की नारी-सौन्दर्य सम्बन्धी भावना, प्रेम-विकास की अभिजात्यमूलक पद्धति, परंपरागत साहित्यनिष्ठ उपमा-उपमान, वचनवैदग्ध्य आदि गीतिकला से पुष्ट होकर नये रूप में सामने आये। परंतु अपभ्रंश से इतना निकट होते हुए और उससे बहुत कुछ उधार लेते हुए भी इस काव्य का सुर संस्कृत साहित्य और साहित्य-शास्त्र का सुर था और इसी से वह अपभ्रंश काव्य से कहीं अधिक व्यापक और लोकप्रिय हुआ। उसमें लोक-मानस और

साहित्य-रस का अपूर्व मिश्रण रहा, जो अन्य स्थानों में दुर्लभ था।

ब्रज के कृष्ण-भक्ति पूर्ण वातावरण ने कुछ मुसलमान कवियों को भी प्रभावित किया। रसखान, मुजान, आलम, शेख आदि ब्रज के भक्ति-भाव में विभोर होकर ही गा उठे हैं। रसखान तो पुष्टि मार्ग में दीक्षित भी थे, परन्तु उनका काव्य उनकी दीक्षा की बात को कहीं भी प्रकट नहीं करता। वह उनकी आत्मानुभूति से इतना ओतप्रोत है कि उसे पढ़ते हुए हम भाव में विभोर हो जाते हैं। जो कवि भाव में भर कर इस प्रकार गा सकता है—

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्‌यो कर छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन॥

उस कवि को कौन सहृदय हिन्दू भूल सकेगा? ब्रज भूमि की जैसी अनुरक्ति और ब्रज के नटनागर के प्रति जैसा उत्कट प्रेम रसखान की इन रचनाओं में मिलता है, वैसा प्रेम हिन्दू कवियों में भी अलभ्य है। रसखान कहते हैं—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवौ निधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं॥
नैनन सों रसखान जबै ब्रज के बन-बाग तड़ाग निहारौं।
केतिक ही कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

भाव और भाषा का कैसा माधुर्य है इस पद में? सच तो यह है कि मध्ययुग की वैष्णव भक्ति-धारा ने सारे उत्तर-भारत को ऐसा प्लावित कर कर दिया था कि हिन्दू-मुसलमानों के हृदय एक बन गये थे। एक ओर सूफी कवि भारतीय जनप्रथित आख्यानों को लेकर जनता को प्रेम का पाठ पढ़ा रहे थे और दूसरी ओर वैष्णव कवि मधुर-भाव की राधा-कृष्ण-भक्ति को कुछ इस उदारता और सहृदयता से उपस्थित कर रहे थे कि अनेक संस्कारी और सहृदय मुसलमान हिंदू-कथाओं और हिन्दू इष्ट-

देवों के प्रति आकृष्ट हुए । प्रेम के सामान्य विन्दु पर दोनों विजातीय और विधर्मी भाव-धाराएँ एक बन गई थीं । जहाँ प्रेमदान के सिवा और किसी भी आकांक्षा को महत्व नहीं मिल पाया है, जहाँ रूप और रंग के पीछे किसी अलौकिक, अपार्थिव स्पर्श की अनुभूति है, वहाँ नाम-रूप का भेद ही क्या हो सकता है ?

सूरदास—(१४७६-१५८३) कृष्ण-भक्ति काव्य में जो सबसे सुन्दर है वह सूरदास और मीरा का पद-काव्य है । परन्तु मीरा का काव्य उनकी वैयक्तिक साधना का प्रतीक-मात्र है और उसमें अनुभूति और अभिव्यंजना के कुछ ऐसे तत्व हैं कि वह काव्य-परिपाटी स्थापित नहीं कर सका । सूरदास का सम्बन्ध एक विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय (वल्लभ-सम्प्रदाय) से था और साहित्य की दृष्टि से विट्ठलनाथ ने उन्हें एक विशिष्ट कवि-वर्ग (अष्टछाप) से सम्बन्धित कर दिया था । फलतः उनके काव्य में एक विशिष्ट काव्यधारा की वर्ग-चेतना पूर्ण रूप से केन्द्रित है । परन्तु अपने वर्ग-विशेष से बाहर जाकर भी वह सम्पूर्ण कृष्ण-साहित्य को प्रभावित करने में समर्थ हुआ है । वस्तुतः परवर्ती सम्पूर्ण कृष्ण-भक्ति-काव्य और रीति-काव्य का आधार सूर की काव्य-कला और शृंगार-भावना है । तुलसी के काव्य ने साहित्य-क्षेत्र में किसी भी महत्वपूर्ण परम्परा की स्थापना नहीं की परन्तु सूरदास का काव्य युगधर्म बन गया और परवर्ती साहित्य में भारतेन्दु-युग के अन्त तक सूर की भाषा (ब्रज-भाषा) और उनके काव्य के अनुकरण एवं अनुसरण का प्राधान्य रहा । रत्नाकर का 'उद्धव शतक' सूर के प्रभाव की अन्तिम छायास्मृति है । अब भी ब्रज-भाषा में लिखे जाने वाले काव्य पर उनकी छाप है और खड़ी शैली के अनेक कवियों ने भाषा और कृष्ण-चरित्र-निरूपण में उन्हीं से प्रभाव ग्रहण किया है । द्वापर (मैथिलीशरण गुप्त), प्रियप्रवास (हरिऔध) और कृष्णायन (द्वारिकाप्रसाद मिश्र) अनेक अंशों में सूर की प्रतिभा के ऋणी हैं ।

वैसे सूरदास के नाम से अनेक ग्रन्थ उल्लिखित हैं परन्तु उनके लगभग सभी ग्रन्थों का समाहार 'सूरसागर' में हो जाता है ।

'साहित्य-लहरी' और 'सूरसारावली' नाम के दो ग्रन्थ कूटसंग्रह हैं। इन कूटों में से अनेक सूरसागर में समाविष्ट है, अतः हम इन्हें कोई अलग रचना नहीं मान सकते। सूर के मुख्य मंतव्य से इन कूटपदों का सुर भिन्न है, अतः वे उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं। 'सूर-सारावली' सूरसागर की सूचनिका-मात्र कही जाती है, यद्यपि एक तरह से हम उसे स्वतन्त्र ग्रन्थ भी कह सकते हैं। यह अत्यन्त छोटी रचना है और साहित्य-गुण से एक-दम हीन। अधिकाश विद्वान और खोजी इन दोनों ग्रन्थों को अप्रमाणिक समझते हैं। सूरसागर ही सूर की प्रतिभा का भडार रह जाता है। इसमें सूर के सगभग ८००० पद संग्रहीत हैं। सम्भव है, कुछ क्षेपक हों। शैली की दृष्टि से इस ग्रन्थ के दो विभाग किये जा सकते हैं। एक चौपई-शैली, दूसरी पद-शैली। कृष्ण-कथा के सभी प्रमुख अंग दोनों में मिलेंगे। सम्भव है, सूर के पदों मे क्रमबद्धता लाने के लिए और उसे 'भागवत' का स्वरूप देने के लिए चौपई-बद्ध कृष्ण-कथा की अवतारणा हुई हो अथवा सूर की किसी ऐसी अमहत्वपूर्ण रचना को विषय-क्रम से विभा-जित कर पदों के साथ रख दिया गया हो। पद-सामग्री में भी पहले स्कंध के विनय-पद और दशम स्कंध (पूर्वार्द्ध) के सारे पद विशेष महत्वपूर्ण हैं। दशम स्कन्ध (पूर्व०) के पदों में हमें कृष्ण-जन्म से लेकर भँवरगीत तक की सारी कथा मिल जाती है। भागवत, ब्रह्मवैवर्त पुराण, गर्ग-संहिता, जय-देव और विद्यापति सूरदास के प्रधान स्रोत जान पड़ते हैं, परन्तु उनकी मौलिकता और भाव-विदग्धता ने इस सारी सामग्री को मूल सामग्री से कहीं अधिक विविध, रसपूर्ण और मार्मिक बना दिया है। बाल-जीवन और प्रेमी-प्रेमिकाओं के हास-विलास एवं विप्रलंभ के सम्बन्ध में सूर की प्रसङ्गवर्तिनी और नवनवोन्मेषिणी प्रतिभा सचमुच अपूर्व है। भक्ति-भावना और साहित्य, सङ्गीत-कला और वचन-विदग्धता, भाषाचातुर्य और माधुर्य सभी दृष्टिकोणों से सूर बेजोड़ हैं। उनका व्यक्तित्व इस वृहद् सामग्री में भी न समाकर जैसे फूटकर, बिखरकर, उमड़कर चारों ओर फैल जाना चाहता है। साहित्य, कला और सङ्गीत ही जैसे उनके

इष्टदेव कृष्ण के लील-काव्य बन गये हों।

सूरदास के काव्य में हमें उनके दो रूप प्राप्त होते हैं—एक भक्त का, एक कवि-साहित्यकार का। उनके इन दोनों रूपों में ऐसा सामंजस्य है कि यह कहना कठिन है कि वे भक्त बड़े हैं या कवि। कवि के रूप में उन्होंने परवर्ती काव्य-सम्पदा को अनेक प्रकार प्रभावित किया है। स्वयं 'अष्टछाप' के कवि उनके ही काव्य-धन से धनी थे। 'वार्ता' से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्णदास बहुधा उन्हीं के अनुसरण में पद बनाया करते थे और नन्ददास ने छः महीने उनके पास रहकर साहित्य-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी। यह भी किंवदन्ती है कि उन्होंने 'साहित्य-लहरी' की रचना कृष्णदास अथवा नन्ददास के लिए ही की। परवर्ती काव्य में उन्हीं का ऋण सबसे अधिक है। प्रेम, सौन्दर्य और सौकुमार्य के चित्रण के लिए सूरदास की प्रतिभा अद्वितीय थी। इसी से वात्सल्य, बालक्रीड़ा, राधा-कृष्ण के सौन्दर्य, प्रेमविकास और विप्रलम्भ के सम्बन्ध में उनकी मौलिक देन सारे हिन्दी-साहित्य पर छाई हुई है। इन विषयों के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जा सकता है वह सब कह दिया गया है। फलतः परवर्ती कवियों को बार-बार सूर के साहित्य की ओर मुड़ना पड़ा है।

'सूरसागर' के काव्योपयोगी स्थल हैं :—

(१) विनय के पद।

(२) कृष्ण-जन्म, बालकृष्ण की क्रीड़ाएँ और नन्द-यशोदा एवं गोपियों का वात्सल्य।

(३) राधा-कृष्ण का प्रेमप्रसंग।

(४) गोपी-सम्बन्धी निम्न स्थल—मुरली के प्रति कहे पद, नेत्रों के प्रति कहे पद, राधा-कृष्ण के रूपवर्णन-सम्बन्धी पद, भ्रमरगीत, गोपिका-विरह।

(३) कूटपद।

सूर के काव्य की एक विचित्रता यह है कि उसमें वर्णनात्मक कौशल और आत्माभिव्यक्ति एवं गीतात्मकता का अद्भुत समन्वय है। सूर वर्णनो-

पयोगी स्थलों को खोजने में बड़े चतुर हैं और वे अत्यंत विशद, सूक्ष्म, सरस और अलंकृत वर्णन उपस्थित करते हैं। वर्णन शुद्ध तो नहीं रह सके हैं—इसका कारण यह है कि सूर ने उन स्थलों को अत्यन्त निकट से देखा है, उनकी भक्तिभावना उनमें मिल गई है। परन्तु फिर भी वे एक ऐसे काव्य को जन्म देने में सफल हुए हैं जिसे एक साथ ही वर्णनात्मक और आत्मव्यंजनात्मक कहा जा सकता है। अतः हम सूर के वर्णनों को शुद्ध वर्णन न कहकर भावनात्मक वर्णन कह सकते हैं। रूप-वर्णन में तो कवि की भक्ति-भावना इतनी मिल गई है कि वह परम्परागत साहित्य-रूढ़ियों पर आधारित होने पर भी अलौकिक हो गया है। पुष्टि-मार्ग में रूप ध्यान का विशेष स्थान था, इसलिये सूर कृष्ण और राधा के सौन्दर्य वर्णन से अघाते नहीं। सूर के काव्य में प्रकृति-वर्णन का अलग स्थान नहीं है, परन्तु प्रसंगवश प्रभात, सन्ध्या, निशागम, वर्षा, वसन्त, शरद् और यमुना का चित्रण अवश्य हो गया है।

परन्तु 'रस' की दृष्टि में तो सूरसागर 'रससागर' ही है। सूरसागर में विनयपदों में शान्तरस और शेष में वात्सल्य और शृंगार रसों का प्राधान्य है। अद्भुत रस एक तरह सम्पूर्ण कृष्णकथा में समाविष्ट हैं। वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स और करुण रसों की ओर सूर का आग्रह नहीं है। उन्होंने कृष्ण-जीवन के ऐसे प्रसंगों की नितान्त अवहेलना की है जो उपर्युक्त रसों के अन्तर्गत आते हैं। वस्तुतः वात्सल्य और शृंगार-रस के प्रसंग ही सूर को अधिक प्रिय हैं और उन्होंने सूर-सागर में इन्हीं को व्याप्ति दी है। इन रसों से सम्बन्धित प्रसंगों में सूर की मौलिक उद्भावनाएँ इतनी हैं कि उनका काव्य चरित्र-काव्य न रह कर भावनाओं का आलेखन-मात्र रह जाता है।

रस के साथ-साथ अलंकार भी चलते हैं। सूर की दृष्टि काव्योत्कृष्टता पर नहीं थी, भक्ति पर थी। अतः उन्होंने अलंकार के लिये अलंकारों की योजना नहीं की। उनके काव्य में अलंकारों का स्वाभाविक रूप से नियोजन हुआ है। वैसे लगभग सभी अलंकार उनकी रचनाओं से

उपस्थित किए जा सकते हैं, परन्तु रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। ये तीनों सादृश्यमूल अलंकार हैं और भावप्रधान काव्य में उनका प्रचुर प्रयोग स्वाभाविक बात थी। अलंकार-योजना की विविधता और प्रचुरता के कारण ही सूरदास का काव्य पग-पग पर अभिनव और आकर्षक बन सका है। कूट पदों में श्लेष और यमक का प्राचुर्य है, परन्तु यहाँ कवि का ध्येय रसोद्रेक नहीं, चमत्कार है। इसमें सन्देह नहीं कि सूर का काव्य सादृश्यमूलक अलंकारों से ही महान् हो सका है। सूर के उपमान तो परिचित और परम्परागत हैं परन्तु उन्होंने उनका अत्यन्त नवीन रूप से प्रयोग किया है—अनूठी उद्भावना के कारण उपमान भी अनूठे-से लगते हैं। परन्तु सूर का काव्य केवल अलंकारों के सहारे ही बड़ा नहीं है, उन्होंने निरालंकृत भाषा में भी मानव-स्वभाव और शिशु-स्वभाव का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है, जिसमें उनकी प्रतिभा की दूसरी दिशा भी हमारे सामने आती है। शास्त्राग्रही इसे 'स्वभावोक्ति' अलंकार के भीतर रखकर छुट्टी पा सकते हैं परन्तु वास्तव में सूर अलंकार के बाहर भी महाकवि की भूमि पर प्रतिष्ठा पा रहे हैं। मुरली और नेत्रों के प्रति कहे पदों और भँवरगीत प्रसंग में श्रेष्ठतम ध्वनिकाव्य के निर्माण में भी वे सफल हो सके हैं।

परन्तु जैसा हम पहले कह चुके हैं, सूरसाहित्य का सुर भक्ति-काव्य का स्वर है। सूरदास का सम्बन्ध वल्लभाचार्य के 'शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय' से था। गोवर्धन पर इस सम्प्रदाय का एक बहुत प्रसिद्ध मन्दिर है। इस मन्दिर में ही वल्लभाचार्य ने बालकृष्ण की मूर्ति की स्थापना की थी। इस बालमूर्ति का नाम था नवनीतप्रिय। इन्हीं 'नवनीतप्रिय' की बाल-लीला को सूरदास ने अपने काव्य का विषय बनाया। पुष्टि-मार्ग के आराध्य यही नवनीतप्रिय थे। उनकी पूजा-आरती की एक विशेष विधि की प्रतिष्ठा हुई थी। बालक कृष्ण की सारी दिनचर्या ही नवनीतप्रिय की दिनचर्या मानी जाती। मंगला के अवसर पर माता यशोदा और पिता नन्द की भावना से भक्त-कवि गीत गा-गा कर भगवान को उठाते। फिर

कलेऊ उपस्थित होता। बड़ी सजधज के साथ ग्वाल-बालों के साथ कृष्ण वन को जाते। दोपहर को गोप-गोपियाँ खाना लेकर वन में पहुँचते और कृष्ण बड़े प्रेम से भोजन करते। साँझ होते-होते यह बालटोली वन से लौटती और नन्द-यशोदा और ब्रजवासी उसका स्वागत करते। रात को भोजन के बाद बड़े प्रेम से भगवान को शयन कराया जाता। वल्लभ-सम्प्रदाय में भावना का महत्व सबसे अधिक है। भगवान जीवित-जाग्रत रूप में मूर्ति में उपस्थित हैं, इस भावना से ही भक्त परिचालित होता। स्वयं सूरदास का काव्य इस भावना से प्रेरित है और कदाचित् उसकी सबसे बड़ी शक्ति यही है कि उसमें बालक कृष्ण और नन्द-यशोदा का का अत्यन्त मार्मिक चित्रण उपस्थित किया गया है।

यह स्पष्ट है कि वल्लभाचार्य ने राधाकृष्ण की मधुर भक्ति को उतना महत्व नहीं दिया था, परन्तु राधाकृष्ण के सम्बन्ध में मधुर भावना उस समय युगधर्म थी। फलस्वरूप, ब्रज-प्रदेश के भक्त-कवि उससे बच नहीं सके। स्वयं ब्रज में हित हरिवंश और हरिदास द्वारा मधुर भाव की भक्ति का प्रवर्तन हुआ और कदाचित् सूर ने इन्हीं से इस प्रसंग को ग्रहण किया। परन्तु उनकी कवि प्रतिभा ने इस नये प्रसंग में भी अनेकानेक मौलिक उद्भावनाएँ कीं और उसे साहित्यकला और कल्पना की अन्यतम विभूतियों से अलंकृत किया। इस प्रकार उनके पदसाहित्य में पुष्टि-मार्ग की वात्सल्य-भावना के साथ मधुर भक्ति के शृंगारप्रधान प्रसंग का भी समावेश हो गया जिससे उनके साहित्य को पूर्णता ही मिली।

हिन्दवी-भाषा और साहित्य का विकास—१४०० ई० के बाद हिन्दी-कविता का केन्द्र दकन हो गया और १८वीं शताब्दी तक यही केन्द्र रहा। १३वीं शताब्दी में ही दक्षिण इस्लामी पीरों और सूफ़ी कवियों का केन्द्र बन गया था। मलिक काफ़ूर (१२९४—१३११), मुहम्मद तुग़लक (१३२६ ई०) और हसन गंगू की विजयी सेनाओं ने उत्तरी हिंदवी भाषा और संस्कृति को दक्षिण तक पहुँचा दिया। अनेक सैनिक बहमनी राज्य (१३३७—१५१८) में बस गए और इस प्रकार हिंदवी का दकनी

रूप विकसित हुआ। इस समय उत्तर भारत में भी इस भाषा का रूप-रंग काफी विकसित था, यह कबीर (१३९८—१५१८) की रचनाओं में स्पष्ट है। दक्षिण के प्रमुख कवि हैं सैयद गैसूदराज़ बंदानवाज़, शाह मीरानजी शमसुलउश्शाक (मृ० १४९१), शाह बुरहान (मृ० १५८२ ई०), अमी नद्दीन आला (१५८२-१६७५) और मुहम्मद कुलीकुतब शाह (१५८०-१६११)। मुहम्मद कुलीकुतब शाह को छोड़कर शेष सब का साहित्य धार्मिक है। कुलीकुतब शाह के बाद लगभग एक सौ वर्षों तक हम दक्षिण में लौकिक साहित्य का विकास पाते हैं। इस साहित्य परम्परा के अन्तिम कवि वली दकनी (१६६७—१७४१) हैं। वली की कविता में हमें काफी हिन्दीपन मिलता है। वह अपनी काव्य-शैली उत्तर भारत में ले गये और परवर्ती उर्दू काव्य के विकास में उनकी कविता और उसकी लोकप्रियता ने महत्वपूर्ण योग दिया।

यह स्पष्ट है कि यह हिंदवी काव्य-धारा साहित्य की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। इसमें धर्म-प्रचार, मनोविनोद अथवा चहल की भावना ही अधिक है। यह उन मुसलमानों के काव्य का प्रतिनिधित्व करती है जो ब्रजभाषा और अवधी की साहित्य-शैलियों से प्रभावित नहीं हुए और जिन पर इस्लामी रंग अपेक्षाकृत अधिक था। इनमें से अधिकांश में विदेशी रक्त बह रहा था और भारत-भूमि को वे पूर्णतया अपनी नहीं बना सके थे। फलतः उनमें न भारत का प्राकृतिक वैभव है, न यहाँ की धर्म-संस्कृति की छाप है, न यहाँ की जनता की आकांक्षाएं ही प्रतिफलित हैं। परन्तु उर्दू भाषा-शैली के विकास के अध्ययन के लिये ये रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं। मीर जाफर 'ज़ट्टली' (१६५९—१७१३) और नज़ीर अकबराबादी (१७५०—१८३०) की रचनाओं से यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के काव्य की एक स्वतन्त्रधारा उत्तर में भी विकसित हो रही थी। १८वीं शताब्दी के आरम्भ तक दिल्ली में भी हिन्दीपन का जोर था, परन्तु मुहम्मद शाह रँगीले (१७१९—१७४८) के समय में हिंदवी रेख्ता अथवा उर्दू के साँचे में ढल गई।

परन्तु इसी युग में उत्तर-भारत में मुसलमान सूफ़ी सन्तों में अनेक साधक ऐसे भी हुए जिन्होंने इस सामान्य मिली-जुली भाषा का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने अवधी, भोजपुरी और राजस्थानी को अपना माध्यम बनाया। वस्तुतः उनका आग्रह जनपदीय बोलियों की ओर था। ये साधक यहाँ की मिट्टी में जन्मे थे। वे ईरान अथवा मध्य एशिया से नहीं आये थे। फलतः अपनी मातृभाषा के प्रति उनका मोह स्वाभाविक है। इनमें कबीर और दादू अग्रगण्य हैं। अब्दुर्रहमान के समय से ग़दर (१८५७ ई०) तक मुसलमान सन्तों और कवियों का यह योग-दान अविच्छिन्न रूप में और प्रचुर मात्रा में चला जाता है। ग़दर के बाद अंग्रेजों की नीति ने हिन्दू-मुसलमानों के बीच में एक अभेद्य दीवार खड़ी कर दी और वे परस्पर दूर होते गए। राम-रहीम की जिस एकता का सन्देश लेकर कबीर और जायसी-जैसे कवियों ने भारतीय जनता के हृदय को जीता था, वह सन्देश अब समय से पीछे पड़ गया था। ग़दर के बाद मुसलमानों ने फ़ारसी-मिश्रित नई काव्य-शैली (उर्दू) विकसित कर ली और वे उसे ही लेकर चले। इस अलगाव की नीति ने हिन्दी-काव्य और साहित्य को केवल हिन्दुओं तक ही सीमित कर दिया।

राम-भक्ति और तुलसी-साहित्य राम-भक्ति उत्तर मध्य युग की एक अन्य केन्द्रवर्ती भाव-धारा है। वैसे राम-सम्बन्धी साहित्य का आदि ग्रन्थ 'वाल्मीकि रामायण' है जिसकी रचना शुङ्गों के युग (२००पू० ई० के लगभग) मानी जाती है। बाद में रामकथा नाटक, खंडकाव्य, महाकाव्य आदि का प्रधान विषय बन गई और साहित्यिक दृष्टिकोण से लिखे हुए राम-सम्बन्धी साहित्य-ग्रन्थों की संख्या बहुत बड़ी है। इन ग्रन्थों में वाल्मीकि की रामायण के अतिरिक्त कालिदास का 'रघुवंश', भवभूति का 'उत्तर रामचरित', 'प्रसन्न राघव' (जयदेव), 'हनुमन्नाटक' (हनुमानकृत) और 'सेतुबन्ध' (प्राकृत महाकाव्य) विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि तुलसी से पूर्व संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्यकारों ने विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से राम-साहित्य की सारी सम्भावनाएँ

समाप्त कर दी थीं। परन्तु तुलसी ने राम-कथा में राम-भक्ति का समावेश कुछ इस प्रकार किया कि उसने राम-साहित्य की एक नई महत्त्वपूर्ण सम्भावना विकसित कर दी। यही नहीं, उन्होंने इस नई सम्भावना को अनेक पहलुओं से देखा और अनेक छन्दों में, दो महत्त्वपूर्ण प्रादेशिक भाषाओं में बड़ी भावुकता के साथ राम-कथा को उपस्थित किया।

राम-कथा के साहित्य-रूपों के तुलसी पर्याप्त ऋणी हैं उन्होंने 'शिव-कथा' के लिए 'कुमार सम्भव' (कालिदास) को आधार बनाया है और दो प्रमुख स्थलों पर 'हनुमन्नाटक' और 'प्रसन्न राघव' का आधार ग्रहण किया है। परन्तु उनकी मूल प्रेरणा भक्ति होने के कारण उन्होंने पुराणों का भी आश्रय स्वीकार किया है। लगभग सभी पुराणों में राम-कथा है, परन्तु पौराणिक शैली में लिखी राम-कथा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हमें 'पद्मपुराण' की राम-कथा में मिलता है जो 'अध्यात्म रामायण' के नाम से प्रसिद्ध है और जिसमें सम्पूर्ण राम-कथा शिव-पार्वती-संवाद के रूप में उपस्थित की गई है। अपने सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'रामचरित-मानस' के लिए तुलसी ने 'अध्यात्म रामायण' का आधार ही निश्चित किया है परन्तु जहाँ उन्होंने उसके साहित्य-पक्ष को 'प्रसन्न राघव' और 'हनुमन्नाटक'-जैसे ग्रंथों की सामग्री से पुष्ट किया है, वहाँ पौराणिक जगत् से उन्होंने 'श्रीमद्भागवत' को प्रेरणा रूप में चुना है। वर्षा-शरद्-जैसे प्रसंगों में तो यह प्रेरणा स्पष्ट ही है, वैसे वह सम्पूर्ण ग्रन्थ में व्याप्त है। परवर्ती ग्रन्थों (गीतावली, विनयपत्रिका) में तो तुलसी ने समसामयिक कृष्ण-काव्य की शैली (पद-शैली) को भी पूर्णतः स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार उनका 'मानस' पौराणिक शैली पर आधारित होते हुए भी काव्य की सर्वश्रेष्ठ भंगिमाओं से ओत-प्रोत है। उसे परिभाषा हम चाहेमहा काव्य की दें या न दें, वह सामान्य भक्ति-काव्य से बहुत बड़ी चीज़ है।

परन्तु और भी महत्त्व की बात यह है कि इस ग्रन्थ में तुलसी ने युग-मन का चित्रण किया है और साथ ही अपने युग के लिए एक सन्देश भी रखा है। वह स्पष्टतः लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित हैं। उन्होंने

लोक-मानस के द्वन्दों को भली प्रकार समझा है। उस युग में सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में जो उच्छृङ्खलता आ गई थी उसका कलियुग-प्रकरण के अन्तर्गत तुलसी ने 'मानस' और अन्य ग्रन्थों में विशद चित्रण उपस्थित किया है। तुलसी के पास इसका उत्तर था। उन्होंने राम-कथा के पात्रों के उदात्त जीवन की ओर इंगित किया और जनता के सामने पारिवारिक जीवन और लोक-व्यवहार के निश्चित पथ प्रशस्त किये। उन्होंने सम्पूर्ण हिन्दू-जीवन को एक ऊँचा स्तर देना चाहा। उनके लिए राम-भक्ति केवल वैयक्तिक साधना नहीं थी, वह जीवन-निष्ठा थी। उसमें सामाजिक, पारिवारिक और आध्यात्मिक जीवन की परिपूर्णता थी। इसमें सन्देह नहीं कि तुलसी के कुछ समाधान प्राचीन अन्ध विश्वासों और समाज की गली-सड़ी मान्यताओं पर आधारित थे। उन्होंने कबीर और सन्तों के वर्ण-विरोधी स्वर को नहीं पहचाना। अपने ग्रन्थों में उन्होंने मूढ़, अपढ़ ब्राह्मण को भी सर्वोच्च मान्यता दी। 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी' को ताड़ना का अधिकारी बनाकर उन्होंने प्रतिक्रियावादी शक्तियों से समझौता कर लिया। आश्चर्य का विषय तो यह है कि जिस कवि ने स्वयं नारी से अपने जीवन की सबसे बड़ी प्रेरणा प्राप्त की वही उसे पशु के साथ स्थान देने को तैयार हो जाय। परन्तु तुलसी के समाधानों को स्वीकार कर लेने पर भी बहुत-कुछ ऐसा बचा रहता है जिसके लिए हमें सदैव तुलसी का ऋणी होना पड़ेगा। उन्होंने वैयक्तिक भक्ति-साधना को सर्वसामान्य की प्रेरणा बना दिया और उनकी मर्यादा और लोक-कल्याण की भावनाओं ने उस कुसमय में भी हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति की रक्षा की।

तुलसी की प्रामाणिक रचनाओं की संख्या १२ है। इनमें पाँच ग्रंथ अपेक्षाकृत बृहद् हैं—मानस, विनयपत्रिका, कवितावली, गीतावली, सतसई। शेष सात ग्रन्थ हैं—जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, नहछू, वैराग्य सन्दीपिनी, बरवै रामायण, कृष्ण-गीतावली और रामशलाका। इन ग्रंथों में मौलिकता का समावेश नहीं है। विवाह के समय गाने के लिए

'मंगल'-ग्रंथों की रचना हुई। रामशलाका फलित ज्योतिष से सम्बन्धित है। यह रचना निश्चय रूप से तुलसी के अनुरूप नहीं थी। 'वैराग्य-सन्दीपिनी' सन्त-काव्य की भाँति विराग-मूलक रचना है। 'नहछू' में एक लोक-प्रथा को रामपरक बना दिया गया है। 'बरवै रामायण' में बरवै-छन्द के द्वारा दो बार सम्पूर्ण राम-कथा देखी गई हैं। फलस्वरूप कथा का सङ्गठन ठीक नहीं हो पाया है। कृष्ण-गीतावली का सुर निश्चय ही सूर का सुर है—वही विषय, वही भंगिमा, वही उपमान। इन सभी ग्रंथों में कवि ने वाल्मीकि को ही आधार बनाया है। बृहद् ग्रंथों में 'मानस' सर्व-श्रेष्ठ है, फिर 'विनयपत्रिका' का नाम आता है, फिर कवितावली का। 'मानस' प्रबन्ध काव्य है—उसमें महाकाव्य के सभी उपकरण मिल जाते हैं। शेष दोनों रचनाएँ मुख्य हैं। काल-क्रम से ये मुक्तक रचनाएँ बाद में आती हैं और इनमें कवि अपने जीवन और अपनी अनन्य भक्ति-भावनाओं के सम्बन्ध में मुखर हो उठा है। इन रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी की कवि-प्रतिभा अन्त तक जागरूक थी और उनकी भक्ति-भावना निरन्तर गहरी होती गई। 'विनय पत्रिका' में उनके भक्ति-भाव का जो रूप हमें मिलता है, वह हमें विह्वल कर देने में समर्थ है। 'मानस' में तुलसी का आग्रह मधु-संचय की ओर है और उसमें बौद्धिकता और भावशबलता का अद्भुत समन्वय है। इस ग्रंथ का उदात्त स्वर और इसका सन्तुलन अपूर्व है। परन्तु तुलसी के अंतरंग का जैसा चित्र 'विनय पत्रिका' में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं।

संक्षेप में, तुलसी की रचनाओं की यह स्थिति है। उनमें परम्परागत राम-काव्य की श्रेष्ठतम निधियाँ सम्मिलित हैं परन्तु साथ ही तुलसी के साहित्यिक संयम, उनकी भक्ति-भावना, उनके उदात्त नैतिक स्वर और उनकी व्यापक जीवन-दृष्टि ने उनके काव्य को निजी व्यक्तित्व प्रदान किया है। विशुद्ध काव्य की दृष्टि से चाहे तुलसी सूर से कुछ छोटे पड़ें परन्तु जीवन-दृष्टि की व्यापकता, सम्पूर्णता और महानता उन्हें श्रेष्ठतर बना देती है।

उनका सांस्कृतिक महत्त्व—तुलसी-साहित्य का साहित्यिक महत्त्व बहुत अधिक है। साहित्य-रस और भक्ति-भाव की दृष्टि से हिन्दी का एक ही कवि उनके समकक्ष है और वह कवि सूर है, परन्तु सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व यदि किसी हिन्दी-कवि की रचना करती है तो वह तुलसी ही हैं। भारतीय संस्कृति मूलतः नैतिक और आदर्शवादी है। उसमें ऋत् अर्थात् मर्यादा-भाव की प्रधानता है। प्राचीन युग में वाल्मीकि के राम में इस संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ उपकरणों का आरोप हुआ था। मध्य युग के सांस्कृतिक संघातों के कारण सामान्य जन अपनी संस्कृति के इस सुर को भूल गए थे। वैयक्तिक साधना, भावुकता और गीतात्मकता के अदम्य प्रवाह ने चाहे जीवन को रंगारंगी दे दी हो, उसने ऐसे मूल्यों को जन्म नहीं दिया था जो घोर झंझावात के बीच में भी हमें सुदृढ़ और सुरक्षित रख सकते। तुलसी ने उस युग में इस सत्य को आत्मसात् किया और सम्पूर्ण हिन्दू जाति को वे नये मूल्य दिये जो भारतवर्ष की सनातन आदर्शवादी परम्परा का संवर्धन ही करते थे। उनकी सभी रचनाओं में उनका यह प्रयत्न स्पष्ट है, परन्तु जो रचना इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है वह 'रामचरितमानस' है।

राम-कथा का आदि काव्य वाल्मीकि की रामायण है। वाल्मीकि ने राजा राम को आदर्श माना है। विद्वानों का कथन है कि राम-कथा में आर्यों के दक्षिण पथ-विजय की कहानी लिखी गई है और वह मूलतः आर्य सभ्यता और संस्कृति के विस्तार की कथा है। महर्षि वाल्मीकि ने इस कथा को रससिद्ध करके इस शक्तिशाली ढंग पर प्रकट किया है कि वह शताब्दियों से जनता का कण्ठ-हार रही है। आरम्भ में इस कथा का रूप नितान्त ऐतिहासिक रहा होगा, परन्तु काल-प्रवाह के साथ भारतीय दार्शनिक और धार्मिक चिंतन ने उस पर अधिकार प्राप्त कर लिया। राम आदर्श वीर पुरुष नहीं रहे। वह विष्णु के अवतार मान लिये गए और उनके चरित्र को भगवान् की लीला-मात्र कह दिया गया। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में वैष्णव धर्म के पुनरुत्थान के साथ अवतारवाद

की प्रतिष्ठा हुई। राम विष्णु के अवतार ही नहीं रहे, परात्पर ब्रह्म के अवतार हो गए। वैष्णव-मन्दिरों में उनकी मूर्तियों की स्थापना हुई और राम-भक्ति को जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार कर लिया गया। ऐसे समय में ही तुलसीदास इस क्षेत्र में आये। उन्होंने राम-कथा को एक नया रूप दिया।

तुलसी के मानस का मूल्यांकन कठिन है। उसकी महत्ता के कई कारण हैं। उसकी रचना लोक-भाषा में हुई। यद्यपि इससे पहले भी कबीर और जायसी लोक-भाषा में धार्मिक साहित्य की रचना कर चुके थे, परन्तु तुलसी के इस ग्रन्थ से पहले कोई भी ऐसा ग्रन्थ प्रस्तुत नहीं हुआ था, जिसका पण्डितों में मान होता। इस समय जन-समाज से संस्कृत भाषा का अध्ययन-अध्यापन उठ गया था यद्यपि काशी के पण्डित अब भी अध्ययन-अध्यापन और प्रचार में उसी का प्रयोग करते थे। वे लोक-भाषाओं को हीन समझते थे। इसका फल यह था कि शास्त्रों के आचार-विचार-सम्बन्धी उच्च सिद्धान्त, धार्मिक भाव और महान् दार्शनिक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में होने के कारण जनता तक पहुँच नहीं पाते थे। संक्षेप में जनता के पास कोई भी ऐसी धर्म-पुस्तक नहीं थी जो उसके धर्म भाव को पुष्ट करती और उसे आदर्श से अनुप्राणित करती। तुलसी ने पहली बार धार्मिक शिक्षा के लिए सामान्य भाषा को अपना माध्यम बनाया। उन्होंने एक ऐसी लोकप्रिय कथा को ही अपना विषय नहीं बनाया, जिसके पात्र अत्यन्त मानवीय थे, उन्होंने कहानी के साथ-साथ आचार-विचार एवं नैतिक, सामाजिक और वैयक्तिक आदर्शों को गुम्फित कर दिया, और अनियम और उच्छृङ्खलता में डूबी हुई जनता के सामने सम्यक् व्यवहार का उदाहरण उपस्थित किया। राम मर्यादा-पुरुषोत्तम थे। वह अनियम में नियम स्थापित करने आये थे। वह आदर्श पुत्र, आदर्श भ्राता, आदर्श पति, आदर्श मित्र, आदर्श राजा और आदर्श शत्रु थे। तुलसीदास ने जिस समय भरत, लक्ष्मण और हनुमान-जैसे चरित्रों का निर्माण किया उस समय देश अनर्थकारक

उच्छृङ्खलता को अपना तन-मन अर्पण कर चुका था।

तुलसी ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य रामानुज की भाँति अपने युग के अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के विरोध के परिहार की चेष्टा की। इसलिए उन्होंने राम और शिव की कहानियों के सूत्र अत्यन्त चतुरता से गुम्फित किये। काशी के शैवों, शाक्तों और वैष्णवों में भयंकर संघर्ष चल रहा था और कभी-कभी रक्तपात भी हो जाता था। समदर्शी, ज्ञान गम्भीर तुलसी पर इस धार्मिक असहिष्णुता का प्रभाव पड़ा। इसीसे उन्होंने इन सम्प्रदायों में मैत्री भाव स्थापित करने की चेष्टा की। परन्तु भारत की जनता के लिए तुलसी का प्रसाद राम की भक्ति ही है जिसने सहस्रों अशान्त हृदयों को शान्ति और सन्तोष का आनन्द दिया है। तुलसीदास की शिक्षा थी राम की शरणागत-वत्सलता में विश्वास। इस विश्वास ने हिन्दू-हृदय को पुष्ट और हिन्दू आत्मा को जाग्रत रखा और इसके लिए कवि तुलसीदास हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

भक्त, दार्शनिक, पंडित, कवि, नीतिज्ञ, समाज-सुधारक और विचारक के रूप में तुलसी का व्यक्तित्व अकबर-जहाँगीर-युग पर छाया हुआ है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। ऐसा व्यक्तित्व-सम्पन्न व्यक्ति कदाचित् मध्य युग में दूसरा नहीं मिलेगा। तुलसी के उस प्रदेश को काव्य-क्षेत्र के रूप में चुना जहाँ निर्गुण राम का प्रचार हो गया था और सगुण राम-भक्ति की व्यवस्था की। उन्होंने अपनी राम-भक्ति को इतना व्यापक सहिष्णु और उदगार रूप दिया कि वह किसी सम्प्रदाय के बन्धन में न आई और उसने भक्ति के सब क्षेत्रों में प्रवेश किया। आज ब्रज, पंजाब, राजस्थान, पूर्वी हिन्दी-प्रदेश, दक्षिणी हिन्दी-प्रदेश सबमें 'राम चरित मानस' से जनता को शक्ति, नैतिक बल और आचरण सन्देश की प्राप्ति होती है। तुलसी और सूर अकबर युग के सबसे बड़े कवि हैं! सूर की साधना व्यक्तिगत और अंतर्मुखी है। तुलसी की साधना व्यक्तिनिष्ठ और आभ्यन्तरिक होते हुए भी समाज की दृष्टि में रखकर चली। वह स्वस्थ आत्मा की शरणागत भावना थी, निर्बल आत्मा का समर्पण नहीं।

उसमें भगवान् की लीलाओं में अपनी रस-लम्पट प्रवृत्ति से प्रच्छन्न आनन्द ग्रहण करने की भावना नहीं है। तुलसी पौरुष के कवि हैं, महान् व्यक्तित्व के कवि हैं, मर्यादा-भाव के कवि हैं। इसी से उनकी एकान्त-साधना उनके व्यक्तित्व से फूटकर सबकी साधना बन गई।

तुलसी के बाद राम-कथा का विशेष विकास नहीं हुआ और परवर्ती कवियों और भक्तों ने राम-साहित्य में लगभग कुछ नहीं जोड़ा। इसका कारण यह है कि तुलसी ने अपने काव्य में राम-कथा की सारी सम्भावनाएँ समाप्त कर दी थीं। परन्तु फिर भी कुछ कवियों और भक्तों ने इस दिशा में विशेष योग दिया। इनमें केशवदास प्रमुख हैं। 'भट्टि काव्य' के आधार पर लिखी उनकी 'रामचन्द्रिका' साहित्य-प्रेमियों के अध्ययन-अध्यापन की वस्तु रही है। 'रामचन्द्रिका' का रचना-काल १६०१ ई० के लगभग है। राम-भक्ति-काव्य के अन्य कवि स्वामी अग्रदास, नाभादास, लालदास, रामप्रियाशरण, जानकी रसिकशरण, प्रियादास, महाराज विश्वनाथसिंह (आ० का० १७४३), प्रेमसखी (अ० का० १७४४), रामचरणदास (१७८६) आदि हैं। १८वीं शताब्दी के लगभग अयोध्या राम-भक्तों का बड़ा केन्द्र हो गया था और इस केन्द्र में सीताराम के युग को लेकर मधुर भक्ति की भावना भी चली। ये भावना मुख्यतः शृङ्गारात्मक पदों और 'अष्टयाम'-जैसी रचनाओं में सामने आती है। परन्तु तुलसी के उदात्त स्वर के साथ में यह नया विकास नगण्य जान पड़ता है। वस्तुतः राम-कथा में नैतिक सुर ही सबसे तीव्र है और उसमें मधुर भक्ति के संकेतों को स्थान मिलना अनैसर्गिक ही होगा। अयोध्या की सखी-भाव की उपासना ने राम-कथा और राम-भक्ति में मधुर भाव के प्रवेश की चेष्टा तो की परन्तु जनता ने उसका साथ नहीं दिया। आज भी तुलसी की रचनाएँ राम-कथा-सम्बन्धी जन-भावनाओं का आश्रय है।

परन्तु राम-कथा के कुछ अंश तुलसी ने किसी कारण से छोड़ दिए थे। परवर्ती युग के कुछ कवियों ने उन्हें अपने काव्य का विषय बनाया।

राम-सीता का प्रसंग, गंगावतरण, रामाश्वमेध आदि प्रसंग ऐसे थे जो नये कवियों के विषय बने। कुछ कवियों में सम्पूर्ण वाल्मीकि रामायण अथवा उसके अंशों के पद्यानुवाद भी उपस्थित किये। कलानिधि (आ० का० १७१२ ई०) का बालकांड, युद्धकांड और उत्तरकांड का अनुवाद और गणेश (आ० का० १८०३) की वाल्मीकि-कृत रामायण के कुछ अंशों का पद्यानुवाद इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रसंग हैं। राम-कथा के अलग-अलग पात्रों और उनके जीवन से सम्बन्धित स्थलों (जैसे चित्रकूट) पर भी बहुत-कुछ लिखा गया। इस प्रकार की सभी रचनाओं में तुलसी का प्रभाव स्पष्ट है। संस्कृत राम-कथा के कुछ ग्रन्थों का अनुवाद भी हुआ। इनमें से एक हृदयराम-कृत 'हनुमन्नाटक' का अनुवाद (१५६६ ई०) है। राम-कथा की लोकप्रियता और रंगमंचीय उपयोगिता के कारण सम्पूर्ण राम-कथा को नाटकीय रूप देने की भी चेष्टा की गई। प्राणसिंह चौहान (१६६७ ई०) का 'रामायण महानाटक' इसी कोटि की प्रसिद्ध रचना है। १७ वीं १८ वीं शताब्दी में रामलीला को आधार बनाकर एक महत्त्वपूर्ण जन-रंगमंच विकसित हुआ था। यह रंगमंच उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक चलता रहा और उसने राम-कथा से बहुत-कुछ ग्रहण करने की चेष्टा की यद्यपि उसने राम-काव्य की परम्परा की श्रीवृद्धि अधिक नहीं की। एक तरह से देखा जाय तो परवर्ती रामकथा पर तुलसी और उनके साहित्य की अमिट छाप है। उसमें जो कुछ नया स्फुरण है वह लौकिक है अथवा ब्रजभाषा-साहित्य की कृष्ण-कथा की भंगिमाओं से प्रभावित है।

संपूर्ण राम-कथा-काव्य में मुख्यतः दोहा-चौपाई छंद का प्रयोग हुआ है। कथा-काव्यों के लिए अवधी प्रदेश में यही छंद-योजना चल रही थी। संभव है, स्वयंभू की काव्य-परम्परा से भी इसका सम्बन्ध हो। स्वयंभू की अपभ्रंश रामायण (पउम चरिउ) पज्झड़िया (चौपाई) छंद में ही है, और आठ-आठ पाँतियों (अर्धालियों) के बाद दोहा या किसी दूसरे छंद में धत्ता (विश्राम) मिलता है। ये स्वयंभू ध्रुव धारा वर्ष (७८०-६४ ई०) के समकालीन थे। इस प्रकार दोहा-चौपाई छंद में राम-कथा की परम्परा

तुलसी से ८०० वर्ष पहले जाती है। परन्तु तुलसी ने कवित्त-सवैया, बरवै, कुण्डलिया, हरि गीतिका, पद इत्यादि अन्य लोक-प्रचलित छंदों में भी राम-कथा कही। बाद में कवित्त, पद और दोहा-चौपाई छंदों में ही कथा को बाँधा गया। मध्य युग में राम-कथा को अधिक विकास नहीं मिला। उसका एक कारण यह भी था कि उनमें उस युग के अमर्यादित लोक-जीवन का स्पन्दन नहीं था। सामंती समाज की शृङ्गार-रुचि राधा-कृष्ण-कथा से कुछ अधिक सन्तुष्ट होती थी और मधुर भक्ति का आकर्षण तुलसी की दास्य भक्ति से कहीं अधिक था। फिर कृष्ण-कथा के अनेक अंग ऐसे थे जो एकदम अविकसित थे विशेषतः बाल और किशोर जीवन के सम्बन्ध में। पुराणों और संस्कृत-साहित्य में इन अंशों को एकदम अछूता छोड़ दिया गया। इसी से कवि के लिए यह ऐसा क्षेत्र था जहाँ उसकी प्रतिभा अप्रतिहत रूप से दौड़ सकती थी। राम-कथा में ऐसी संभावनाएँ अधिक नहीं थीं। परन्तु फिर उसका उदात्त स्वर उस युग के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती था।

चारण-काव्य और वीर रस की रचनाएँ—उत्तर मध्य युग (१५००-१८००) राजस्थानी और ब्रजभाषा में लिखी वीर रस की रचनाओं के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। 'पृथ्वीराज रासो' की कोई भी प्रति हमें ऐसी नहीं मिलती जो १५०० ई० से पहले की हो। इस ग्रंथ का पहला विस्तृत उल्लेख हमें अबुलफजल की 'आईने अकबरी' (१५७४) में ही मिलता है। उसमें 'रासो' की जो संक्षिप्त कथा दी गई है वह रासो के अर्वाचीन रूप से प्राप्त कथा से भिन्न नहीं है। विद्वानों का अनुमान है कि 'रासो' की भूल भाषा अपभ्रंश के बहुत समीप थी और रचना की मात्रा अपेक्षाकृत बहुत कम थी। १२०० ई० से १५०० ई० तक पृथ्वीराज और आल्हा-ऊदल से सम्बन्धित अनेक जनश्रुतियाँ काव्यबद्ध हो गईं और १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अन्त में 'रासो' के रूप में उनका संग्रह हुआ। इस प्रकार 'रासो' को हम एक तरह से इस काल के अन्तर्गत रख सकते हैं। १५०० ई० तक सम्पूर्ण हिन्दी-प्रदेश मुसलमानों के आधि-

पत्य में आ गया था और चरणों द्वारा वीर काव्य की परम्परा लगभग समाप्त हो गई। जो कुछ रचनाएँ बाद में लिखी गईं, वे बहुत-कुछ परम्परा-पालन-मात्र थीं।

हिन्दुओं का वीर कृतित्व तो हम्मीर के साथ समाप्त हो गया, परन्तु अकबर-युग में प्रशस्ति रूप में ब्रज-भाषा की वीर-काव्य-रचना की एक नई परम्परा स्थापित हो गई। यह परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी तक चली। इस परम्परा में हमें केशवदास के दो ग्रंथ 'वीरसिंह देव चरित' और 'जहाँगीर जस चन्द्रिका' बनवारी (आ० का० १६४३ के लगभग) के अमरसिंह की वीरता-सम्बन्धी पद, गुरु गोविन्द सिंह (१६६६-१७०८) का 'चण्डी चरित्र' गोरेलाल पुरोहित का 'छत्र प्रकाश' (१७०७) जोधराज का 'हम्मीर रासो' (१८१८ ई०), ग्वाल कवि का हम्मीर हठ' सूदन का सुजान चरित (१७७८ ई०) और चन्द्रशेखर का 'हम्मीर हठ' (१८७५) विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन रचनाओं के केन्द्र में भूषण की शिवराज और छत्रसाल-सम्बन्धी रचनाओं को रख सकते हैं जिनका रचना-काल १६०३ ई०—१६६३ ई० के लगभग माना जा सकता है और जो इस तरह रीति-काव्य के प्रमुख कवि बिहारी के समकालीन ठहरते हैं। स्वयं राजस्थान में हम ३०० वर्षों के लम्बे काल में बातों, ख्यातों मुक्त छंदों के रूप में रचनाओं की परम्परा चलती रही। इन रचनाओं से हमें राजस्थान के इतिहास और राजपूतों के जातीय शौर्य का परिचय मिलता है। १५०० ई० के बाद हिन्दी-प्रदेश में केवल राजस्थान और विन्ध्यप्रदेश ही ऐसे भूभाग थे जिन्होंने हिन्दू राष्ट्रीयता की दीपशिखा जलाये रखी। महाराणा उदयसिंह, महाराणा प्रताप, महाराणा रामसिंह, महाराज शिवाजी, महाराज छत्रसाल और गुरु गोविंदसिंह ही इन तीन सौ वर्षों से सबसे अधिक कृती वीर पुरुष थे। उत्तर मध्य युग का वीर-काव्य इन्हीं के कृतित्व को अपना विषय बनाकर चला। वस्तुतः औरंगजेब (१५५६-१७०७) की हिन्दू-विरोधी-नीति मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं का एक संयुक्त मोर्चा खड़ा कर दिया और पंजाब, राजस्थान,

विंध्य प्रदेश और महाराष्ट्र इस मोर्चे के चार सुदृढ़ गढ़ बन गए। हिन्दी कवियों ने इन जननायकों के प्रति अपने श्रद्धा-फूल अर्पित किये और हिन्दू राष्ट्रीयता के नवीन उत्थान में महत्त्वपूर्ण रूप से भाग लिया।

परन्तु इतना होने पर भी यह तो स्पष्ट ही है कि इस काव्य में वीर रस का वह उदात्त रूप नहीं मिलता जो पूर्व मध्य युग (१२००-१५००) के चारण काव्य में मिलता है। इसका कारण यह है कि इस समय वीर काव्य का नेतृत्व ब्रजभाषा के कवियों के हाथ में चला गया था और उन्होंने इसी भाषा को अपने भाव प्रकाशन का माध्यम बनाया। परन्तु ब्रजभाषा मुख्यतः कोमल भाषा है और उसका आग्रह शृङ्गार के कोमल भावों की ओर ही अधिक है। फलतः ब्रजभाषा के वीर रस-काव्यों में कृत्रिमता का सहारा लिया गया और प्राचीन डिंगल काव्य की भाषा के आधार पर कृत्रिम डिंगल की प्रतिष्ठा की गई। ब्रजभाषा के स्वर को ही कुछ ऐसा विकृत बना दिया गया कि वह अटपटा अबूझा और कृत्रिम लगने लगा। युद्ध-क्षेत्र की भीषणता के प्रदर्शन के लिए नादात्मक कठोरता की सृष्टि की गई जो ब्रजभाषा की नैसर्गिक मधुरता के सम्मुख हास्यास्पद लगती है। अधिकांश कवि युद्ध-क्षेत्र से परिचित नहीं थे और इनमें से कुछ कवि शृङ्गार रस के सिद्धहस्त लेखक थे और उनकी प्रधान मनोवृत्ति शृङ्गारी थी इसीसे हम इस काव्य पर चारणों की डिंगल भाषा का अंश ही नहीं पाते, संपूर्ण चारण काव्य का आश्रय लेकर ही यह काव्य चलता है।

इसमें संदेह नहीं कि हम काव्य का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। उदाहरण के लिए हम 'वीरसिंह देव चरित्र' को ले सकते हैं। इससे हमें अबुल फजल की हत्या के सम्बन्ध में कुछ ऐसे तथ्य मिल जाते हैं जिनके सम्बन्ध में इतिहास मौन है। भूषण-जैसे कवि हमें शिवाजी की झाँकी देने में जितने समर्थ हैं उतना कोई भी समसामयिक या परवर्ती इतिहास नहीं। ब्रज-भाषा के वीर-काव्य-प्रणेताओं ने साहित्य को प्रधानता नहीं दी है, उन्होंने इतिहास का व्यतिक्रम नहीं किया है, अतः साहित्य रस की हानि होने पर भी उनसे हमें बहुत-कुछ ऐसा मिल जाता है जो उपा-

देय है। एक तरह से चारणों के काव्य से यह काव्य भिन्न है। चारणों के काव्य में इतिहास की शुद्धता का आग्रह नहीं है। उसमें कल्पना-जनित गाथाओं और जनश्रुतियों की प्रधानता है। एक तरह से उन्होंने वीरता-सम्बन्धी कुछ विशेष धारणाएँ बना लीं और उनके अनुसार अपने काव्य को गढ़ा है। फलतः उनसे विशुद्ध इतिहास की आशा नहीं की जा सकती। उन्होंने पूर्वराग, अपहरण और विलास (संयोग) प्रसंगों को इतिहास-कथा में अनिर्वायतः गूँथ दिया है और कहीं-कहीं तो विस्तार-पूर्वक शृङ्गार-काव्य लिखने लगे हैं। नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' षट्ऋतु-वर्णन को ही प्रधानता देता है—उसमें वीर रस की एक भी भंगिमा नहीं है। सामंती जीवन में विलास शौर्य के साथ कुछ इस तरह गुँथ गया था कि उसे अलग करना कठिन था। प्रारम्भिक काव्यों में वीर नायकों के जीवन में इस प्रकार की व्यवस्था की गुञ्जाइश थी, परन्तु बाद को यह कृतित्व परम्परा-पालन-मात्र रह गया।

फिर भी चारण काव्य और वीर रस काव्य में बहुत-कुछ ऐसा है जो अन्य प्रांतीय भाषाओं के साहित्य में नहीं मिलता। मुसलमानों का आक्रमण उत्तर-पश्चिम के द्वार से हुआ और हिन्दी-प्रदेश को ही उससे मोर्चा लेना पड़ा। इसीलिए वीरता, शौर्य, त्याग और तपस्या के जो सुर हिन्दी-साहित्य में सुनाई पड़ते हैं उनसे अन्य साहित्य वंचित हैं। वस्तुतः राजपूत संस्कृति हिन्दी-प्रदेश के पश्चिमी भागों में ही पनपी और परवर्ती चारण काव्य में उसी संस्कृति के वीर-दृप्त सुर सुनाई दे रहे हैं। इनका पूर्वाभास हमें हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत अपभ्रंश काव्य के मुक्तकों में मिलता है। 'बघी की मूँहडी' के लिए प्राण देना उन दिनों युग धर्म था, वीर रमणियाँ युद्ध-भूमि से भागे हुए पति के प्रति घृणा और लज्जा का अनुभव करती थीं, खड्ग-व्यवसाय के लिए वीर सामंत दूर देशों में प्रवास करते थे। यह परवर्ती काव्य भी उस युग के सपनों से ही समृद्ध है।

रीति-धारा—१५०० ई० से १८०० ई० तक भक्ति-धारा के साथ

लौकिक काव्य की एक धारा भी चलती रही है जो अनेक दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है। इस धारा को हम एक ओर उत्तरकालीन संस्कृत काव्य और अपभ्रंश की मुक्तक परम्परा से जोड़ सकते हैं और दूसरी ओर हिन्दी-साहित्य की अपनी उस परम्परा से जो विद्यापति से शुरू होती है और जिसमें राधा कृष्ण काव्य को शृङ्गार-साहित्य की मान्यताओं पर खड़ा किया गया है। एक तरह से इस साहित्य में जन-साहित्य और शिष्ट साहित्य का बड़ा सुन्दर संगम मिलता है। इस साहित्य का एक अंग साहित्य-शास्त्र की विवेचना और विवेच्य सामग्री के उदाहरण उपस्थित करता है। यह अंग संस्कृत के प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों से अनुप्राणित होता है। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में आचार्य विवेचक-मात्र है, विवेचना की आधारभूत रचनाओं के लिए उसे लोक-विश्रुत कवियों और नाटक-कारों की रचनाओं को लेकर चलना पड़ता है। वस्तुतः साहित्य की विवेचना और कवि-कर्म दो भिन्न वस्तुएँ हैं और इनके स्रोत भिन्न और विविध हैं। विवेचन और विश्लेषण तर्क और पुष्टि का विषय है कविता कवि की अन्तः स्फूर्ति और हृदय पक्ष का फल है। रीति-काल में कवि ने विवेचक का बाना भी पहन लिया जो कदाचित् उसके काव्य के विकास के लिए उचित नहीं हुआ। एक छोटे से दोहे या सोरटे में भाव-विभाव, छंद अथवा अलंकार के लक्षण देकर कवि अपना विवेचन कर्म समाप्त कर देता है। साहित्य-विवेचना के लिए जिस तर्क बुद्ध, विश्लेषणात्मक जागरूकता और तटस्थता की आवश्यकता है वह उसमें नहीं थी। वह मूलतः कवि था। फलस्वरूप जिन उदाहरणों की सृष्टि की है वह विवेच्य वस्तु से अधिक महत्त्वपूर्ण हो गए हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि रीति-काल के कवि को यह विश्वास था कि उसका आचार्यत्व का पद कवि पद से कहीं बड़ा था और बाद में लोगों ने जाने-अजाने उसके इस निरर्थक लेख को स्वीकार भी कर लिया।

परन्तु इतना होने पर आज हमारे पास उस युग के कवि को लांछित करने का कोई कारण नहीं है। पश्चिम के साहित्य को देखें तो उसमें भी

सामंती युग में कविकर्मी और आचार्य कवि अधिक मिलेंगे । अंग्रेजी साहित्य में जिसे पोप-डाइडन का युग (१६३१-१८९८) कहा जाता है, वह निश्चित रूप से इसी प्रकार का युग था। इस युग के अंग्रेजी कवियों के सामने रोमन-सम्राट् आगस्टस (२७ पू० ई० – १४ ई०) के समय का साहित्य था जिसमें विरजिल, होरेस, ओविड और लिवी की कृतियाँ प्रमुख थीं। इस युग के काव्य में काव्य-स्फूर्ति और कल्पना का स्थान प्रबंध, प्रतिभा और तर्क-बुद्धि ने ले लिया था। काव्य के प्राथमिक उपकरणों के स्थान पर गौण उपकरणों को प्रश्रय मिला और इससे उस युग की कविता का स्वर ही बदल गया। रीतियुग में भी ऐसा ही हुआ । रीतियुग की कविता में महाकाव्य का स्थान मुक्तक कवित्त सवैयों और नीरस वर्णनात्मक छंदों ने ले लिया। गीति काव्य के स्थान पर चमत्कार-प्रधान, व्यंजना-क्लिष्ट शृङ्गार की चुहलें अथवा व्यंग विनोद काव्य के उपकरण बन गए। कवि का अर्थ हो गया शास्त्रविद् पंडित—उत्तर संस्कृत काल में रस-प्रकरण में जिसे सहृदय की रूपरेखा उतारी गई थी वही सहृदय इस बार तालपत्रों के पांडित्य का बोझ वहन करता हुआ सामने आया। वह पूर्णतया अतीत जीवी था। माघ, भारवि, हाल, अमलक, गोवर्धनाचार्य, कालिदास और श्रीहर्ष उसके आदर्श थे।

रीति-कविता के जन्म और विकास के इतिहास के अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका आरम्भ दिल्ली के मुगल साम्राज्य के स्थायित्व प्राप्त करने के साथ हुआ। ११९१ ई० की तराईन की लड़ाई में भारतीय सामंती जीवन को एक बहुत बड़ी चुनौती मिली और मुसलमानी बवंडर से राज-सभाओं आदि सरस्वती मंदिरों की कुशल-क्षेम एकदम नष्ट हो गई। साथ ही जनता के जीवन का साहित्य-स्रोत भी बहुत कुछ कुण्ठित हो गया। सम्पूर्ण देश एक विराट् सांस्कृतिक समन्वय में लगा। इस समन्वय के दो पक्ष थे : एक पश्चिमी भाव-धारा और विचारों के आदान-प्रदान को लेकर चला—और उसने उन प्रगतिशील शक्तियों का साथ दिया जो स्वयं इस देश में जाति-भेद, वर्णाश्रम, बाह्याडंबर

कष्टमुक्त साधना इत्यादि का विरोध कर रही थी। यह समन्वय ही सूफी और सन्तकाव्य में प्रतिफलित है। दूसरी प्रतिक्रिया ने पौराणिक धर्म को दल दिया। यद्यपि उसमें भक्ति-भाव के नाते काफी उदारता का भी समावेश हो गया। 'हरि को भजै सो हरि का होई'—भावना ने भक्तों के लिए भाव जगत् में भेद-विभेद की सारी समस्याएँ हल कर दीं। यद्यपि सामाजिक क्षेत्र में उसने रूढ़ि को ही दल दिया। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस अप्रत्याशित आक्रमण ने साहित्यिक परम्पराओं को विशृङ्खलित कर दिया था और उसमें एक नया ही सुर भर दिया था जो धर्म का सुर भले ही हो, उस साहित्य का सुर नहीं था जो गुप्तों के समय से भारतीय सहृदय को आश्वस्त करता रहा था। अकबर (१५५६–१६०५) की उदार नीति ने देश की विक्षुब्ध शिराओं को नवीन जीवन-रस से सिक्त किया और उनमें एक बार फिर स्पंदन दिखलाई पड़ा। अकबर के समय में ईरानी साहित्य और ईरानी सांस्कृतिक वातावरण की प्रधानता रही। इन दोनों में उत्तरकालीन संस्कृत काव्यों का साहित्य-रस पूर्ण रूप से सुरक्षित था। राजसभाओं में इनकी महत्ता देखकर हमारे कवि और आचार्य भी अपनी पूर्ण सामन्ती परम्पराओं की ओर देखने लगे। राजसभाओं के पुनरुत्थान और राजकीय जीवन की महत्ता के कारण समाज का वातावरण भी बदल गया था—वाग्-वैदग्ध्य ने काव्यानुभूति का स्थान ले लिया और कविता अभिजात्य की मुहर लाकर 'नागरी' बन गई। ऐसे वातावरण में एक नई कोटि की काव्य-स्फूर्ति की आवश्यकता हुई—जिसमें नागरिकता, रूप-संविधान, भाषा-कौशल, अलंकार गरिमा और वचन-विदग्धता का अधिक मान था। एक तरह से भक्ति काव्य के भीतर शृङ्गार रस, अलंकार चमत्कार) वचन-वैदग्ध्य एवं शास्त्रीय विवेचन की प्रवृत्तियाँ भी धीरे-धीरे विकसित हो रही हैं। सूरदास के 'भँवरगीत' के पद और उनका राधामाधव काव्य, नन्ददास के 'मंजरी'-ग्रन्थ और इस प्रकार की अन्य रचनाएँ प्रमाण हैं। अकबरी दरबार से संबन्धित गंग, बीरबल और रहीम-जैसे शृङ्गारी-कवियों ने इन प्रवृ-

स्तियों को स्वतन्त्र रूप दिया। १६०० ई० से बहुत पहले ही हमें रीति-काव्य के प्रत्येक अंग पर स्वतन्त्र रचनाएँ मिलने लगती हैं। परन्तु केशव-दास की 'कविप्रिया' (१६०१) और 'रसिकप्रिया' (१५९०) में महान् व्यक्तित्व का सहारा पाकर इस प्रकार की रचनाओं की एक निश्चित धारा ही प्रवाहित होने लगी और उसने थोड़े ही समय में साहित्याकाश के सभी कोने ढक दिए। इसमें सन्देह नहीं कि रीति-युग में भक्ति-काव्य सगुण-निर्गुण धाराएँ भी बड़ी शक्ति से प्रवाहित होती रही हैं, परन्तु उनमें नया अधिक नहीं है और उनका सम्बन्ध साहित्य-रसिक-समाज की अपेक्षा सामान्य जनता से अधिक है। मुस्लिम-बवंडर के कारण राज-सभाओं और सरस्वती-भवनों के घेरकर पनपने वाली जो विदग्ध, ऐश्वर्यप्राण, साहित्य-रसिक, कला-मर्मज्ञ उच्चवर्ग लुप्त प्रायः हो गया था वह अब नये सिर से जड़ जमाने लगा। यह दूसरी बात है कि उसमें अब स्वास्थ्य के उतने चिह्न दिखाई नहीं देते जितने हिन्दूकालीन भारत में थे। परन्तु निश्चित ही वह अपनी ही चीज़ था, बाहर की आमद नहीं।

रीति-साहित्य का प्रमुख सुर शृङ्गार और कला का सुर है और तत्का-लीन फारसी काव्य का सुर भी वही था। फलतः साहित्य-रसिक हिन्दू-मुसलमानों ने इस क्षेत्र में भी बहुत शुद्ध आदान-प्रदान किया। भाव-क्षेत्र की इस एकता के कारण ही मुसलमान सम्राट् हिन्दू-कवियों के आश्रयदाता बने। भक्ति, दर्शन और आचार में चाहे हिन्दू उस युग में मुसलमान से भिन्न रहा हो परन्तु मादनभाव, सुरुचि, और नागरिकता के क्षेत्र में विभिन्नता की कोई गुञ्जाइश नहीं थी। इसी से हम देखते हैं कि रीति-काव्य प्रधानतः हिन्दू काव्य होने पर भी कुछ मुसलमान सहृदय भी ऐसे थे जो हिन्दी के साहित्य-रस के कारण उसकी ओर आकर्षित हुए और उन्होंने इस दृष्टि से साहित्य-निर्माण में योग दिया। पिछले युग में हम अब्दुर्रहमान (१०१० ई०) का उल्लेख कर चुके हैं जो मुलतान का निवासी था और कुल का जुलाहा। 'संनेह

रासभ' (संदेश रासक) उसकी प्रसिद्ध शृङ्गारी रचना है। यह रचना अपभ्रंश में है। इसमें विरह-मिलन की एक छोटी-सी कथा है और उसमें कवि ने षट्ऋतु वर्णन को भी गूँथ दिया है। कथा का प्रसाद गुण और उसके छन्दों का प्रवाह उसे जन गीति का रूप दे देता है। 'परिचय' में कवि ने अपने को मीरसैन अथवा मीरहसन का पुत्र कहा है। इसके बाद हमें बहुत दिनों तक इस कोटि की रचना नहीं मिलती। इस प्रकार की कविता का प्रचुर विकास रीति-काल में हुआ और हमें कुछ महत्त्वपूर्ण कवि मिलते हैं। इसमें रहीम, आलम, रसलीन, नेवाज और पठान सुलतान प्रमुख हैं। इसमें रहीम सबसे महत्त्वपूर्ण है। रहीम ने सतसई, बरवै, शृङ्गार, सोरठ, मदनाष्टक आदि कविता-ग्रन्थों की रचना की है। उनके दोहे और बरवै तो सचमुच हिन्दी रीति-साहित्य का शृङ्गार हैं। पठान सुलतान ने 'बिहारी सतसई' पर कुण्डलियाँ लिखी। यह परम्परा हमारे अपने समय तक चली आई है और अभी अभी मुंशी अजमेरी-जैसे सहृदय मुसलमान कवि और कलाकार हमारे बीच में थे। रीति और नीति की धाराओं में मुसलमानों का योग कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, यह स्पष्ट है। यदि हम केवल अब्दुर्रहमान और रहीम को लें तो भी इस्लामी रीति-काव्य का पल्ला काफी भारी रहता है। अब्दुर्रहमान की रचना का तो ऐतिहासिक महत्त्व और भी अधिक है। वह कदाचित् रीति-सम्बन्धी हमारी सबसे पहली रचना के प्रणेता हैं और उनके काव्य में हमें परवर्ती रीतिकालीन काव्य की सारी विशेषताएँ भ्रूण रूप में मिल जाती हैं। शृङ्गारात्मक आख्यान-काव्यों में आलम की 'माधवानल कामकंदला' (१५८२-३) नाम की प्रेम कहानी विशेष उल्लेखनीय है। रहीम के बरवै हमारे शृङ्गार-काव्य की एक सर्वथा नवीन निधि हैं। यह स्पष्ट है कि मुसलमान कवि हिन्दू जनता के लोक-गीतों, लोकाख्यानों और लोक-व्यवहारों में डूब गए थे। स्वयं हिन्दू कवि लोक-जीवन में उतना गहरा नहीं उतर सके। इसी से उनके काव्य में शास्त्र की जड़ता नहीं, स्वानुभूति की मार्मिकता है जो आज भी हमें पूर्णतः बहा ले जाने में समर्थ है।

रीति-धारा का पूर्व-पर—रीति-धारा के दो अंग हैं। एक का सम्बन्ध रीति-ग्रन्थों के प्रणयन से है और दूसरे का रीति प्रमुख शृङ्गार-काव्य से। इन दोनों अंगों के जन्म और विकास के इतिहास को हम अलग-अलग भी देख सकते हैं यद्यपि रीति ग्रन्थों में उदाहरण के रूप में जिस काव्य को उपस्थित किया गया है वह रीति-काव्य अथवा शृङ्गार-काव्य के अन्तर्गत ही आता है।

रीति-ग्रन्थों की परम्परा कृपाराम से आरम्भ होती है जिन्होंने १५४१ ई० में रस-रीति पर 'हिततरंगिणी' नामक ग्रन्थ दोहों में लिखा। कृपाराम के उल्लेख से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि उनसे पहले कुछ अन्य कवि बड़े छन्दों में विस्तारपूर्वक शृङ्गार-रस का वर्णन कर चुके थे। इन कवियों की रचनाएँ हमें अप्राप्त हैं, परन्तु सूरदास और नन्द-दास के 'साहित्य-लहरी' और 'मंजरी' ग्रन्थों से इस अनुमान की ही पुष्टि होती है। बलभद्र मिश्र (ज० का० १५४२) ने 'नख-शिख' नाम के अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नायिका-भेद' की व्याख्या की और नायिका के विभिन्न अंगों का अलंकारपूर्ण वर्णन उपस्थित किया। १५६१ ई० के लगभग लिखे हुए मनोहर कवि के शृङ्गार-रस-सम्बन्धी कुछ फुटकर दोहे भी हमें प्राप्त हैं। १५७० ई० के लगभग जमाल ने ब्रज-मिश्रित राजस्थानी में शृङ्गार के दोहे लिखे। बलभद्र मिश्र का एक अन्य ग्रन्थ 'दूषण विचार' भी हमें प्राप्त है जिसमें काव्य के गुण-दोषों का निरूपण है। शताब्दी के अन्त में हमें केशवदास (१५५५ ई० —१६१७ ई०) के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसिकप्रिया' (१५९०) और 'कविप्रिया' (१६०१) मिलते हैं। पहला ग्रन्थ नायिका-भेद और शृङ्गार-रस-निरूपण से सम्बन्धित है और दूसरा कवि-शिक्षा और अलंकार-निरूपण से। इस परम्परा में एक अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ अब्दुल रहीम खानखाना (१५५३ ई०—१६२६ ई०) का 'बरवै नायिका-भेद' है। इस ग्रन्थ के साथ १६ वीं शताब्दी की रीति-ग्रन्थ-परम्परा समाप्त होती है।

१७ वीं शताब्दी रीति-धारा का स्वर्ण युग है। इस शताब्दी में हमें

अनेक रीति-ग्रन्थ-प्रणेता मिलते हैं जिनमें प्रमुख हैं चिन्तामणि त्रिपाठी (ज० १६०९, क० का० १६४३)। केशवदास का दृष्टिकोण अलकार-वादी, इनका रसवादी। परवर्ती युग में इन्हीं का अनुकरण विशेष रूप से हुआ। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं छन्द-विचार, काव्य-विवेक, कवि-कुल-कल्पतरु और काव्य-प्रकाश। एक तरह से रीति के सभी अंगों पर पहले-पहले विस्तारपूर्वक लिखने वाले यही कवि हैं। इनके बाद महाराज जसवन्तसिंह (१६१६—१६७४ ई०) का नाम आता है जिन्होंने 'चन्द्रालोक' की छाया लेकर 'भाषा-भूषण' की रचना की। परवर्ती युग में साहित्य-शास्त्र के अध्ययन के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ। इस ग्रन्थ की 'अलंकार रत्नाकर (वंशीधर, १७३५), अलंकार चिन्तामणि (प्रतापसाही, १८३७) और भूषण चन्द्रिका (गुलाब कवि, १७७५) टीकाएँ भी लिखी गईं। मतिराम (ज० १६१७ के लगभग) ने अलंकार-ग्रन्थ 'ललितलता', पिंगल ग्रन्थ 'छन्दसार' और रस-ग्रन्थ 'रसराज' लिखकर इस परम्परा को आगे बढ़ाया। 'साहित्य सार' और 'लक्षण-शृङ्गार' उनके दो अन्य ग्रन्थ हैं। अन्य कुछ ग्रन्थ हैं। 'रस-रहस्य' (कुलपति मिश्र, १६७०), 'वृत्त-विचार' और 'छन्द-विचार' (सुखदेव मिश्र, १६६३—१७०३) 'वारवधूविनोद' (कालिदास त्रिवेदी, १६९२) और शृङ्गार-सौरभ (राम, ज० १६४६)। १८ वीं शताब्दी में मौलिक स्फुरण की इतनी भी मात्रा नहीं मिलती। इन शताब्दी के लगभग सभी रीति-कवि रीति-ग्रथ-रचना का अनिवार्यतः प्रणयन करते थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध देव (देवदत्त १६७३) हैं जिनके २५ ग्रन्थों में से कई रीति-सम्बन्धी हैं। अन्य प्रमुख कवि हैं श्रीधर या मुरलीधर, सूरत मिश्र, कवीन्द्र उदयनाथ, श्रीपति, वीर, रसिक सुमति, गंजन, भिखारीदास, भूपति, तोषनिधि, दलपतिराय, वंशीधर, सोमनाथ, रसलीन, रघुनाथबन्दीजन, दूलह, कुमार-मणि भट्ट, शंभुनाथ मिश्र, रूपसाहि, ऋषिनाथ, वैरीसाल, दत्त, रतन कवि, हरिराम, मणिराम मिश्र, चन्दन, देवकीनन्दन, महाराज रायसिंह, मान कवि, थान कवि, बेनी और जसवंतसिंह द्वितीय। १९ वीं और २०

वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में इस परम्परा का प्रचलन रहा है। इस कोटि की अन्तिम रचना हरिऔध का 'रस-कलश' (१९३६) है। इसमें संदेह नहीं कि रीति-ग्रन्थों की इस परम्परा को हमें काव्य के अन्तर्गत न रखकर काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत रखना चाहिए, परन्तु लक्षण-ग्रन्थ-प्रणेता आचार्यों ने उदाहरण के रूप में जो उत्कृष्ट सामग्री उपस्थित की है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुतः ऐसा काव्य उस युग में कम ही है जो लक्षण-ग्रन्थों से स्वतन्त्र रूप में हमें प्राप्त हुआ हो।

स्वतन्त्र रूप से जिन्होंने काव्य की रचना की उनमें प्रमुख हैं अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना (१५५३—१६२६), सैयद मुबारिक अली बिलग्रामी उपनाम मुबारिक (ज० का० १५८३), सेनापति (ज० १५८९), बिहारी-लाल (ज० १६०३), मतिराम (ज० १६१७ ई० के लगभग), देव (१६७३ के लगभग), वृन्द (१६९१), आलम (ज० १६९३—१७०३), शेख (१६५० के लगभग), घनानन्द (१६९८—१७३९), रसनिधि (ज० १६६०), ठाकुर बुन्देलखंडी (ज० १७९६), बोधा (बुद्धिसेन, ज० १७४३)। १९ वीं और २० वीं शताब्दी से भी कुछ कवि जोड़े जा सकते हैं जिनमें ग्वाल, पजनेस, शंकर, सत्यनारायण और रत्नाकर अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुतः रत्नाकर की मृत्यु (१९३२) के साथ इसी परम्परा को भी समाप्त हुआ समझना चाहिए। परवर्ती आचार्यों में भिखारीदास, पद्माकर और प्रतापसाहि प्रधान हैं और कवियों में भारतेन्दु और रत्नाकर।

यह क्षोभ का विषय है कि इस काव्य-धारा का विशद वैज्ञानिक विवेचन अभी उपस्थित नहीं हो सका है। पहला कारण तो यह है कि अधिकांश सामग्री का अभी निर्देश-मात्र ही हो सका है अथवा वह पांडु-लिपियों के रूप में सुरक्षित है। फलस्वरूप इस सारी सामग्री की वैज्ञानिक और सम्पूर्ण परीक्षा अभी असम्भव है। दूसरी बात यह है कि इस साहित्य में साहित्य-शास्त्र, कवि-परम्पराओं, कवि-प्रसिद्धियों और उत्तर संस्कृत काव्य-साहित्य का निचोड़ है। सम्पूर्ण भारतीय (संस्कृत) साहित्य

की शास्त्रीय और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर ही इसका अध्ययन सम्भव है। इसके लिए जिस विद्या, बुद्धि और अध्यवसाय की आवश्यकता है वह साधारणतः सुलभ नहीं है। एक तीसरी कठिनाई भी है। यह साहित्य लोक जीवन और तत्कालीन शिष्ट संस्कृति से अनेक सूत्रों द्वारा जुड़ा हुआ है और उन्हें सुलझाये बिना इस साहित्य की सम्पूर्ण और सर्वांङ्गीण विवेचना लगभग असम्भव है। परन्तु एक तरह से इस साहित्य का ऐसा अध्ययन हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हमारा आधुनिक काव्य भी रीति-काव्य की तरह लौकिक काव्य है और वह भी उसकी तरह विशुद्ध साहित्यिक चीज है। इस तरह हम आधुनिक काव्य को रीतिकालीन काव्य का विस्तार ही कह सकते हैं। फिर आधुनिक काव्य ने रीति-काव्य के विरोध पर अपने को आधारित किया है। और उस विद्रोह को समझने के लिए रीति-काव्य की रूढ़ियों और उसकी दुर्बलताओं को भी समझ लेना आवश्यक है। आधुनिक युग के काव्य में रीति-ग्रंथ (काव्यमय साहित्य-शास्त्र) की परिपाटी तो नहीं चली, परन्तु शृङ्गार (प्रेम) काव्य आधुनिक काव्य का एक प्रमुख अंग है। रीति युग के स्थूल चित्रण के के विपरीत आधुनिक काव्य में नर-नारी के प्रेम के स्वस्थ अंगों का चित्रण हुआ है, परन्तु इस विरोध में भी रीति-धारा के महत्त्व की स्वीकृति है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

जो हो, यह स्पष्ट है कि आज जो रीति-धारा के नाम से लांछित है, उसमें भारतीय काव्य चिंता और संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश काव्य-धाराओं की कुछ श्रेष्ठतम निधि सुरक्षित है। एक तरह से हमारी समस्त साहित्य-चिंता और काव्य-कला का मुख सामन्तों, राजाओं, धनी सहृदयों और पंडितों की ओर रहा है। उसमें जनता के जीवन का स्वाभाविक स्फुरण उतना नहीं है। संस्कृत नाटक राजाओं और सामन्तों के लिए ही लिखे-खेले जाते थे और परवर्ती काव्य-चिंता मे रस, नायिका-भेद और गुण-सम्बन्धी चिंता-धारा का प्रवर्तन नाट्य-चिंता के साथ हुआ। संस्कृत-काव्य भी जनमुखापेक्षी नहीं है। उसका लक्ष्य संस्कृत नागरिक है जिसे 'सहृदय'

कहा गया है। जब-जब यह सामन्ती सहृदय सिंहासनारूढ़ हुआ है तब-तब कविता और साहित्य-चिंता के क्षेत्र में पुरातन का प्रवर्तन हुआ है और परम्परागत कवि रूढ़ियों और कवि-परम्पराओं से पुष्ट साहित्य-धाराओं का जन्म हुआ है। ये रूढ़ियां और काव्य-परम्परा इतनी सशक्त हैं और उनसे पुष्ट साहित्य में इतना सौन्दर्य और ओज है कि अभिजात्य वर्ग का साहित्य उनसे बच ही नहीं सकता। जब तक हम जनता की संस्कृति की कोई अलग और निश्चित रूपरेखा निर्मित नहीं कर सकते तब तक हमें इस परिस्थिति को स्वीकार करना होगा। इसी से आज रीति-युग के काव्य को लाञ्छित करने की कोई आवश्यकता दिखलाई नहीं देती। उसका साहित्य-चिंता वाला पक्ष बहुत-कुछ परिस्थिति की उपज है—कवि-कर्म इतना प्रधान, व्यापक और व्यवसायी हो गया है कि सैकड़ों कवियों के लिए और कोई मार्ग ही नहीं रह गया है। आज काव्य-समीक्षा गद्य का विषय है। परन्तु नर-नारी के सौन्दर्य, प्रेम, नीति और व्यंग-विनोद तथा लोक-व्यवहार के सम्बन्ध में रीति-काव्य में बहुत-कुछ है जो आज भी अनुपादेय नहीं हो पाया है।

: ४ :

नवयुग (१८००—)

पृष्ठभूमि— हिन्दी-साहित्य के नवयुग का आरम्भ १८०० ई० के लगभग होता है। उसके पीछे १००० वर्षों के काव्य और साहित्य की परम्पराएँ हैं, परन्तु अपने १५०० वर्षों के जीवन में भी उसने इतनी विभिन्नताओं, संभावनाओं और प्रवृत्तियों को जन्म दिया है कि वह सामूहिक रूप में सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य से बड़ा है। यह तो निश्चय है कि वह अभी हमें अपने सूर, तुलसी नहीं दे सका है, परन्तु नवयुग के साहित्य की चित्रपटी कहीं अधिक बड़ी है और उसमें मानव जीवन के बहिरंतर की जैसी छटा है, वह अपूर्ण है। प्राचीन साहित्य से उसका घनभेद ही नहीं है, रूप-भेद भी है। साहित्य के मूल्यों में ही परिवर्तन हो गया है।

प्राचीन हिन्दी-साहित्य की अपनी विशेषताएँ थीं। वह मुख्यतः काव्य था। उसके दो बड़े वर्ग किये जा सकते हैं—एक, राजाश्रय का साहित्य दूसरा लोकाश्रय का साहित्य। पहली कोटि में वीर रस, शृङ्गार, नीति और कथा-सम्बन्धी रचनाएँ आती हैं। लोकाश्रय की दूसरी कोटि के साहित्य में योग, वैराग्य और भक्ति को विशेष श्रेय मिला है। एक तरह से उस समय समाज में दो वर्ग थे। राजा-सामन्तों-अमीरों-उमराओं का वर्ग साहित्य को मनोरञ्जन-मात्र मानता था। उसकी जीवन के प्रति अपार आस्था थी। वह युगों से साहित्यकारों और कवियों को आश्रय देता आया था। उसे इसका गर्व भी था। साहित्यकारों ने भी 'सहृदय' के रूप में उसे ही काव्य का आदर्श श्रोता माना था। परन्तु इस वर्ग की अपनी

सीमाएँ और अभिरुचियाँ थीं। जैसे-जैसे सामन्ती संस्कृति का ह्रास होता गया, वैसे-वैसे राजाश्रय के साहित्य का स्तर नीचे गिरता रहा। १६वीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते वह परम्परा-पोषित और विवरण बन क्या। लोकाश्रय का साहित्य सामान्य जनता को लक्ष्य में रखकर चला। परन्तु उसमें जनता के सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा का अभाव था। वह अन्तः-साधना प्रधान, वैयक्तिक और परलोक-मूलक था। जीवन के प्रति अवज्ञा का भाव उसमें स्पष्ट रूप से मिलता है। यह अवश्य है कि उसमें भी वग विशेष की आस्था के सुर बज रहे हैं परन्तु यह आस्था सांसारिक जीवन की असफलता की उपज है। इस साहित्य में हम सामन्तों और राजाओं के प्रति अनादर और उपेक्षा का भाव पाते हैं और यह सामाजिक और साम्प्रदायिक भेद प्रभेदों पर आघात करता हुआ मानव-मात्र की समानता और दैवीयता का सन्देश देता है। इस साहित्य में ही हमारी सन्त-संस्कृति सुरक्षित है। वेद, उपनिषद्, गीता, पुराण और भागवत इसके स्रोत हैं और इसमें मानव-जीवन के निर्माण के लिए जिन भूमियों की चर्चा की गई है वह अत्यन्त उच्च हैं। लौकिक जीवन का तिक्त रस भी संत-साहित्य में कभी-कभी उभर आता है जैसे तुलसी के आत्मकथनों अथवा कलियुग-वर्णनों में। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन के समतल पर न चल सकने की एक पीड़ा भी इसमें छिपी हुई है।

१७०७ ई० में औरंगजेब की मृत्यु हुई और मुगलों का विशाल साम्राज्य-भवन लड़खड़ाने लगा। १७२४ में स्पष्ट रूप से मुगल साम्राज्य का विशृङ्खलन दिखलाई पड़ा और अवध और दकन में प्रथम राज्यों का स्थापन हुआ १७३० में बंगाल भी पृथक् हो गया। १७३६ के नादिर-शाह के आक्रमण और १७५६ की पानीपत की चौथी लड़ाई ने दिल्ली की बची-खुची शक्ति को भी समाप्त कर दिया। इस समय मराठा, राजपूतों और सिखों के रूप में तीन हिन्दू शाक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें मराठा शक्ति सबसे प्रबल थी परन्तु पानीपत के क्षेत्र में उसकी प्रथम पराजय हुई और उसकी प्रगति रुक गई। १७५७ ई० की पलासी की

लड़ाई ने एक नई विदेशी शक्ति को भारत-भूमि पर स्थापित कर दिया। यह शक्ति अंग्रेजों की थी जो पहले व्यापारी दल के रूप में बंगाल, मद्रास और बम्बई में आई थी। १७६५ में मुगल शहशाह ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी भी इस नई शक्ति को सौंप दी और इस तरह पूर्वी प्रदेशों में एक निश्चित शासक वर्ग उठ खड़ा हुआ। अंग्रेज व्यापार करने आये थे। राज-शक्ति उन्हें अनायास ही, आकाश से गिरे हुए धन की भाँति प्राप्त हो गई। फलतः उन्हें देशियों की सहायता की अपेक्षा हुई। धीरे धीरे एक निश्चित भारतीय समाज का जन्म हुआ। जिसके माध्यम से विदेशी राज्यसत्ता ने अपने शासन-सूत्र को संगठित किया यह भारतीय-समाज ही आज का विकसित मध्यवित्त समाज है। इसके विकास का पहला चरण १७६५ ई० से १८३३ ई० तक माना जा सकता है। १८३३ ई० में मेकाले ने आधुनिक ढंग की अंग्रेजी शिक्षा की नियोजना की। इससे पहले हिन्दू टोलों (विद्यार्थियों पाठशालाओं) और मुसलमानी मदरसों को सहायता दी जाती थी। मेकाले नई शिक्षा के द्वारा विदेशी शासनों को अंग्रेजी भाषा आदि साहित्य में पटु कर्मचारी और सहायक देना चाहता था। राजभाषा भी अंग्रेजी हो गई। फलस्वरूप अंग्रेजी का पठन-पाठन प्रमुख वस्तु बन गया और नई परिस्थितियों में विकसित यह मध्य-वर्ग भारत की नई चेतना का प्रतीक बन गया। पश्चिम के साहित्य ने सामाजिक प्रतिबन्धों के प्रति तीव्र उत्तेजना भर दी और राष्ट्रीयता और मानव-मुक्ति का संदेश नई मध्यवित्त संस्कृति का मूल अंग बन गया।

पश्चिमी व्यापारी यूरोपीय मध्यवित्त के लोग थे। उन्होंने अपने देश में औद्योगिक क्रांति की थी और शासन-क्षेत्र में प्रजासत्तात्मक संस्थाओं का विकास किया था। सामंती संस्कृति से उनका तीव्र विरोध था। छापेखाने का विकास हो चुका था और समाचार-पत्रों, मासिक पत्रों और नये साहित्य के रूप में जनमत का उदय हो गया था। शेक्सपिअर के नाटक, स्काट और विक्टर ह्यूगो के उपन्यास, ह्यूगो, शिलर और

अंग्रेजी रोमांटिकों का काव्य, एडीसन, स्टील, बेकम और मान्टेन के निबन्ध, रूसो और रस्किन के मानवता और सामाजिक उदारता के सन्देश, बर्क की वक्तृताएँ यूरोपीय मध्यवित्त की साहित्यिक और सांस्कृतिक सम्पदा थी। उद्योग-धन्धों के सामूहिक विकास के कारण नगरों का महत्त्व बढ़ गया था और लाखों की संख्या में सामान्य जन नये जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण हो उठे थे। जन-जीवन की जागृति ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में महान् परिवर्तन कर दिया। पूर्व (प्राचीन) के प्रति अनास्था और वर्तमान परिस्थिति से असन्तोष नये जीवन के दो महत्त्वपूर्ण चिह्न थे। नई जन-संस्कृति नितान्त भौतिक और सतत कर्ममयी थी। फलतः उसके साहित्य में लौकिक जीवन की दिशाएँ ही अधिक विकसित हुई और काव्य का नेतृत्व एक तरह से समाप्त हो गया।

भारतीय मध्यवित्त के विकास की रूपरेखाएँ भी वही थीं। उसकी प्रवृत्तियाँ और अभिरुचियाँ भी समान थीं। अतः पश्चिम की संस्कृति और उसका साहित्य उसके लिए दीपस्तम्भ बन गए। यहाँ भी पुरातन के प्रति अनास्था का आरम्भ हुआ और सुधार एवं क्रान्ति को जीवन का मूल मन्त्र मान लिया गया। नई जीवन-दृष्टि का विकास हुआ। सम्पूर्ण १९वीं शताब्दी को हम पुनर्जागरण का प्रथम चरण कह सकते है।

हमारे पाश्चात्य सम्पर्क ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नई शक्तियों को जन्म दिया। पहली प्रतिक्रिया बहुत तीव्र थी। पश्चिम की छाप की प्रत्येक वस्तु अभिनन्दनीय जान पड़ी और पूर्व की प्रत्येक वस्तु लांछित थी। धर्म व्यवहार, समाज और साहित्य में सुधार और परिष्कार की नई चेतना का जन्म हुआ। यह चेतना पूर्व (बंगाल) में ब्रह्म समाज, महाराष्ट्र में प्रार्थना-समाज और हिन्दी-प्रदेश में आर्यसमाज द्वारा संघबद्ध हुई। राममोहन राय (१७७२-१८२३) दयानन्द (१८२४-१८८५) और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-८५) नई आकांक्षाओं और नए सांस्कृतिक पुनर्जीवन के प्रतीक बने। उन्होंने वाणी और लेखनी द्वारा अपने सन्देश को करोड़ों व्यक्तियों तक पहुँचाया और उनके व्यक्तित्व ने अपने चारों ओर उस युग के

सबसे प्रगतिशील व्यक्तियों को इकट्ठा कर लिया। ब्रह्म समाज उपनिषदों के ब्रह्मवाद को आधार बनाकर चला। उसने मूर्तिपूजा और कर्म-काण्डों का विरोध किया और शिक्षा, साहित्य और सामाजिक आचार-विचार के रूप में पश्चिम को बड़ी दूर तक अपनाया। नारी की महिमामयी कीर्ति की उसने फिर स्थापना की और शिक्षा के क्षेत्र में उसे पुरुष के बराबर स्थान दिया। आर्य-समाज ने वेदों को आधार माना और वैदिक आर्यों की यज्ञ-प्रणाली और कर्म-प्रधान संस्कृति की प्रवर्तना की। शिक्षा के क्षेत्र में उसने पश्चिम के नेतृत्व को स्वीकार किया, परन्तु उसने वेश-भूषा, भाषा, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में भारतीयता के गौरव को पुनर्जीवित किया और अपनी नई संस्कृति को प्राचीन धर्म और दर्शन की आधार शिला दी। आर्यसमाज वस्तुतः १९वीं सदी की जागरूक हिन्दू मेधा का प्रतीक है। बाल-विवाह का विरोध, विधवा-विवाह का समर्थन, जाति-पाँति की अस्वीकृति, गौ-रक्षा, आर्यभाषा (हिन्दी) और संस्कृत साहित्य के गौरव की पुनर्स्थापना पौराणिक हिन्दू धर्म और भक्ति भाव का विरोध और नई शिक्षा उसके प्रमुख अंग थे। १९वीं शताब्दी में राष्ट्रीय विचारों के प्रवर्तन में उसका प्रमुख हाथ रहा है। भारतीय साहित्य, संस्कृति और आचार-विचार के प्रति नये मध्यवित्त समाज में जो अश्रद्धा हो उठी थी उसका परिहार उसी ने किया और इस प्रकार नए समन्वयात्मक तत्त्वों में वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। परन्तु सनातनी हिन्दू जन-सागर इन सुधार-आन्दोलनों से आलोकित भर हुआ। उसका बहुत बड़ा भाग इतनी दूर बढ़ने के लिए तैयार नहीं था। वह प्राचीनता और पुरोगामिता से बुरी तरह चिपटा हुआ था। फिर भी आर्य समाज और ब्रह्म समाज के नवीन आन्दोलनों ने उसे कुछ सोचने-समझने के लिए तैयार किया। बंगाल में विवेकानन्द, पंजाब में रामतीर्थ और श्रद्धाराम फिल्लौरी, महाराष्ट्र में चिपलूणकर, आगरकर और तिलक, गुजरात में नर्मद, दलपत और भोलानाथ साराभाई और हिन्दी-प्रदेश में राजा शिवप्रसाद, भारतेन्दु और राधाचरण गोस्वामी नव्य हिन्दू-समाज

के नेता बने। नव्य हिन्दू-समाज सनातन हिन्दू-समाज का अग्रगामी दल था और इसने आर्यसमाज और ब्रह्म समाज की सभी सुधारात्मक प्रवृत्तियों को बहुत दूर तक अपना लिया था। इसने पौराणिक धर्म और भक्तिवाद की नई व्याख्या की और गीता को नई कर्म-प्रधान संस्कृति का बीज यन्त्र माना। अद्वैतवाद लोक-सेवा की प्रेरणा बना और गीता के निष्काम कर्म की रणभेरी फिर एक बार गूँज उठी। इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष में १९वीं शताब्दी सामाजिक और धार्मिक संघातों का युग है? उस हृदय-मंथन से बहुत सा विष भी निकला, परन्तु उस विष की ज्वाला में तपकर उस युग का अमृत और भी मधुर हो उठा है।

नये पुनर्जागरण ने पश्चिम के साहित्य से भी भरपूर प्रभाव ग्रहण किया। गद्य का प्रवर्तन और द्रुत गति से विकास इस जागरण का एक चिह्न था। गद्य के अनेक रूप विकसित हुए। उस युग की बौद्धिक चिंता निबन्धों और लेखों के रूप में ही प्रकट हुई है। अब तक काव्य-मात्र ही जनता का मनोरंजन करता था। अब उपन्यास, नाटक और कहानी के रूप में गद्य के लोक-रंजनकारी रूप भी विकसित हुए। साहित्य की इन सब नई कोटियों के लिए हम पश्चिम के ही ऋणी हैं। नये जीवन की आवश्यकताएँ गद्य में ही अभिव्यक्ति पा सकती थीं। नई जीवन-दृष्टि में जिस भौतिकता और बुद्धिवाद की प्रधानता थी, उसकी माँग गद्य द्वारा ही पूरी हुई। परन्तु काव्य के सुर में भी महान् परिवर्तन हुआ। प्राचीन इष्ट देवी और देवताओं को श्रेष्ठ मानव के रूप में देखा गया और उन्हें मानवीय हर्ष-द्वेष से भूषित किया गया। यह मानवीकरण की प्रवृत्ति हमें पहले-पहल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद-बध' महाकाव्य में मिलती है। प्रकृति और नारी के सम्बन्ध में भी नई दृष्टि विकसित हुई। एक तरह से इस आधुनिक युग को हम नारी-जागरण का युग कह सकते हैं। उपेक्षितों, क्षुद्रों, दीनों-हीनों की ओर भी आसक्ति बढ़ी। गाँव और नगर के नगण्यतम कृषक-श्रमिक भी हमारे महाकाव्यों और उपन्यासों के नायक बनने लगे। भी दुःख और करुणा की व्याप्ति थी, वहाँ कवि की संवेदना

पहुँची। हमारा ऊर्ध्वगामी और ऐश्वर्य प्रेमी साहित्य धीरे-धीरे सामान्य मानवता का वैतालिक बन गया। यह कितनी बड़ी चीज थी, आज भी यह समझना हमारे लिए असम्भव है। अभी भी हम उस महान् क्रान्ति के बीच में हैं जो पश्चिमी सभ्यता के संघात ने हमारे दृष्टिकोण में उत्पन्न की। रूसो, रस्किन, तालस्ताय, ह्यूगो और रोम्या रोलाँ के क्रान्तिकारी विचार भारतवर्ष की आदर्श भूमि पर बड़ा शीघ्रता से पल्लवित हुए। पश्चिम उतनी दूर तक जाने के लिए तैयार नहीं था। ऐतिहासिक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि १७वीं शताब्दी के बाद पश्चिम भारतीय विचार-धारा से अत्यन्त प्रभावित हुआ और जिन पश्चिमी विचारकों और साहित्य मनीषियों का हमने ऊपर उल्लेख किया है वह पूर्वी विचार-धारा से बल प्राप्त करके ही नई भूमियों की सृष्टि कर चुके थे। भौतिक वैज्ञानिक युग की भाग दौड़ में पश्चिम उनके नेतृत्व को स्वीकार नहीं कर सका। परन्तु भारतवर्ष का मन १९वीं शताब्दी में विशेष रूप से प्रबुद्ध था और नई पश्चिमी चिंता ने हमारे सम्पूर्ण चिंतन को नया अर्थ दे दिया। उसमें हमें वेदांत का नया व्यावहारिक जन-सेवी, मानवता-प्रधान रूप मिला और गीता की कर्मठ, निष्कामी संस्कृति के सुर नये रागों में सजते हुए सुनाई पड़े।

इन सब नये सुरों में जो सुर सबसे बढ़ा चढ़ा था वह राष्ट्रीयता का सुर था। पश्चिम में राष्ट्रीयता शब्द के चाहे जो भी संकीर्ण अर्थ रहे हों, भारतवर्ष के मनीषियों ने उसे नये अर्थ दिये और उसमें राष्ट्र-चेतना के सभी अंगों का समावेश किया। उसमें भाषा-संस्कार, सुधार-वाद, नारी-जागरण, देश-चिंता, देश-प्रेम सभी कुछ था। विदेशी शक्ति के आर्थिक शोषण से बचने और देश को दासता से मुक्त कराने की भावना भी उसमें थी, परन्तु उस भावना में ईसाई धर्म के प्रति द्वेष अथवा पश्चिमी संस्कृति के प्रति जुगुप्सा की भावना नहीं की। कदाचित् पहली बार हमने कैलाश से कन्याकुमारी और सिन्ध से स्वर्ण भूमि (बर्मा) तक के विशाल महा देश को अपने प्राण के स्पन्दन में गूँथा था। देश

के वन-पर्वतों, नदी-नालों, गौरवपूर्ण खंडहरों, ऋतुओं, पर्वों, साहित्य-कलाओं और परम्पराओं के प्रति हमने पहली बार गर्व से देखा और एक नये बन्धुत्व के भाव से भरकर भारतवर्ष का विराट् जन-समाज नये सपनों में जाग उठा। यह जागरण स्वतः आनन्दप्रद था। यही आनन्द भाव, यही गर्व नये साहित्य से संवर्द्धन पाकर राष्ट्रीयता के रूप में पल्लवित हुआ। यह कोई राजनैतिक कदम नहीं था। इससे इसने देश को क्षुद्रता से नहीं भरा। इसने हमारे सम्पूर्ण जीवन को नये अर्थ दिये और विश्व के प्रगतिशील जीवन से हमारा सम्बन्ध जोड़ा। पश्चिम को हमने अपने ढंग पर ग्रहण करना चाहा और उन्नीसवीं शताब्दी के समाज-नेता इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि उन्होंने अपनी जीवित परम्पराओं को एकदम तिलांजलि नहीं दे दी। उनकी विचार-धारा और उनके साहित्य में पूर्व पश्चिम का समन्वय पूर्णतया प्रतिफलित है। उनकी राष्ट्रीयता इतनी संकीर्ण नहीं थी कि वह पश्चिम की नई, महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों को एकदम अग्राह्य समझ लेते।

इसमें सन्देह नहीं कि उन्नीसवीं शताब्दी की राष्ट्रीयता का मुख सामान्य जनता की ओर था, विशेष वर्गों की ओर नहीं। इसीलिए भारतेन्दु-जैसे जन-नेताओं ने लोक-गीतों में रचना की और लोक-छन्दों को साहित्य के क्षेत्र में स्वीकार किया। मंजरी, लावनी, नौटंकी, रासलीला आदि के प्रचलित छन्द-साहित्य का स्पर्श पाकर नई आभा से दीप्त हो उठे। उस युग में लोक-रंग मंच से भी सहारा लिया गया। अनेक लोक-प्रेरणाएँ काव्य और साहित्य में गुम्फित हुईं। मुहावरों, कहावतों, गाथाओं और ग्रामीण प्रयोगों के रूप में साहित्य ने जन-भाषा को बहुत दूर तक अपनाया। इसीलिए उन्नीसवीं शताब्दी की भाषा पर जन जीवन की अमिट छाप है और उसकी तेजस्विता और चुहल आज भी हमें मुग्ध कर देती है। उन्नीसवीं शताब्दी में ही हमारा साहित्य जन जीवन से पहली बार संयुक्त हुआ। उत्सवों-त्योहारों-पर्वों, जन-जीवन की चुहलों, व्यंग और परिहास, मनोविनोद और उत्साह से परिपूर्ण यह साहित्य उस युग के

साहित्यकारों की सजीवता और सप्राणता का सबसे सुन्दर प्रमाण है।

इस पृष्ठभूमि को कुछ और भी विस्तार दिया जा सकता है। पश्चिम की ओर से बहने वाले पवन ने हमें नींद से झकझोरकर जगाया ही नहीं, उसने हमारे मन-प्राण में अनायास ही प्रवेश किया और हम अपने चारों ओर की सुगंधि को अप्रयास ही ग्रहण करने लगे। बंगला, मराठी, गुजराती और उर्दू की श्रेष्ठतम प्रवृत्तियों को हमने अपनाया। उर्दू तो अपने ही प्रदेश की भाषा थी। एक तरह से वह मुसलमानों-द्वारा स्वीकृत खड़ी बोली-मात्र ही थी। फलतः उसका साहित्य हिंदी-साहित्य से बहुत निकट था। परन्तु मराठी, गुजराती और बंगला के साहित्य कुछ दूर की चीज़ थे। इन्होंने भी हमें प्रेरणा दी। विशेषतः बंगला के साहित्य ने। बंगला-साहित्य जिस द्रुत गति से पश्चिमी प्रभाव को ग्रहण कर सका उतनी गति से हिंदी-साहित्य के लिए चलना संभव नहीं था। हिंदी-प्रदेश अंग्रेजी-शासन और अंग्रेजी संस्कृति के प्रभाव में कुछ देर में आया और भारतीय संस्कृति का केन्द्र होने के कारण उसके लिए सभी पूर्व रचनाओं को एकदम छिन्न-भिन्न कर देना अनिवार्य था। सीमांती प्रदेशों को लिए यही बात संभव थी। परन्तु हिंदी के साहित्यकार और कवि फिर भी बहुत दूर तक आगे गए। उन्होंने अदृष्ट भूमियों को छुआ और बंगला के सतत संवर्द्धित साहित्य से प्रत्येक नई पीढ़ी में, अनुवाद के माध्यम से अपना संबन्ध बनाए रखा।

नये जागरण ने संस्कृत के साहित्य से भी प्राण ग्रहण किये। संस्कृत भाषा ने हमारी भाषाओं की शब्द-संपत्ति बढ़ाई और उन्हें पग-पग पर सहारा दिया। उसके नाटक और काव्य-साहित्य ने हमारे आदर्शवाद को दृढ़ किया और हमारी साहित्य-चेतना को सुन्दर और सुसंस्कृत बनाया। बीसवीं शताब्दी के स्वच्छंदतावादी काव्य और नाटक पर भी इसका प्रभाव कम नहीं है। पश्चिम के प्रकाश में हमने साहित्य-सम्पदा को नई दृष्टि से देखा और हमें उसमें गर्व का अनुभव हुआ। शकुन्तला, मेघदूत, ऋतु-संहार, उत्तर रामचरित, गीति गोविन्द, कादम्बरी और मृच्छक-

साहित्य इस युग में भी पठनीय जान पड़े। पश्चिम की प्रशंसा नहीं पाते तो कदाचित् यह ग्रंथ हमारी चेतना को उतना नहीं झकझोर सकते। गेटे और शिलर ने शकुन्तला की जैसी प्रशंसा की थी वह संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रति हमें श्रद्धालु बनाने के लिए काफी थी। एक तरह से पश्चिम ने हमें पूर्व की ओर देखने की नई दृष्टि दी और इसके लिए हमें उसका आभारी होना होगा।

संक्षेप में यह नवयुग के साहित्य की पृष्ठभूमि है। पहले के साहित्य से नवयुग का साहित्य मात्रा में, ओज में, व्यापक जीवन-दृष्टि में, नई सामाजिकता और मानवता में ही भिन्न नहीं था उसके सभी उपकरण नये थे। परन्तु फिर भी उसमें उसका अपनापन सुरक्षित था। इसी से वह परवर्ती युग में नई, स्वस्थ रूढ़ियाँ विकसित कर सका और जन-जागरण का प्रतीक बना।

नया-पुराना—उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य में नये-पुराने का संघर्ष स्पष्ट ही दिखलाई देता है। विषय और अभिव्यंजना दोनों में। इस समय इस देश में पूर्वी-पश्चिमी सभ्यता के संघात से नये मनुष्य का जन्म हो रहा था और आज भी यह मनुष्य पूर्णतः विकसित नहीं हो पाया है। अपनी एक कविता में भारतेन्दु ने उस युग की इस 'दुइरंगी' को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

भारत मे एहि समय भई है.
सब कुछ बिनहिं प्रमान हो दुइरंगी।
आधे पुराने पुरानहिं मान,
आधे भये किरिस्तान हो दुइरंगी॥
क्या तो गदहा को चना चढ़ावै,
कि होइ दयानन्द जाय हो दुइरंगी।
क्या तो पढ़ै कैथी को किवलिसै,
कि होई बरिस्टर धाय हो दुइरंगी॥

एही सैं भारत नाम भया,
सब जहाँ कहीं हाल हो दुइरंगी।
होउ एकमत भाई सबै अब,
छोड़हु चाल कुचाल हो दुइरंगी॥

पुरातन और नवीनता का खिंचाव लगभग बराबर था और इस खिंचाव के कारण जनता पथभ्रष्ट हो रही थी। जहाँ एक ओर रूढ़ि-ग्रस्त सामाजिक मान्यताएँ थीं वहाँ एक ओर नवयुग की स्वतंत्रता की पुकार थी। भारतेन्दु ने इस द्वन्द में दयानन्दी विचार-धारा को भी लांछित ठहराया। 'स्वर्ग में केशवचन्द्र सेन और स्वामी दयानन्द' शीर्षक अपने एक निबन्ध में उन्होंने इन दोनों अग्रणियों की निष्पक्ष आलोचना की है। भारतेन्दु वैष्णव विचार-धारा और पौराणिक भक्तिवाद से ओत-प्रोत थे। फलतः उन्हें आर्यसमाजी विचार-धारा भारतीय संस्कृति के प्रमुख सुर के विपरीत जान पड़ी। उन्होंने इस 'दुरंगी' के विरुद्ध आवाज उठाई और जनवाणी को स्वस्थ चेतना का बल दिया। ब्रह्म समाज और आर्य समाज का प्रतिनिधित्व केवल एक छोटे से दल तक सीमित था। इस देश में महान् जन-समुद्र के रूप में जो बोध लहरा रहा था उसका नेतृत्व भारतेन्दु ने ही किया। उन्होंने नवीन सामाजिक और राष्ट्रीय भावों को अपनाया और प्राचीन भक्तिवाद और पौराणिक धर्म की नई विज्ञानमयी व्याख्या उपस्थित की। राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त और मैथिलीशरण गुप्त इसी प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं। मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में हम इस प्रक्रिया को सबसे विकसित रूप में देखते हैं। राजनीति में महात्मा गांधी, उपन्यास में प्रेमचन्द और काव्य में मैथिलीशरण गुप्त भारत की नई मानवता की विजय ही सूचित करते हैं। इस नई मानवता में पश्चिमी तर्क-वितर्क और बुद्धि का चमत्कार है और पूर्व की भक्ति भावना और श्रद्धा से उसका हृदय-तत्त्व संगठित हुआ है। गुप्त जी के काव्य में महाभारत, रामायण, पुराणों और आख्यानकों को नया युग-रूप मिला है और वह अपने युग के

संवेदन को पूर्णतया पकड़ सका है।

१९१३ ई० के बाद हिंदी-काव्य पर पश्चिमी स्वच्छन्दतावादी काव्य का प्रभाव पड़ना आरम्भ हुआ। बंगला-साहित्य में रवीन्द्रनाथ ठाकुर में यह प्रभाव पहले ही जड़ीभूत हो चुका था और कुछ कवियों ने इस प्रभाव को वहीं से ग्रहण किया। रवीन्द्रनाथ की 'सोनार तरी' (१८९६) इस प्रभाव को पहली बार काव्य-रूप देती है। १९१३ ई० से १९४८ ई० तक हिन्दी-काव्य में स्वच्छन्दतावाद की धारा बहती रही। निराला, पंत, प्रसाद और महादेवी वर्मा इस काव्य-धारा के अन्यतम कवि थे। अंग्रेजी की स्वच्छन्दतावादी साहित्य का लक्ष्य मानव-बोध और मानव हृदय की चिर उन्मुक्ति है। काव्य-क्षेत्र में कल्पनातिरेक और जन-भावना इसी मुक्ति का एक स्वरूप है। आधुनिकतम कवियों की प्रकृति के प्रति मुग्ध जिज्ञासा भी इसी ओर संकेत करती है। राजनैतिक क्षेत्र में राष्ट्रीयता और विश्व-बन्धुत्व और दार्शनिक क्षेत्र में अद्वैतवाद इसी प्रक्रिया के दो अन्य रूप है। आधुनिक काव्य और साहित्य का एक प्रमुख अंग नारी-जागरण है। 'नीलदेवी' (नाटक, १८८१) की भूमिका में भारतेन्दु ने नारी-जागरण के शंख बजाये थे। उन्होंने कहा था—"जब मुझे अँग्रेजी रमणी लोग कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगिनी युवती-समूह की भाँति हमारी कुल लक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें, किन्तु और बातों में जिस भाँति अँगरेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं अपना सत्य पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को व्यर्थ गृह दाह्य और कलह में नहीं खोती, उसी भाँति हमारी गृह देवियाँ भी वर्तमान

हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है।" परवर्ती युग के काव्य और साहित्य में नारी-जागरण के यही सुर सुनाई पड़ते हैं। निराला ने नारी को पत्थर की कारा तोड़कर निर्मल जल-धारा की तरह बहने का संदेश दिया है तो पंत ने उसे वासना के वसन खोलने के लिए प्रोत्साहित किया है। प्रेमचन्द और प्रसाद के साहित्य में नारी ही जयध्वज लेकर आगे बढ़ती है। वही नव जागरण की प्रतीक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बीसवीं शताब्दी में साहित्य का सुर ही बदल गया। जहाँ पिछली शताब्दी में अनेक दिशा-भ्रम थे, वहाँ हमारी अपनी शताब्दी में देश की दिशा स्थिर हो गई है और पूर्व और पश्चिम के संतुलन और समन्वय के पथ निर्दिष्ट हो चुके हैं। परन्तु यह भी निश्चित है कि पश्चिम से हमारा सम्पर्क प्रतिक्षण बढ़ता जा रहा है और साहित्य की नई पश्चिमी मान्यताओं से प्रभावित न होना असंभव है। इस सम्पर्क के फलस्वरूप पिछले ३० वर्षों में हमारे साहित्य में कई नवीन धाराओं का समावेश हुआ है। मार्क्स और लेनिन के अर्थ-शास्त्रीय सिद्धांत और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को लेकर वर्ग संघर्ष पर आधारित जिस साहित्य को हम प्रगतिवाद के नाम से अभिहित करते है, वह रूस से प्रेरणा ग्रहण करता है। एडगर और फ्राइड के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों और अंतश्चेतनावाद (Philosophy of the unconcious) ने भी हमारे कथा-साहित्य पर प्रभाव डाला है। काव्य के क्षेत्र में इलियट की मान्यताएँ आदि आलोचना के क्षेत्र में रिचर्ड्स और क्रोचे के सिद्धांत पश्चिमी देन ही हैं। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि विविध प्रकार की नई समवेदनाओं के आघात होने पर भी हमारे साहित्य का मानस-संगठन हमारे अपने सांस्कृतिक उपादानों से पुष्ट है। अत्याधुनिक साहित्य मूलतः प्रयोगवादी है, अतः उसके आदर्श और मानदंड अनिश्चित हैं, परन्तु यह निश्चित है कि नया साहित्य नये भारतीय मन की ही अभिव्यक्ति करेगा। उसमें इतनी ग्रहणशीलता रहेगी कि पश्चिमी साहित्य की प्रवृत्तियाँ भी उसमें समादृत हो जायँ। आज यह आवश्यक भी है। परन्तु

वह भारत की साहित्यिक संस्कृति से अपना नाता तोड़ नहीं सकेगा। अभी हम नये की ओर कुछ अधिक वर्द्धमान हैं—इसमें कहीं-कहीं संतुलन कुछ बिगड़ गया जान पड़ता है, परन्तु नये-पुराने के समन्वय और संतुलन में ही हमारे साहित्य और समाज का क्षेम है। हमारे साहित्य-रथी इसी कल्याण-पथ के पथिक हैं।

कवियों और साहित्यकारों की नई संवेदनाएं—आधुनिक युग के कवियों और साहित्यकारों की नई संवेदनाओं की ओर हमने इंगित किया है। हमें यहाँ उन्हीं पर विशद रूप से विचार करना है।

उन्नीसवीं शताब्दी मुख्यतः सुधारात्मक है, फलतः उसमें सुधार और परिष्करण का भाव ही अधिक है। इस भावना का सबसे प्रथम और सबसे सुन्दर प्रकाशन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में ही मिलता है। 'हरिश्चन्द्र' नाटक के अन्त में उन्होंने लिखा है :

खल जवन सों सज्जन दुखी मत होहि हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै, कर दुख दहै॥

यहाँ पर भारतेन्दु स्पष्ट रूप से यावनिक संस्कारों की पराजय और सज्जनों की विजय चाहते हैं। वह विशुद्ध भक्ति-भाव को भी महत्त्व देते हैं। उपधर्म से उनका तात्पर्य कदाचित् धर्म-सम्बन्धी वितण्डावाद और बाह्याडम्बरों से है। पश्चिमी संस्कृति के संघात ने हमें अपने धर्म के मूल-स्वरूप की ओर इंगित किया। उसने हमें आन्वीक्षिकी दृष्टि दी। फलतः हम अपने प्रति विशेष रूप से सजग हो गए। भारतेन्दु ने लिखा—'हमारा धर्म ऐसा निर्बल और पतला हो गया है कि केवल स्पर्श से वह एक चुल्लू पानी से भर जाता है। कच्चे घड़े की तरह हमारे धर्म की दशा हो गई है।' यह नया बोध हमें पश्चिम से ही प्राप्त हुआ। दूसरे चरण में भारतेन्दु ने अपने स्वत्व प्राप्त कर लेने अथवा राजनैतिक स्वाधीनता की बात कही है। परन्तु अपना स्वत्व पाना कदाचित् राजनैतिक स्वतन्त्रता से बड़ी चीज़ है। वह केवल राष्ट्रीय युक्ति की बात ही नहीं उठाते, भारतीय जीवन और भारत के संपूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार

उनका लक्ष्य है। भाषा का नया संस्कार, देश-भक्ति, धर्म-परिष्कार और समाज-सेवा इस लक्ष्य की ओर ले जाने वाले चार सूत्र हैं। आज जब हम देखते हैं कि स्वतन्त्र होने पर भी भारतवर्ष अपने निजत्व (व्यक्तित्व) को प्राप्त नहीं कर सका है, तो हमें भारतेन्दु की अग्रगामिता और भविष्य-दृष्टि पर आश्चर्य ही होता है। साथ ही वे अधिक शोषण को भी नहीं भूले हैं। 'कर-दुख' से इसी ओर इंगित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु ने हिन्दी-काव्य को नई संवेदनाएँ दीं। इन संवेदनाओं का सम्बन्ध जन-जीवन से था। लोक-जीवन की ओर भारतेन्दु की आसक्ति अत्यन्त तीव्र थी। उन्होंने धरती के जीवन को बड़ी सहानुभूति से देखा था। जनता के उत्सवों-पर्वों में उन्हें बड़ा आकर्षण दिखलाई देता था। वह साहित्य को लोक-जीवन के बीच में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। रंगमंच और लोक-गीतों से सम्बन्धित उनके उद्योग उनकी इसी अंतःप्रेरणा को ध्यान में रखकर समझ में आ सकेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ पूर्ववर्ती काव्य और साहित्य की प्रेरणाएँ परलोकमूलक एवं सामंती थीं, वहाँ भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित आधुनिक साहित्य मध्यवित्ती समाज और नगर-ग्राम की सामान्य जनता के विचार-संघातों और भावनाओं से पोषित था। उसने धर्म और दर्शन के चश्मे उतार दिए थे। देश के सामान्य नर-नारी की नितांत ऐहिक, नितांत क्षुद्र, नितांत भौतिक आशा-कांक्षाओं को नये साहित्य ने कला की सारी जागरूकता और संवेदनता देकर उभारा। किसी परोक्ष सत्ता के प्रति प्रेम और विरह, दैन्य और पलायन के गीत उसने नहीं गाये। धरती की नई उर्वरा-शक्ति से उसने परिचय प्राप्त किया और नये साहित्य का उदात्त, जीवन-स्पर्शी, चिरजाग्रत स्वर एक बार समस्त मध्य-देश पर छा गया।

परन्तु साहित्य के क्षेत्र में जिन नई प्रवृत्तियों ने उन्नीसवीं शताब्दी में जन्म लिया, उनका विशेष विकास बीसवीं शताब्दी में हुआ। आज एक अर्ध-शताब्दी का साहित्य हमारे सामने है और

उसके आधार पर हम नई प्रवृत्तियों के विकास की एक रूपरेखा उपस्थित कर सकते हैं। बीसवीं शताब्दी के हिंदी-साहित्य को जिन देशीय महानुभावों ने प्रभावित किया है वह हैं विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर (१८६१–१६३८), माइकेल मधुसूदनदत्त, द्विजेन्द्रलाल राय, शरच्चन्द्र (१६३६), अरविंद घोष (१६५०), लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी (१८६४—१६४७)। इनमें से सभी ने प्रादेशिक साहित्यों में योग दिया और अंतिम तीन इस अर्द्ध शताब्दी की प्रमुख राजनैतिक शक्तियाँ हैं। २० वीं शताब्दी के इन कृती पुरुषों में ही पूर्वी—पश्चिमी सभ्यता का समन्वय प्रस्फुटित हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में अनुकरण की ही प्रधानता रही। पश्चिम की भौतिक सभ्यता और उनके कर्मठ साहित्य से पूर्वी मेधा चमत्कृत हो उठी। परन्तु उस समय में भी भारत ने ऐसे व्यक्ति उत्पन्न किये जो पश्चिम के अंधानुकरण से ऊपर उठे। राममोहन राय, माइकेल मधुसूदनदत्त, बंकिमचन्द चटर्जी, कार्शीनाथ त्र्यंबक तैलंग ऐसे ही महापुरुष थे। उनमें मौलिक प्रतिभा और अद्भुत सृजन शक्ति थी। मध्य युग में इस्लामी सांस्कृतिक संघात के समय जो काम चैतन्य, तुलसी, कबीर और शंकराचार्य ने किया था, वही उन्होंने भी किया। दो विभिन्न सांस्कृतिक स्रोतों को वह एक केन्द्र पर लाये। बीसवीं शताब्दी में यह परंपरा आगे बढ़ी और गाँधी, अरविंद, रवीन्द्र और शरत् के आविर्भाव ने हमें पूर्ण रूप से आक्रान्त कर दिया कि पश्चिम से बहुत-कुछ लेकर भी पूर्व पूर्व बना रह सकता है और इसी में उसकी मुक्ति है। उसको अपनी सांस्कृतिक देन से हम परिचित हुए और हमने उस पर गर्व करना सीखा। राष्ट्रीयता के भाव ने हमें अपनी आत्मा को पहचानना सिखा दिया।

प्रवृत्तियों की दृष्टि से देखें तो प्रमुख प्रवृत्ति राष्ट्रीयता ही है। १६०५ के बंग-भंग-आन्दोलन ने हम प्रवृत्ति को विशेष बल दिया। परंतु उग्र राष्ट्रीयता का विकास गाँधी जी के पदार्पण के साथ हुआ। १८१५ ई० में गाँधी जी अफ्रीका से भारत आये और लगभग ३२ वर्षों तक उन्होंने

देश का नेतृत्व किया। उन्होंने देश को नई जीवन-दृष्टि दी। शिक्षा, साहित्य, समाज-नीति, राजनीति सभी क्षेत्रों में उन्होंने क्रांति उपस्थित कर दी। १९१९ ई० के जलियान वाला-काण्ड के बाद हमारे साहित्य में राष्ट्रीय भावनाओं का महत्त्व बढ़ने लगा। मैथिलीशरण गुप्त, भारतीय आत्मा, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सनेही और कवियों का काव्य, उग्र और प्रेमचन्द की कहानियाँ, प्रेमचन्द के बृहद् उपन्यास, प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक और 'पत्रों' के लेख, प्रबंध आदि टिप्पणियाँ राष्ट्रीयता की ही देन हैं। राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक चरण का जैसा चित्रण हिंदी-साहित्य में मिलेगा वैसा कदाचित् किसी अन्य भारतीय भाषा में नहीं। सामयिक राष्ट्रीय जीवन की पूरी छाप उस पर है। परंतु राष्ट्रीय भावना ने हमें भारत के पूर्व गौरव की ओर भी उन्मुख किया और इन पचास वर्षों में सैकड़ों की संख्या में ऐतिहासिक नाटकों, उपन्यासों, खण्डकाव्यों और लघु ऐतिहासिक कथाओं की सृष्टि हुई। अपनी प्राचीन संस्कृति के भग्नावशेषों को हमने पहली बार टटोलना शुरू किया और उनमें बहुत-कुछ पाया। इस क्षेत्र में प्रसाद और वृन्दावनलाल वर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। प्रसाद का साहित्य अपेक्षाकृत अधिक गंभीर है और उनके साहित्य में जहाँ अतीत की गौरव सीमा मिली है, वहाँ नये युग का सांस्कृतिक विधान भी है।

सुधार की भावना का जन्म तो १९ वीं शताब्दी में ही हुआ था और ब्रह्मसमाज एवं आर्य समाज के रूप में दो महत्त्वपूर्ण सुधारात्मक शक्तियाँ सामने आई थीं। २० वीं शताब्दी में यह सुधार की भावना और भी विकसित हुई। बीसवीं शती के पहले २०–२५ वर्ष आर्य-समाज के कृतित्व के वर्ष हैं। आर्य समाज की हलचलों ने सारे हिंदू समाज को प्रबुद्ध कर दिया और धीरे-धीरे सनातनी दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ और आर्य समाज के सभी प्रमुख सुधार उसे मान्य हुए। आज आर्य समाज और प्रगतिशील (हिंदू) सनातनी दृष्टिकोण में विशेष अन्तर नहीं रहा। कदाचित् इसी से आर्य समाज अब उतना सशक्त

नहीं है। परंतु हिंदी-साहित्य को तर्क की सशक्त शैली देने और संस्कृति के क्षेत्र में वेद धर्म के प्रति निष्ठा जाग्रत करने का श्रेय उसे ही है। नाथूराम 'शंकर' की कविता और पद्मसिंह शर्मा की आलोचनात्मक कृतियाँ आर्यसमाज की ही देन हैं। परंतु उसका विशेष महत्त्व यही है कि उसने सनातन हिंदू समाज को प्रबुद्ध किया और इस प्रकार राष्ट्रीय पुनर्जागरण में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस प्रबुद्ध सनातन धर्म ने पौराणिक गाथाओं और कृत्यों की नई वैज्ञानिक व्याख्या उपस्थित की और इस प्रकार मध्यवित्त हिन्दू को एक समीचीन युग दृष्टि दी। इस क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं का बड़ा महत्त्व है। अपने ३०-४० काव्य-ग्रन्थों में उन्होंने रामायण, महाभारत और पुराणों की कथाओं को नई साहित्यिक संवेदना और मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि के साथ उपस्थित किया है। इसमें संदेह नहीं कि २० वीं शती के साहित्य में सुधारात्मक भावना का अंश काफी बड़ा है। वस्तुतः गाँधी जी के राष्ट्रीय आन्दोलन सामाजिक क्षेत्र में सुधार के कड़े दावेदार रहे हैं और स्वयं उनकी प्रवृत्तियाँ और उनका व्यक्तित्व इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण शक्ति थे। एक तरह से राष्ट्रीय पुनर्जागरण की भावना सामाजिक और सांस्कृतिक सुधार को भी समेटकर चलती है।

साहित्य-क्षेत्र में इन पचास वर्षों में हम अनेक 'वाद' पाते हैं, परन्तु कदाचित् सबसे सशक्त धारा स्वच्छन्दतावाद की है। अंग्रेजी और फ्रांसीसी स्वच्छन्दतावादी कवियों ने हमारे कवियों को इस ओर इंगित किया। वर्डस्वर्थ, शैली, कीट्स, बाइरन, ह्यूगो, शिलर, स्काट हमारे लोकप्रिय कवि बने। पत्रों में इनकी कविताओं के अनुवाद प्रकाशित हुए। इन अनुवादों ने ही मौलिक रचना का मार्ग प्रशस्त किया। अपने देश में बंगला में बंकिमचन्द, रवीन्द्रनाथ और द्विजेन्द्रलाल राय स्वच्छन्द-वाद की धारा को अपना चुके थे। राय के नाटक शेक्सपीयर के नाटकों को आदर्श मानकर चले। उसमें कल्पना, कथा और मानव-मन की उन्मुक्ति का जो अप्रतिहत प्रवाह है, वह नए समाज की प्रतिबन्ध-विरोधी

प्रकृति के अनुकूल था। स्काट के ऐतिहासिक उपन्यासों के अनुकरण में जो धारा हमारे देश में बही, यह भी इसी भावना को पुष्ट करती थी। ह्यूगो के उपन्यासों से ज़ुदों—समाज-बहिष्कृतों की ओर देखना हमने सीखा। इस प्रकार इस अर्धशती की सबसे महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रवृत्ति को हम स्वच्छन्दतावाद ही कह सकते हैं। १९०३-१९१८ तक प० महावीरप्रसाद द्विवेदी क्लासिकल अभिरुचि के सबसे बड़े समर्थक थे और मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-कला में हमें क्लासिकल-कला की छाप मिलती है, परन्तु स्वयं उनकी 'सरस्वती' ने ज्ञात-अज्ञात रूप से नई प्रवृत्तियों को बल दिया और बाद में पन्त की कविताओं को पहली बार जनता के सम्मुख लाने का श्रेय उसे ही प्राप्त हुआ। राष्ट्रीयता, अतीत की ओर मोह-दृष्टि, स्वच्छन्द प्रेम, नारी-मुक्ति, प्रकृति-प्रेम, काव्य के रूप-गठन की ओर विशेष आकर्षण, विद्रोह और पुनर्निर्माण स्वच्छन्दतावाद के महत्त्वपूर्ण अंग थे। देवताओं का मानवीकरण और मानव में देवत्व की स्थापना भी उसके दो पक्ष थे। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं जिस प्रकार राजनीति के क्षेत्र में गाँधीवाद का प्राबल्य रहा, उसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में स्वच्छन्दतावाद का। दोनों आदर्शवाद की भूमि पर स्थापित होने के कारण एक ही चित्र के दो पक्ष थे। काव्यात्मक रहस्यवाद (छायावाद) स्वच्छन्दतावाद का अंग बनकर ही महत्त्व को प्राप्त हुआ। मध्यवित्त की निराशा और स्वप्नजीवी वृत्ति ने हमें बल दिया। स्वयं हमारे साहित्य में संत सूफ़ी काव्य में इस प्रकार की एक अन्तः-धारा चल रही थी। रवीन्द्रनाथ की 'गीताञ्जलि' (१९११) और अनेकानेक रहस्य-कविताओं ने हिन्दी-काव्य में रहस्य का स्फुरण किया। बाद में स्वतन्त्र रूप से इसका विकास हुआ।

स्वच्छन्दतावाद के साथ-साथ हम सामाजिक काव्य, प्रहसन और उपन्यास-कहानी के क्षेत्र में यथार्थवादी दृष्टिकोण भी विकसित होता हुआ देखते हैं। प्रसाद ने यथार्थवाद की धारा का आरम्भ भारतेन्दु की 'प्रेमयोगिनी' नाटिका (१८८३) से माना है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में चित्रण

के क्षेत्र में यथार्थवादी कला का ही प्रयोग हुआ है, यद्यपि भावना की दृष्टि से वह आदर्शवादी है। उन्होंने अपनी कला की व्याख्या करते हुए इसे 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की उपज बतलाया है। १९३० के बाद यथार्थवाद की पुकार स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ती है और प्रेमचन्द के 'कफ़न' (१९३६) और प्रसाद के 'कंकाल' (१९३३) के प्रकाशन के साथ इस धारा को बल मिलने लगता है। बाद में यह 'प्रगतिवाद' नाम की उस साहित्य-धारा में अन्तर्भुक्त हो जाती है जो साहित्य के क्षेत्र में सामाजिक मूल्यों और कला के क्षेत्र में प्रयोगों को महत्त्व देता है। पिछले दस वर्षों में साहित्यिक क्षेत्र में अनेक 'वाद' आये हैं। यूरोप के अत्याधुनिक साहित्य और नये साहित्यिक-मनोवैज्ञानिक-सामाजिक दर्शनों ने फिर एक बार हमारे मध्यवित्त को क्षुब्ध कर दिया है और वह मार्क्सवाद, अन्तश्चेतनावाद, प्रयोगवाद आदि के भीतर से अपना मार्ग ढूँढ़ना चाहता है। हमारे समाज और राष्ट्र अभी अनगढ़ हैं और इन क्षेत्रों में हम अभी पश्चिम को ही अगुआ बनाकर चल रहे हैं। जब तक हम इन क्षेत्रों में अपने मौलिक समाधान उपस्थित नहीं कर सकते, तब तक साहित्य के क्षेत्र में मौलिक दृष्टिकोण की उपलब्धि असम्भव है और हम पश्चिम के नित्य नवीन 'वादों' की मरुमरीचिका के पीछे दौड़ते रहेंगे।

(१) कविता

आधुनिक साहित्य में काव्य का अत्यंत प्रमुख स्थान है। वैसे उपन्यास-कहानी जनता में अधिक लोकप्रिय हैं और आधुनिक समस्याओं और मानव-चिंता के अनेकानेक विषयों के लिए हमें गद्य का प्रयोग ही अनिवार्यतः करना पड़ता है, परन्तु युग का जितना स्पष्ट चित्र काव्य में दिखलाई पड़ता है, उतना और किसी भी साहित्य-कोटि में नहीं। इसका एक कारण तो यह है कि कवि भावुक प्राणी है और अपनी भावुकता और विशेष विकसित अन्तर्दृष्टि के कारण वह अपने समय की भावनाओं और विचार-धाराओं को अपने काव्य में पूर्णतया प्रतिबिम्बित करने में समर्थ है। नाटककार और उपन्यासकार समाज के बाह्य उप-

करणों में बँध जाते हैं परन्तु कवि उसके अन्तरंग में प्रवेश कर लेता है। इसीलिए आज भी हमारे साहित्य के केन्द्र में कविता ही विद्यमान है यद्यपि गद्य युग की प्रमुख प्रवृत्ति है।

फिर कविता की हमारे यहाँ लम्बी परम्परा रही है। ऋग्वेद की ऋचाओं से लेकर आज के कवियों की रचनाओं तक में हम एक ही भारतीय हृदय का स्पंदन पाते हैं। भावुकता, कल्पना और सङ्गीत की जो अगाध-लहरी हमारे देश में ५००० वर्षों से बह रही है, जिसने धर्म, दर्शन, ज्ञान और संवेदना के सभी पहलुओं को छुआ है, जिसके माध्यम में हमारे श्रेष्ठतम व्यक्तित्वों ने प्रकाश पाया है, उसे आज अस्वीकृत कर देना कठिन है। आधुनिक कविता ने इस परम्परा में बहुत-कुछ जोड़ा है। अभी उसकी सभी संभावनाएँ समाप्त नहीं हुई हैं। गद्य हमारे जीवन के चारों ओर उमड़ रहा है, जीवन की आवश्यकताएँ ही कुछ इस प्रकार बदल गई हैं, परन्तु आज भी सौन्दर्य, प्रेम, रहस्य और अध्यात्म हममें उच्चतम काव्य-स्फुरण को जन्म देने में समर्थ हैं।

यह ठीक है कि सूर-तुलसी-मीरा के युग के बाद सांस्कृतिक ह्रास के कारण हमारे काव्य में हीनता आ गई थी। कवियों ने अपनी दृष्टि को केवल-मात्र 'नारी' पर केन्द्रित कर दिया था। सामंती जीवन की भोग-लिप्सा में योग देना ही जैसे कवि-धर्म हो गया हो। परन्तु यह श्रेय की बात है कि आधुनिक जीवन की पुकार को हमारे कवियों ने सुना और उन्होंने कविता को नई भावनाओं और नये युग-धर्म से परिचित कराया। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि जो नई संवेदनाएँ जीवन में आ गई हैं वह काव्य के रूप को बदल देती हैं। उन्होंने धरती के गीत गाये। काव्य के परलोकवादी स्वर को उन्होंने इस लोक की ओर मोड़ा। प्राचीन काव्य में कवि साधक था और साधक कवि। इस समन्वय ने हमें गोरखनाथ, सूर, तुलसी, कबीर और मीरा का काव्य दिया। आधुनिक युग सुधार, राजनीति और अर्थवाद का युग है। इस युग का मूल-मंत्र है कर्मण्यता, साहस और पुरुषार्थ। इस क्षेत्र में नये कवि वह स्थान नहीं

ग्रहण कर सके जो मध्य युग में साधक कवियों को प्राप्त था। परन्तु अनेक कवि फिर भी अग्रणी रहे। भारतेन्दु उदाहरण हैं। उन्होंने ही भक्ति और रीति की धाराओं को नई दिशा दी और मानव की सर्वमुक्ति की घोषणा की। अनेकानेक अन्य कवि भी सुधार, क्रांति और राष्ट्रीय आन्दोलन में अगली कतारों में रहे। फलतः उनके काव्य ने ही युग-भावनाओं को प्रकाशित किया और नये युग का नेतृत्व किया। पूर्व और पश्चिम के क्षेत्र में उन्होंने सेतुबंध का काम किया। साहित्य की अनेक नई कोटियाँ हमने पश्चिम से उधार ली हैं—उपन्यास, कहानी, निबंध आदि। परन्तु काव्य और नाटक के क्षेत्र में हम धनी थे। इन क्षेत्रों में पूर्व-पश्चिम के पूर्ण समन्वय से हमने अपने साहित्य में नई लीक स्थापित की और नये भारतीय मध्यवित्त के संस्कारों से पुष्ट नई कला का प्रवर्तन किया।

काव्य-भाषा और शैलियों का विकास—उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की समाप्ति तक काव्य-भाषा के रूप में ब्रजभाषा का अखण्ड राज्य रहा। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर मध्ययुग में ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली आदि राजस्थानी की सशक्त काव्य-परम्पराएँ चल रही थीं, परन्तु साहित्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा का उपयोग अपेक्षाकृत अधिक व्यापक था। वह दो प्रधान काव्य-धाराओं की भाषा थी। कृष्ण-भक्ति और रीति-काव्य की भाषा 'ब्रज' ही है। उत्तरमध्य युग का वीर-काव्य भी बहुत बड़ी मात्रा में इसी भाषा के माध्यम से प्रकाशित हुआ है। फलतः उसे अधिक प्राधान्य मिला। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भी यही प्रमुख काव्य-भाषा रही, यद्यपि १८८१ ई० के लगभग भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने 'भारतमित्र' में अपने कुछ खड़ी-बोली के पद्य प्रकाशित कराये और अपने नाटकों में हास-परिहास के पद्यों में इसी भाषा का उपयोग किया। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम तीस वर्ष खड़ी-बोली-आन्दोलन के वर्ष हैं। इन वर्षों में काव्य-भाषा के रूप में परिवर्तन करने की पुकार हुई और 'गद्य-पद्य की भाषा एक ही हो' इस विषय में तर्क-वितर्क और प्रयोग उपस्थित हुए।

भारतेन्दु ने काव्य-भाषा के रूप में जिस ब्रज-भाषा का उपयोग

किया वह उस समय तक जड़ और निश्चेष्ट हो चुकी थी। ब्रज-प्रदेश की लोकवाणी के रूप में जिस ब्रज-भाषा का प्रयोग हो रहा था, उससे वह भिन्न हो गई थी। एक काव्य से दूसरा काव्य अनुप्राणित हुआ और इस प्रकार भाषा की नैसर्गिक, जन-जीवन की स्फूर्ति परम्परागत प्रयोगों और शास्त्र-बंधनों में खो गई। भारतेन्दु ने इस पारस्थिति पर ध्यान दिया और उन्होंने अपने कवित्त-सवैयों में ब्रज-भाषा के नये रूप की प्रतिष्ठा करनी चाही। उनके पद-कवित्त सवैये ब्रज-भाषा के जन-प्रचलित रूप और स्वयं उनकी अनुभूति का फल पाकर एकदम नवीन बन गए हैं। वस्तुतः परवर्ती ब्रज-भाषा काव्य में रसपरक कवित्त सवैयों की एक परंपरा चल पड़ी थी और घनानंद, बोधा, ठाकुर प्रभृति कवियों के काव्य में स्वानुभूति पर विशेष बल दिया गया था। इन कवियों का ब्रज-भाषा का प्रयोग भी शास्त्रबद्ध नहीं है। भारतेन्दु भी इन्हीं रससिद्ध कवियों की परम्परा में आते हैं। उन्होंने ब्रज-भाषा की शास्त्रगत जड़ता दूर करने की चेष्टा की और उनकी भावयित्री प्रतिभा का स्पर्श पाकर वह और भी हृदय ग्राहक बन गई। जयशङ्करप्रसाद ने अपने प्रारम्भिक (ब्रज-भाषा) काव्य में भारतेन्दु की भाषा-शैली का ही अनुसरण किया और इस तरह छायावाद-काव्य की रसानुभूति भारतेन्दु की अनुभूतिपरता से परोक्ष रूप से संबंधित हो गई।

परंतु भारतेन्दु का एक काम कदाचित् और भी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने ब्रजभाषा-काव्य में नये छंदों और नये विषयों का भी प्रवर्तन किया। लावनी, कजली, बारहमासा, होली, बसंत और लोक-प्रचलित छंदों और शैलियों में कवि ने अपने सामाजिक जीवन की आलोचना उपस्थित की और कविता को राष्ट्रीय प्रबोधन और सामाजिक जागृति का अंग बनाया। 'हिंदी की उन्नति पर व्याख्यान' शीर्षक लम्बी प्रबंध-कविता में उन्होंने विदग्धतापूर्वक अपनी विचार-धारा उपस्थित की। कदाचित् इस कविता में काव्य को पहली बार गंभीर विवेचना का माध्यम बनाया गया है। भारतेन्दु के लिए कविता स्वांग की वस्तु नहीं थी, वह लोक-जीवन व

सबसे मधुर, सबसे सुन्दर वाणी थी। उसमें लोक-भावना और लोक-चिंता का पूर्णरूपेण समावेश था। भारतेन्दु ने ही पहली बार बंगला-काव्य की ओर दृष्टि डाली और उसके माध्यम से पश्चिमी प्रभाव को ग्रहण किया।

भारतेन्दु के बाद इस परम्परा में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य जयशङ्कर-प्रसाद का है। उन्होंने भारतेन्दु की रस-विदग्धता को आदर्श माना और काव्य को कवि की भावयित्री प्रतिभा के प्रकाशन का माध्यम बनाया। उनकी ब्रज-भाषा-कविता भारतेन्दु की कविता का ही विकास जान पड़ती है। परंतु उनकी दृष्टि विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि थी। फलतः वह केवल प्रयोगों तक सीमित नहीं रह सके। बङ्गला और अंग्रेजी-उर्दू के काव्य-रूपों और काव्य-शैलियों की ओर उनकी दृष्टि गई। १९०९ ई० से १९१४ ई० तक वह इस दिशा में अनेक प्रयोग करते रहे। २० वीं शताब्दी के पहले तीस वर्ष इस क्षेत्र में प्रयोग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। पहले दशक में संस्कृत वर्णिक छंदों का भी बहुत व्यापक प्रयोग हुआ, परंतु उसके अंत्यानुप्रास और गण के कठोर बंधन से छूटने की भी चेष्टा हुई। वस्तुतः संस्कृत के वर्णिक छंद हिंदी की प्रकृति के विरोधी थे। इससे शीघ्र ही प्रत्यावर्तन शुरू हुआ और हिंदी के अपने छंद लोकप्रियता पाने लगे। रोला, छप्पय, कुण्डलियाँ, सार, सरसी, गीतिका, हरिगीतिका, तोटक, लावनी, वीर आदि छंदों का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ। उर्दू की लयों (बहरों) और अनुकान्त के भी सुन्दर प्रयोग हुए। परंतु जो चीज और भी महत्त्वपूर्ण थी वह थे कवियों के स्वच्छन्द प्रयोग। कवि-शास्त्रीय छंदों के ढाँचे तक सीमित रहना नहीं चाहता था। अपने भाव की अभिव्यंजना के लिए वह प्राचीन छंदों में जोड़-तोड़, घटा-बढ़ाकर नये छंदों का आविष्कार करने लगा। ये स्वतंत्र प्रयोग दो प्रकार से हमारे सामने आते हैं।

(१) मिश्र छंद, जिनमें दो छंदों के चरणों का मिश्रण होता था।

(२) असम छंद, जिनमें एक बंध की मात्राओं में अनियमित असमता

थी। श्रीधर पाठक से लेकर प्रसाद-पंत-निराला तक हम बराबर इस प्रकार के नये प्रयोग देखते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों ने हिंदी-कविता की अभिव्यंजना-शक्ति को बढ़ाया और भावना की अप्रतिहत गति को शास्त्र रूढ़ियों से अधिक श्रेय दिया। सबसे अधिक प्रयोग छायावादी कवियों ने ही किये। काव्य की गतानुगत जड़ता को तोड़ने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त है। प्रसाद के प्रारम्भिक काव्य-प्रयोग और पंत की 'पल्लव', 'वीणा' काल की रचनाएँ नये प्रयोगों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। उर्दू का प्रभाव हरिऔध, दीन, बच्चन और निराला की कविताओं में ही अधिक दिखलाई पड़ता है। इस दिशा में भी प्रवर्तन भारतेन्दु द्वारा ही हुआ था, परन्तु स्थायी साहित्य कदाचित् उतना भी नहीं बन सका जितना बंगला का नजरुल इस्लाम का गजल-साहित्य। खड़ी-बोली की लयात्मकता ह्रस्व-दीर्घ के निश्चित पथ पर चलती है, उसमें उर्दू छंदों का वह लोच नहीं है जो दीर्घ को सरलता पूर्वक ह्रस्व कर ले। रूबाई छंद का कुछ व्यापक और सफल प्रयोग हुआ है—कदाचित् छोटे-छोटे भावों और विचारों के प्रकाशन के लिए यह छंद अधिक समर्थ है। प्राचीन कविता में दोहा-सोरठा-बरवै आदि छोटे छन्दों में भावना के छोटे-छोटे स्फुलिंग जिस प्रकार जड़ित हो सकते थे उस प्रकार की सुविधा हिंदी के छंदों में नहीं है। रूबाई की इस क्षेत्र में बड़ी संभावनाएँ हैं।

उर्दू छंदों और काव्य-रूपों से भी अधिक प्रभाव अंग्रेजी के छंदों का पड़ा। कहीं तो यह प्रभाव सीधा अंग्रेजी से आया, कहीं बंगला के माध्यम से। प्रारम्भ में अंग्रेजी के प्रगीत-काव्य (Lyric) और चतुर्दशपदियों (Sonnets) का ही अधिकप्रभाव पड़ा। परन्तु चतुर्दशपदियाँ विशेष लोकप्रिय नहीं हो सकीं। उनमें कला का स्थान महत्त्वपूर्ण था। भाषा और भावना की प्रौढ़ता भी आवश्यक थी। चतुर्दशपदियाँ जिस छन्द में हों, उनके बंध किस प्रकार रखे जायँ, शेक्सपियर के ढंग पर या मिल्टन के या वर्डस्वर्थ के, या भिन्न प्रकार, वह तुकांत हो या अतुकांत। इस विषय में वाद-विवाद हुए। कुछ कवियों ने वीर छंद का

प्रयोग किया। कुछ ने रोला का, कुछ ने और छंद अपनाये। अधिक चतुर्दशदियाँ तुकांत रहीं। लोचनप्रसाद पांडेय, प्रसाद, पन्त, मैथिली-शरण गुप्त और डॉ० रामविलास शर्मा ने इस क्षेत्र में विशेष योग दिया। परन्तु अपनी नैसर्गिक कठिनाइयों के कारण यह काव्य-रूप विशेष लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सका। आज भी यह लोकप्रिय नहीं है।

परन्तु प्रगीति विशेष रूप में लोकप्रिय हुए। नये-नये छन्दों, नये-नये बन्धों में प्रगीतों का प्रवर्तन हुआ। पद शैली के गीतों की एक परम्परा हमारे सन्त-काव्य और भक्ति-काव्य में बराबर चल रही थी। खड़ी बोली में भी इस परम्परा को आगे बढ़ाया गया। प्रसाद, गुप्त और निराला के कुछ अत्यन्त सुन्दर गीत इसी शैली में हैं। गज़ल शैली में भी कुछ पदों का निर्माण हुआ। वस्तुतः अनेक उर्दू-छन्द लोकगीतों में प्रयोग में आ चुके थे और हिन्दी के कवियों ने उन्हें ही अपना लिया। उन्नीसवीं शताब्दी के कवियों का ध्यान लावनी, चौबोला, कजली, होली, धमार, बसंत आदि लोकगीत-छन्दों की ओर आकर्षित हुआ था और श्रीधर पाठक के काव्य में हम इन छन्दों का बड़ा सुन्दर साहित्यिक प्रयोग पाते हैं। श्रीधर पाठक के 'भारत-गीत' में लोक-गीतों के कुछ प्रयोग तो आज भी द्रष्टव्य हैं। उदाहरण-स्वरूप, मजदूरनियों का यह गीत।

भारत पियरवा पै बलि-बलि जाऊँ
बलि-बलि जाऊँ गरवा लगाऊँ
फुलवा मँगाऊँ गजरा मँगाऊँ
नीकी नजरिया पै, जी पै जिगरवा पै
सिजिया बिछाऊँ सजाऊँ सगरवा
मैं बलि-बलि जाऊँ

लोक-गीत-पद्धतियों में ही आधुनिक प्रगीति-कला विशेष विकसित हुई है। लोक-गीतों में गीत स्थायी और अन्तरे में विभक्त रहता है। स्थायी के अनन्तर अन्तरे की दो अथवा चार पंक्तियाँ रहती हैं, जो प्रायः भिन्न तुकान्त होती हैं। इसके बाद पाँचवीं पंक्ति में स्थायी अथवा उसके अंतिम

अंश का आवर्तन रहता है। इस पद्धति को अनेक प्रकार से विकसित किया गया। देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम 'शंकर', सनेही, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, मुकुटधर पांडे आदि ने प्रगीति के प्रारम्भिक विकास में विशेष योग दिया। प्रसाद ने नाटकों में अनेक सुन्दर गीतों की आयोजना की और धीरे-धीरे प्रगीति हमारे काव्य का प्रमुख अंग बन गया। १९३० के बाद के काव्य में प्रगीति-कला का विकसित रूप मिलता है और निराला, पंत, महादेवी, बच्चन और रामकुमार के अनेकानेक सुन्दर गीत हमारे साहित्य की सम्पत्ति बनते हैं।

बंगला और अंग्रेजी से भी अनेक गीति-रूप ग्रहण किये गए। बंगला के त्रिपदी और पमार छन्द भारतेन्दु और प्रसाद द्वारा बहुत आरम्भ में ही प्रयुक्त हुए। माइकेल मधुसूदनदत्त के 'मेघनाद वध' के अनुवाद में गुप्त जी ने इसी छंद का प्रयोग किया है। अंग्रेजी काव्य-रूपों में प्रगीति (Lyric) और चतुर्दशपदी (Sonnets) के अतिरिक्त सम्बोध (Ode) वीर गीति (Ballad), शोकगीति (Elegy), पत्रगीति, (Epistles) आत्मगीति, (Monologue) और मुक्त छंद (Verse libra) का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ। पंत के त्रिपदी, पंचपदी, षष्टपदी और सप्तपदी छन्द अंग्रेजी छन्दों से ही प्रभावित हैं। वास्तव में आधुनिक कवि अपने छन्द-प्रयोग को रसानुकूल बनाना चाहते हैं। वह अन्य देशों के कवियों के छन्द-विधान से प्रेरणा ग्रहण करता है और नवीनता के लिए अनेक भाषा-क्षेत्रों से अपनी सामग्री ग्रहण करता है। पिछले २०-२५ वर्षों में इस क्षेत्र में जितने प्रयोग हुए हैं वे कदाचित् और किसी भी क्षेत्र में नहीं। अभी इन सब प्रयत्नों को एक सूत्र में ग्रथित नहीं किया गया है, परन्तु आधुनिक काव्य में अनुभूति की प्रधानता होने के कारण छंदों के क्षेत्र में अत्यन्त स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग हुए हैं।

काव्य-विषय—आधुनिक काव्य के अनेक विषय हैं। डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त ने 'हिन्दी-पुस्तक-साहित्य' के अन्तर्गत आधुनिक काव्य के विषयों को इस प्रकार रखा है : राम-चरित्र, कृष्ण-चरित्र, विश्व-चरित्र,

पौराणिक उपाख्यान, संत-चरित्र, पौराणिक महाकाव्य, भक्ति-स्तुति, ऐतिहासिक खंडकाव्य, ऐतिहासिक महाकाव्य, मानव-चरित्र, प्रेमोपाख्यान, भावानुभाव काव्य, सामयिक तथा राष्ट्रीय काव्य, प्रगतिशील काव्य, सामाजिक काव्य, विनोद, व्यंग, प्रकृति-चित्रण, स्फुट काव्य। वस्तुतः इस विभाजन में कविता के रूप और शैली का भी समावेश हो गया है जो इस प्रकार वर्गीकृत हो सकते हैं।

(१) प्रबंध काव्य

(क) काव्य (i) महाकाव्य (ii) खंडकाव्य (iii) कथाकाव्य (चरित्र, आख्यान, उपाख्यान)

(ख) आख्यानक गीति

(२) मुक्तक काव्य

(क) सम्बोधनात्मक (Ode), कथात्मक (Ballad), इतिवृत्तात्मक अथवा भावशृङ्खलात्मक, भावस्फुरण प्रधान।

(३) गीतिकाव्य

ये काव्य के बाह्य रूप हैं और इनके आधार पर आधुनिक काव्य-धारा का कोई भी परिचय मिलना असम्भव है। काव्य का अन्तरंग उसकी अनुभूति है यह अनुभूति जिन विषयों को लेकर स्फुरित होती है वही काव्य के अंतः स्रोत हैं। इस दृष्टि से हम आधुनिक युग की काव्य-सामग्री को इस तरह रख सकते हैं।

(१) मानव

(क) ईश्वरावतार—राम, कृष्ण, शिव

(ख) देवी और देवता

(ग) महावीर

(घ) सामान्य मानवता

(१) प्रेम

(३) प्रकृति

(४) राष्ट्र अथवा जन्मभूमि

(५) किसी अतीन्द्रिय परोक्ष सत्तों के प्रति (प्रेम भाव रहस्यवाद)
(६) सामाजिक काव्य
(७) चिन्ता-प्रधान काव्य
(८) उदात्त जीवन-दृष्टि-मूलक काव्य
(९) विनोद-व्यंग
(१०) अन्य विषय

सच तो यह है कि आधुनिक काव्य की चित्रपटी बड़ी व्यापक है। यह सम्पूर्ण जीवन को समेटकर चला है और उसमें पिछले ८०–८२ वर्षों की भावनाओं और विचारों की ऐसी बहुमूल्य निधि है जिसकी कभी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मध्यवित्त के सारे निरोधों, सारी आशा-आशाकांक्षाओं और सारी असफलताओं की सुन्दर व्यंजना इस काव्य में है। पूववर्ती काव्य-साहित्य से यह आधुनिक काव्य-साहित्य अनेक प्रकार से भिन्न है।

आधुनिक काव्य की जो विशेषता प्राचीन काव्य के सम्मुख स्पष्ट रूप से उभरती है, वह है उसका मनुष्य-भाव पर पलना। प्राचीन काव्य ईश्वरावतारों (राम, कृष्ण) को मनुष्य से बहुत ऊँचा आसन देता है। उन तक मनुष्य की प्रार्थना ही पहुँच सकती है। सख्य और मधुर भाव की भक्ति की भी कल्पना है, परन्तु वह उसी समय साथ है जब इष्टदेव लीला–भाव से अनुकम्पा करके 'पुष्टि' के द्वारा अपने देहासन से क्षण-भर के लिए उतर आए। मध्ययुगीन काव्य के देवी-देवता पौराणिक हैं। वह मनुष्य के जीवन को कहीं भी नहीं छूते। उनके पारस्परिक व्यवहार भी मानवीय आचार-शास्त्र और लोक-व्यवहार से मर्यादित नहीं हैं। आधुनिक मनुष्य ईश्वरावतारों और देवी-देवताओं को भी मानव-रूप में देखना चाहता है। फलतः आधुनिक काव्य में राम-कृष्ण का साधारणीकरण हो गया। 'प्रिय प्रवास', 'पंचवटी', 'साकेत' आदि प्रमाण हैं। साथ ही पौराणिक देवी-देवताओं को कवि नई पृष्ठभूमि में नई रूपरेखाओं के साथ उपस्थित करता है। 'नहुष' में मैथिलीशरण गुप्त ने यह स्पष्ट ही व्यंजित किया है

कि मानव ही इस पृथ्वी का देवता है, उसे इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाना है, इस पृथ्वी को छोड़कर और कोई भी स्वर्ग उसे नहीं चाहिए। मानव-भाव के बल के कारण नवीन कवियों की दृष्टि महामानवों और 'महावीरों पर विशेष रूप से केन्द्रित हुई। राष्ट्रीय भावों और सांस्कृतिक दृष्टिकोण ने इस भाव को घोषित किया। फलतः हम आधुनिक काव्य में ऐतिहासिक और पौराणिक सभी महावीरों का यशोगान पाते हैं। परन्तु जहाँ यह उदात्त भाव है, वहाँ दीनों, पीड़ितों और उपेक्षितों के प्रति सम्वेदना और सहयोग का भाव भी है। इसे 'सामान्य मानवता' का काव्य कहेना ठीक होगा। कहीं प्रतीक रूप से जैसे 'दलित कुसुम के प्रति', कहीं स्पष्ट रूप से जैसे, 'भिक्षुक के प्रति' (निराला) यह भाव बीसवीं शताब्दी की कविता में प्रधान रूप से विद्यमान है।

एक दूसरी विशेषता प्रेम काव्य है। नर-नारी का प्रेम हमारे काव्य में आदि युग से ही मिलता है, परन्तु उस पर सामंती युग के विलासी जीवन की छाप है। वयः संधि, पूर्वराग, दूती, अभिसार, मिलन, विप्रलम्भ आदि क्रम से प्राचीन प्रेम-काव्य विकसित हुआ है। पुरुष-प्रधान सामंती समाज में नारी का अभिसार कल्पना का ही विषय हो सकता है और इस कल्पना को काव्य में इतना खींचा गया है कि उसका रूप ही विकृत हो गया। राधाकृष्ण-काव्य और रीति-काव्य में भी प्रेम के सम्बन्ध में यही दृष्टिकोण रहा है। नारी-सौन्दर्य के लिए उत्तरकालीन संस्कृत काव्य में जो उपमान निश्चित थे, उन्हें ही लेकर हमारे कवियों ने अनेकानेक सौन्दर्य-सृष्टियाँ उत्पन्न कीं परन्तु 'रीति' और 'शास्त्र' के बाहर आकर नर-नारी के प्राकृतिक प्रेम-विकास को वे न देख सके। परवर्ती रीति-काव्य में बोधा, ठाकुर, आलम, शेख और भारतेन्दु में हम अनुभूति-मूलक प्रेम-काव्य का स्फुरण पाते हैं। द्विवेदी युग की अति नैतिकता के बाद प्रसाद ने बोधा ठाकुर भारतेन्दु की इस प्रेम-परम्परा को अपनाया और नये काव्य में नर-नारी के अनुभूति-प्रधान प्रकृत प्रेम की सैकड़ों रूपरेखाएँ उभरीं। प्रसाद, पन्त, निराला, भगवतीचरण वर्मा, अंचल और नरेन्द्र के काव्य

में हमें मानवी प्रेम की सभी झाँकियाँ मिल जाती हैं। पन्त के अतीन्द्रिय प्रेम (Platonic Love) से लेकर अंचल की देह-लिप्सा और नरेन्द्र की भाव व्याकुल आसक्ति तक हम अपने प्रेम-काव्य में सप्तक के सभी स्वर बजते पाते हैं। नारी का सौन्दर्य प्रेम और वियोग नये प्रतीकों में, नई मूर्त्तिमत्ता के सहारे, नई पृष्ठभूमि में हमारे सामने आया है। एक बड़ा अंतर यह भी है कि आज पुरुष नारी के अभिसार और विरह-वेदन को प्रकाशित करने का स्वाँग नहीं करता। नर नारी अपने-अपने भाव-प्रकाशन में पूर्णतः स्वच्छन्द हैं।

प्रकृति भी हमारे प्राचीन काव्य में लगभग उपस्थित थी। लोकगीतों में प्राकृतिक सौन्दर्य की जो माधुरी है, प्रकृति और मानव का जो सहज सम्बन्ध है, वह नागरिक काव्य में कहाँ है। प्रकृति के बीच में ही भारतीय जीवन का विकास हुआ है, हमारे काव्य और पुराण साक्षी हैं, परन्तु प्रकृति के प्रति नया दृष्टिकोण हमने पश्चिम से ही सीखा। पश्चिम के काव्य साहित्य और आधुनिक नागरिक जीवन की कृत्रिमता ने हमें प्रकृति की ओर मोड़ा और कालान्तर में वह हमारे लिए आश्चर्य, विस्मय और रहस्य का विषय बन गई। वैसे हमारे प्राकृतिक काव्य का आरम्भ १६ वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में श्रीधर पाठक के काव्य में ही हो जाता है और बीसवीं शताब्दी के पहले २० वर्षों में भी ऋतुओं, वन-पर्वतों, नदी-नालों पर काफी लिखा जाता रहा, परन्तु प्रकृति-सम्बन्धी भावना का प्रथम उल्लेख हमें स्वच्छन्दतावादी काव्य (१६०६-३६) में ही मिलता है। बाद के कवियों ने प्रकृति के वस्तुवादी चित्र हमें दिये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृति-सम्बन्धी काव्य आज के काव्य का प्रमुख अंग है।

बीसवीं शताब्दी प्रमुखतः राष्ट्रीय आन्दोलनों की शताब्दी है, परन्तु राष्ट्रीय भावनाओं की प्रथम झलक हमें भारतेन्दु (१८५०-८५) में ही मिल जाती है। भारतेन्दु का 'विजयिनी विजय वैजयंती' (१८८२) और श्रीधर पाठक का 'भारत-गीत' (१६१८) इस भाव-धारा के दो प्रारम्भिक केन्द्र हैं। १६१६ ई० में गाँधीजी के राष्ट्रीय जीवन में प्रवेश के साथ

राष्ट्रीय भाव-धारा को और भी बल मिला और 'सनेही' (त्रिशूल) ईश्वरी-प्रसाद, माधव शुक्ल, माखनलाल चतुर्वेदी, 'नवीन', सोहनलाल और मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में जन्मभूमि के गौरव-गान और मातृ-वंदना के स्वर सबसे ऊँचे सुनाई पड़ते हैं। प्रसाद, पन्त और निराला के काव्य में भी यह भावना ज्ञाताज्ञात रूप में विद्यमान है। 'गीतिका' के गीतों में से अनेक इसी कोटि से अन्तर्गत आते हैं। पुरातन युग में कवियों ने अपने इष्ट देवों के प्रति जिस भक्ति-भावना और मार्मिकता से वेदना के स्वर उठाये, वही इस युग के काव्य में सुनाई पड़ते हैं। इस भावना को हम परोक्ष रूप में भी देखते हैं जैसे निराला की 'दिल्ली' और 'जागो फिर एक बार' शीर्षक कविताओं में। वेदना और पराजय की भावना भी राष्ट्रीय जीवन की हारों की प्रतिक्रिया-मात्र है। एक तरह से पिछले ३०-३२ वर्षों के काव्य का उदात्त और विषण्ण स्वर राष्ट्रीय जीवन की आशा-निराशा ही प्रतिध्वनित करता है।

भारत की सामान्य हिन्दू जनता आज भी भक्ति-भावना-प्रधान है। तुलसी, सूर, मीरा आदि कबीर के गीत आज भी उसमें झंकार उठाने में समर्थ हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भक्ति-काव्य की परम्परा में बराबर कुछ जुड़ता रहा परन्तु बाद में भक्ति के भावुक स्वर का स्थान बौद्धिक ध्वनि ने ले लिया। ब्रह्म समाज और आर्य समाज ने भक्तिवाद का विरोध किया था, पढ़े-लिखे लोगों में नास्तिकता की बाढ़ आ गई थी, फलस्वरूप युग की आध्यात्मिक जिज्ञासा ने एक छद्मावरण ग्रहण किया रवीन्द्रनाथ टाकुर की 'गीताजलि' (१९११) और इसी प्रकार की अन्य रचनाओं ने रहस्य-चिन्तन, मिलन और वियोग की एक नई काव्य-धारा का प्रवर्तन किया जो भावों की अस्पष्टता और प्रतीकों की एक नवीनता के कारण 'छायावाद' कहलाई। रवीन्द्र बाबू की रहस्यात्मक गीतियों में औपनिषदिक निर्गुणवाद और भक्तिवाद की वेदना और आत्मसमर्पण-भावना का सुन्दर समन्वय था। यह समन्वय हिन्दी में महादेवी वर्मा और रामकुमार वर्मा के काव्य में प्रतिफलित हुआ, यद्यपि निराला का

वेदातवाद, प्रसाद का आनन्दवाद और पन्त का प्रकृतिवाद इस दिशा में स्वतन्त्र और मौलिक विकास की भी सूचना देते हैं। प्रकृति में परसत्ता की व्याप्ति इस युग की नवीन कल्पना थी। पश्चिमी साहित्य से इस विचार-धारा ने हिन्दी-काव्य में प्रवेश किया परन्तु स्वयं हिंदी-काव्य में सूफी काव्यों के अन्तर्गत ऐसी भावना दिखलाई पड़ती है। प्राचीन काव्य में निर्गुणवाद और भक्तिवाद का समन्वय भी कबीर-दादू प्रभृति कवियों में मिलता है, परंतु आधुनिक युग के रहस्यवादी काव्य और मध्ययुगीन रहस्यवादी काव्य में बहुत-कुछ समानता होते हुए भी प्रतीकों का अंतर है। आधुनिक रहस्य-काव्य-साधना की भूमि पर आधारित नहीं है, उसमें बौद्धिक विलास, कल्पना और साहित्य के स्वर ही अधिक बजते सुनाई देते हैं।

एक और प्रकार का काव्य, जो महत्त्वपूर्ण है, सामाजिक काव्य है। आधुनिक युग के मानवतावादी दृष्टिकोण ने हमारे कवियों को सामाजिक जीवन के सुख-दुःख की ओर आकर्षित किया। भारतेन्दु युग के काव्य में ही सामाजिक चेतना पर्याप्त मात्रा में मिल जाती है। उन्नीसवीं शताब्दी की अनेक सप्राण संस्थाओं का ध्येय समाज-सुधार था। १९२० तक हमें काव्य में समाज-सुधार और क्रान्ति का सुर स्पष्ट सुनाई पड़ता है, बाद में स्वच्छन्दतावादी काव्य में यह सुर दब जाता है। एक तरह से इस युग के राष्ट्रीय काव्य में राजनैतिक सुधार के साथ समाज-सुधार की भावना भी गुम्फित है। गाँधीजी के व्यक्तित्व ने राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक प्रगतिशीलता को एक सूत्र में बाँध दिया था। १९३६ ई० के बाद हिंदी-काव्य में समाजवाद और साम्यवाद की चर्चा होने लगती है और सामाजिक क्रांति के बिगुल बजने लगते हैं। मजदूर, किसान, ग्रामीण जीवन और सामाजिक अनाचार काव्य के प्रमुख विषय बन जाते हैं। इस नये काव्य को 'प्रगतिवाद' का नाम दे दिया जाता है। इस नये काव्य में व्यक्ति-चेतना की अपेक्षा समाज-चेतना कहीं अधिक मुखर है। कवि सामाजिक विषमताओं और राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय असंतुलनों का समाधान पाने के लिए विकल है।

नये काव्य की एक विशेषता यह है कि वह अनुभूति की अपेक्षा बुद्धिवाद पर अधिक बल देता है। वह चिन्ता-प्रधान है। उसमें विशुद्ध साहित्य-मूल्य कम हैं। मनुष्य की अर्थवादी—राष्ट्रवादी—समाजवादी—जीवनवादी सारी चिन्ता आज काव्य के माध्यम से प्रकाशित हो रही हैं। वह केवल कोमल वृत्तियों और प्रेम-भक्ति-रहस्य की भावनाओं तक ही केन्द्रित नहीं है। आज कवि सच्चे अर्थों में द्रष्टा बन गया है—'जीवन दर्शी'—उसे उपनिषद् के शब्दों में 'मनीषी', 'परिभू' और 'स्वयंभू' साथ ही कहा जा सकता है। यह ठीक ही चिन्ताधिक्य से काव्य की प्रकृत शक्ति का ह्रास हुआ है, परन्तु आज का मनुष्य एक-मात्र सौन्दर्यजीवी नहीं है। उसके लिए काव्य की नई परिभाषा गढ़नी होगी। पन्त के परवर्ती काव्य के प्रति कुछ समालोचकों में आक्रोश है। वह उसके काव्य-तत्त्वों का ह्रास पाते हैं। परन्तु कदाचित् वह यह नहीं जानते कि आज काव्य का क्षेत्र अपरिसीम है और उसमें बौद्धिक तत्त्वों का बहिष्कार नहीं है।

अन्त में हमें यही कहना है कि आधुनिक काव्य का स्वर उदात्त है, उसकी जीवन-दृष्टि व्यापक है और वह किन्हीं सीमाओं और मान्यताओं में बँधने के लिए तैयार नहीं है। उसने समस्त विश्व से अपना प्राण-सम्बन्ध स्थापित किया है। कालिदास, रवीन्द्रनाथ, तुलसी, कबीर, मीरा का स्पंदन उसमें सुनाई पड़ता है तो यूरोपीय स्वच्छन्दतावादियों (रोमांटिकों) और अत्याधुनिक कवियों की वाणी से भी उसने पथ-प्रदर्शन पाया है। कदाचित् पूर्व की अपेक्षा पाश्चम का ऋण ही उसमें अधिक है। वस्तुतः जिस लौकिक संस्कृति और भौतिक सुविधामूलक जीवन को उसने विषय बनाया है, वह पश्चिम की ही देन है। जिस प्रकार मध्ययुगीन सामन्ती धार्मिक संस्कृति अविभाजित और अखंडित थी, उसी प्रकार आधुनिक युग की मध्यवित्ती संस्कृति भी अविच्छिन्न है। जहाँ जहाँ मध्यवित्त के जीवन का विकास हुआ है, वहाँ-वहाँ एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया साहित्य और कला में विजड़ित दिखलाई पड़ती है। एक अत्यन्त उदात्त, सार्वभौमिक मानवतावाद और सतत जागरूक एवं कर्म-

मयी जिज्ञासा आज के मध्यवित्त की विशेषता है। काव्य और साहित्य में भी इसी का प्रतिफलन स्पष्ट है।

परन्तु गम्भीर चिन्ता के साथ हास-परिहास, व्यंग-विनोद, क्रीड़ा-कौतूहल भी काव्य में स्थान पा सका है। भारतेन्दु की मुकरियों से लेकर आज के सामाजिक और राजनैतिक व्यंग तक हम कवि की विनोदी चेष्टा अनेक रूपों में प्रस्फुटित पाते हैं। निराला का 'कुकुरमुत्ता' और उनकी कुछ अन्य रचनाएँ इस क्षेत्र की प्रमुख देन हैं।

और भी अनेक विषय आधुनिक काव्य-चिन्ता में डूबे-उभरे हैं। जैसे जीवन की चित्रपटी विविध और विस्तृत है वैसे ही आज काव्य की चित्रपटी भी विविध और विस्तृत बन गई है। पश्चिम की काव्य-चेतना के प्रति हमारे कवि और समीक्षक पूर्ण रूप से जागरूक हैं अभी हमने अपनी काव्य-संस्कृति को पूर्णतया नहीं समझा है, सुदूर पूर्व चीन और जापान के काव्य स्पन्दन से भी हम परिचित नहीं हैं, परन्तु शीघ्र ही हमारा काव्य पूर्व-पश्चिम का संस्कृति-संगम बन जायगा, ऐसी आशा है। पश्चिम के 'वादों' की दौड़, जहाँ समाप्त होती है, वहाँ से पूर्व का शान्ति सुख, सौहार्द्र और कल्पना का साम्राज्य शुरू होता है। उत्तरशती का काव्य इस नये साम्राज्य से हमें परिचित करायगा।

आधुनिक कविता का विकास क्रम—आधुनिक कविता के विकास-क्रम को हम स्पष्ट रूप से पाँच भागों में बाँट सकते हैं :

१. उन्नीसवीं शताब्दी का वह ब्रज-भाषा-काव्य जो परम्परा से अलग होकर सामयिक राजनैतिक और सामाजिक भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। भारतेन्दु की सामयिक कविताएँ इस नई प्रवृत्ति का आरम्भ करती हैं और खड़ी बोली के पर्याप्त विकास तक एक विशेष वर्ग में यह काव्य-प्रवृत्ति चलती रहती है। इसमें काव्य की भाषा के लिए परम्परागत ब्रज-भाषा का प्रयोग है, परन्तु कवित्त-सवैयों के अतिरिक्त अनेक नये छन्दों का ही प्रयोग है। छन्दों, विषयों और भाव-विधानों की नवीनता इस काव्य को समसामयिक ब्रज-भाषा-(रीति-परम्परा) काव्य से एकदम

अलग कर देती है। भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी (प्रेमघन) इस काव्य-धारा को आगे बढ़ाते हैं। उन्नीसवीं शती के अन्त में खड़ी बोली को विशेष मान्यता प्राप्त हो गई और उसमें सामयिक विषयों पर लिखा जाने लगा। ब्रज भाषा की नई काव्य-परम्परा ही हम प्रसाद की 'चित्राधार' वाली ब्रज-भाषा कविताओं में विकसित पाते हैं। इन रचनाओं के विषय नवीन थे। और लक्षणा की प्रधानता ने उन्हें विशेष रूप से आकर्षक बना दिया था।

२. बीसवीं शताब्दी में खड़ी बोली के कवित्त-सवैयों की भी एक परंपरा विकसित हुई। इसे हम रीतिकालीन काव्य का नया रूप ही कह सकते हैं। नाथूराम 'शंकर', सनेही और ठाकुर गोपालशरणसिंह इस काव्य-धारा के प्रमुख कवि हैं। वस्तुतः इसे खड़ी-बोली-क्षेत्र में ब्रजभाषा-काव्य की उद्धरणी ही कहना चाहिए। इसके प्रवर्तक और पोषक ब्रजभाषा के कवि थे। वे खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में मानने के लिए तैयार नहीं थे। अतः उन्होंने नई भाषा के स्वतंत्र प्रवाह को रीति-काल की कवित्त-सवैये की रूढ़ि में बाँधना चाहा। इस काव्य-धारा का महत्त्व आज केवल ऐतिहासिक ही है। शेष धाराएँ खड़ी बोली के नैसर्गिक विकास को सूचित करती हैं। खड़ी बोली की प्राचीनतम रचनाएँ १८८४ ई० के लगभग उपस्थित हुईं। १६८५ ई० हमें इस भाषा का प्रयोग काव्य समझना चाहिए। काव्य-प्रयोगों के सुनिश्चित होने के लिए चालीस वर्ष का समय अधिक नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि यह सारा समय प्रयोगात्मक है। इस काल की प्रमुख रचनाएँ हैं एकांतवासी योगी (श्रीधर पाठक, १८६६), कुमारसंभवसार (महावीरप्रसाद द्विवेदी, १६०२), काव्य-मंजूषा (म० प्र० द्विवेदी, १६०३), प्रेमराज्य (जयशंकर प्रसाद, १६१०), रंग में भंग और जयद्रथ बध (मैथिली-शरण गुप्त, १६१०), भारतभारती और पद्य प्रबंध (मैथिलीशरण गुप्त, १६१२), पद्य-पुष्पाञ्जलि (लोचनप्रसाद पांडेय, १६१५), पूजाफूल

(मुकुटधर पांडेय, १९१६), किसान (मैथिलीशरण गुप्त, १९१८), चित्राधार (जयशंकरप्रसाद, १९१८), मिलन (रामनरेश त्रिपाठी, १९१८), भारत-गीत (श्रीधर पाठक १९१८), वैतालिक (मैथिलीशरण गुप्त, १९१९), रामचरित-चन्द्रिका (रामचरित उपाध्याय, १९१९), पथिक (रामनरेश त्रिपाठी, १९२०),जागृत भारत (माधव शुक्ल, १९२२), अनाथ (सियाराम शरण गुप्त, १९२२), सुमन (महावीरप्रसाद द्विवेदी, १९२३), अनामिका (निराला, १९२३), सरस सुमन (गुरुभक्त-सिंह भक्त), पंचवटी, स्वदेश-संगीत और अनघ (मैथिलीशरण गुप्त, १९२५)। भाषा-शैली की जो प्रौढ़ता श्रेष्ठ काव्य के लिए अपेक्षित है, वह हमें अधिकांश रचनाओं में नहीं मिलती। एक तरह से भाषा, शैली, छन्द सभी क्षेत्रों में अनुकरण और प्रयोग चल रहे हैं। इन दोनों में विशेष स्थायित्व अगले युग में आता है, लोक-जीवन में चलने वाले कुछ थोड़े से छन्दों को खड़ी बोली के काव्य ने दाय के रूप में प्राप्त किया और उसी के बल पर उसे इस विस्तृत विश्व में निकल चलना पड़ा। संस्कृत और मराठी के वर्ण-वृत्तों, बंगला और उर्दू के छन्दों और काव्य-रूपों और अंग्रेजी काव्य-रूपों के विस्तृत प्रयोग हुए, परन्तु अन्त में हिन्दी-काव्य ने अपने प्रिय छन्द विकसित कर लिए और मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में एक सामान्य काव्य-भाषा-शैली भी प्राप्त कर ली। १९१५ ई० के बाद स्वयं मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में इस काव्य-धारा का विशेष विकास मिलता है और अन्य ऐसे कवि भी सामने आते हैं जिन्होंने इसी परम्परा को आगे बढ़ाया। यह हिन्दी-कविता का मौलिक विकास था। उसमें पश्चिमी कलम नहीं लगी थी। इस परम्परा में नीति-मूलक दृष्टिकोण की प्रधानता थी और काव्य प्रमुखतः इतिवृत्तात्मक, वर्णनात्मक और गद्यात्मक था। कला और कल्पना का अबाध प्रवाह इसमें नहीं है। कवि सुधारवाद, समाज-प्रेम, जीवन-परिष्कार, राष्ट्रीयता और मानववाद का उन्नायक है। उसकी कला उपयोगितावादिनी है। परवर्ती युग में इस काव्य-धारा ने 'स्वप्न' (रामनरेश त्रिपाठी, १९२९)

साकेत (मैथिलीशरण गुप्त, १९३२), यशोधरा, (मैथिलीशरण गुप्त, १९३३) आदि अनेक सुन्दर काव्य दिये।

४—आधुनिक युग की चौथी काव्य-धारा, जहाँ इस पिछली काव्य-धारा का विकास है, वहाँ अनेक प्रकार से उससे भिन्न भी है। इस काव्य-धारा के उन्नायक कवियों का परिचय अंग्रेजी और बंगला-साहित्य से गहरा था। उन्होंने इसी परिचय के बल पर हिन्दी-काव्य में क्रान्ति की सूचना दी। पिछले खेवे के कवि विदेशी काव्य से इतने प्रभावित नहीं थे—गोल्डस्मिथ, पोप और ड्राइडन का नीतिमूलक काव्य उनके सामने थे। श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ के दो प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थों—The Deserted Village और The Traveller—का हिन्दी रूपान्तर उपस्थित किया। परवर्ती काव्य को भी इन रचनाओं ने प्रभावित किया। रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन', 'स्वप्न' और जयशंकर प्रसाद का 'प्रेम-पथिक' नाम का छोटा-सा कथा-काव्य इन्हीं रचनाओं से प्रभावित हैं। परन्तु १८वीं शताब्दी की इन कविताओं में मध्यवित्त के प्रबुद्ध मानस के लिए विशेष कुछ भी नहीं था।

नये कवियों ने बंगला-काव्य और अंग्रेज़ी काव्य के प्रभाव को पूर्णतः स्वीकार किया। उन्होंने काव्य में कला को विशेष महत्त्व दिया और अभिधा के स्थान पर लक्षणा की प्रतिष्ठा की। उनके कलात्मक प्रयोगों ने काव्य का बाह्य रूप बदल ही दिया। बंगला और अंग्रेज़ी के अनेकानेक छन्द और काव्य-रूप हिन्दी में आये। इस क्षेत्र में निराला और पन्त का महत्त्व सबसे अधिक है। द्विवेदी युग (१९००-१९२०) के काव्य में प्रयोग की मात्रा ही अधिक थी। छन्दों और काव्यों को को काव्य के आभ्यन्तर से सम्बन्धित करने की कोई चेष्टा नहीं हुई थी। पन्त का अतुकान्त छन्द और निराला का शुद्ध छन्द हिन्दी-कविता की मुक्ति के पहले चरण थे। पन्त के नवीन प्रयोग कुछ अधिक लोकप्रिय हुए। असम चरणों वाले छन्दों का प्रवर्तन पन्त ने ही किया, फिर तो ये ३, ५, ७ चरणों के छन्द हिन्दी पर छा गए। पिछली काव्य-धारा

के कवियों ने लोक-छन्दों को अपनाया था और उनके छन्द हिन्दी की अपनी अपभ्रंश छन्द-शैली का विकास थे। उन्होंने नये बंगला-उर्दू छन्दों और कुछ प्रमुख अंग्रेज़ी काव्य रूपों को भी ग्रहण किया परन्तु वह इतनी दूर नहीं बढ़ सके थे। उन्होंने छन्द-विधान को काव्य-विषय से सम्बन्धित नहीं किया था। नये कवि का कहना था कि विषय के अनुसार प्रतीक, छन्द और शैली में भी परिवर्तन होना चाहिए। फलस्वरूप जहाँ उन्होंने काव्य के आभ्यन्तर का विस्तार किया, वहाँ कविता के बाह्य रूप में भी अप्रत्याशित परिवर्तन किये।

परन्तु कविता के बाह्य रूपों में जो परिवर्तन हुए वे आभ्यन्तरिक परिवर्तनों से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं थे। कवि ने काव्य-विषयों का विस्तार किया, अनेकानेक नये विषय काव्य के अन्तर्गत आये। साथ ही उसमें भावुकता, अनुभूति, सूक्ष्म परिचय दृष्टि और कलावादी योजना का विकास हुआ। अंग्रेज़ी रोमांटिकों का भाव-विकास उनकी कल्पनातिरेकता (Fancies), उनकी साभरूपकात्मक विस्तृत मूर्तिमत्ता, उनकी नादात्मकता, मानवीकरण और विशेषण विपर्यय की प्रवृत्ति, उनकी संगीतात्मकता, उनकी प्रतीक शैली—ये सब नवीन हिन्दी-काव्य में ग्रहीत हुए और इन्होंने हमारी काव्य-धारा को पिछली धारा से इतना विच्छिन्न कर दिया कि सामान्य पाठकों के लिए नए काव्य से रस-ग्रहण करना ही असम्भव हो गया। १९२० से १९२६ तक हम इस काव्य-धारा को प्रारम्भिक प्रयोगवादी स्थिति में पाते हैं। १९२६ में 'आँसू' (जयशंकर प्रसाद) के प्रकाशन के साथ इस धारा को प्रामाणिकता प्राप्त हो गई। 'पल्लव', 'वीणा', 'गुञ्जन' 'झरना', परिमल' और 'नीहार' छायावाद काव्य के प्रथम उन्मेष की सूचना देते हैं। लगभग १० वर्ष तक इस काव्य-धारा का विशेष महत्त्व रहा। १९३६ ई० के बाद काव्य-क्षेत्र में नवीन शक्तियों ने पदार्पण किया जो यौन मनोविज्ञान, सामाजिकता अथवा नई उत्क्रान्ति को लेकर चल रही थी। फ्राइड, पुश्किन, गोर्की, इलियट और लारेन्स इस नई काव्य-चेतना के आदर्श बने। यह नया काव्य

अध्यात्म का विरोधी और भौतिक समृद्धि का उपासक था। इस प्रकार प्रचलित काव्य के विरोध के माध्यम से नवीन काव्य का संगठन हुआ। जो हो, यह स्पष्ट है कि आधुनिक कविता के विकास का चौथा चरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'छायावाद' कहकर उस चरण के काव्य की खिल्ली उड़ाने की एक पद्धति-सी चल पड़ी है। परन्तु ऐतिहासिक और विशुद्ध साहित्य दृष्टि से उस काव्य को आज महत् मानना ही पड़ता है। इस काव्य-धारा की प्रमुख रचनाएं हैं—आँसू (१९२६), निर्माल्य (१९२६), विषेची (१९२६), पल्लव (१९२६), वीणा (१९२७), भावुक (१९२८), आर्द्रा (१९२८), वेणुकी (१९२९), झंकार (१९२९), नीरव (१९२९) नीहार (१९३०) ग्रंथि (१९३०), परिमल (१९३०), स्वर्णविहान (१९३०), रेणुका (१९३१), मुकुल (१९३१), वंशी-ध्वनि (१९३२), प्याला (१९३२), मधुकण (१९३२), रश्मि (१९३२), गुञ्जन (१९३२), अनन्त के पथ पर (१९३२), रूप-राशि (१९३३), मनदूत (१९३३), पंछी (१९३४), उमग (१९३४), सीकर (१९३४), नीरजा, (१९३४), हिमानी (१९३४), पाथेय (१९३४), लहर (१९३५), कल्पना (१९३५), चित्ररेखा (१९३५), मधुशाला (१९३५), श्वेतनील (१९३६), साध्यगीत (१९३६), गीतिका (१९३६), मधुबाला, (१९३६), विजनवती (१९३७), कामायनी (१९३७), प्रेम-संगीत (भगवतीचरण वर्मा, १९३७), चन्द्रकिरण (१९३७), युगान्त (१९३७), मधु कलश (१९३७), मधूलिका (१९३८), अपराजिता (१९३९), तुलसीदास (१९३९), एकान्त संगीत (१९३९), पलाश वन (१९४०), रसवन्ती (१९४०), किरणवेला (१९४१) और दीपशिखा (१९४२)। इस स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा के प्रति विरोध के स्वर १९३६ से ही सुनाई पड़ते हैं परन्तु फिर भी १९४२ तक वह विशेष बलवती रही है। इन दस-पन्द्रह वर्षों में हमारी काव्य-निधि में विशेष वृद्धि हुई और बहुत-कुछ ऐसा हमारे सामने आया जो काव्य-कला की दृष्टि से अनुपम और अपूर्व था। इसी काव्य निधि के बल पर आज हमारा आधुनिक काव्य-साहित्य अंग्रेज़ी और बंगला-काव्य के

समकक्ष खड़ा होने में समर्थ है।

५—१९३६ ई० के बाद हमारे काव्य में नई शक्ति का प्रवेश हुआ। पूर्ववर्ती स्वच्छंदतावादी धारा के विरोध में इस काव्य ने एक साथ वस्तुवाद (यथार्थवाद), समाज-चेतना, वर्गनिष्ठा, क्रांति, भोगवाद, फ्राइडवाद, मार्क्सवाद और अंतश्चेतनावाद एवं प्रयोगवाद के अनेक उपकरणों का संकलन किया। एक तरह से इस काव्य को पूर्ववर्ती काव्य-धारा का विकास भी कह सकते हैं क्योंकि पूर्ववर्ती काव्य में सामाजिक चेतना और गम्भीर चिन्ता का प्रवेश हो गया था और कालान्तर में इन तत्त्वों को विशेष महत्त्व प्राप्त हो गया। पंत, निराला, दिनकर, अंचल और भगवतीचरण वर्मा-जैसे कुछ प्रसिद्ध छायावादी कवियों ने इस नई धारा में योग देकर इसे विशेष रूप से यशस्वित किया। परन्तु इस धारा का नेतृत्व कुछ अन्य कवियों ने किया जिनमें डा० रामविलास शर्मा, अज्ञेय, अश्क, बालेन्दु, शमशेरबहादुर सिंह, गिरिजाकुमार माथुर, रांगेय राघव, त्रिलोचन, सुमन आदि महत्त्वपूर्ण हैं। पंत की 'युगवाणी' (१९३९) और 'ग्राम्या' (१९४२) इस काव्य-धारा का प्रवर्तन करने वाली रचनाएँ हैं और 'तारसप्तक' (भाग१-२) में हम इस काव्य-धारा का पूर्ण परिचय पाते हैं। अभी यह धारा संश्लिष्ट है और इसकी सभी प्रवृत्तियाँ साहित्य के रूप में दृढ़ और निश्चित नहीं हो सकी हैं, परंतु इसकी सम्भावनाओं के निबन्ध में हमें निराश होने का कोई भी कारण नहीं है।

ऊपर के वर्गीकरण से यह स्पष्ट है कि हिंदी-कविता का आधुनिक काल अनेक दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक कविता का जन्म भारतेन्दु (१८५०,'८५) से होता है। भारतेन्दु का रचना-काल १८६७ के लगभग आरम्भ होता है। इस वर्ष उनकी 'विरह-शतक' शीर्षक रचना प्रकाशित हुई। इसे संग्रह में प्रेम-विरह पर १०० मार्मिक कवित्त संग्रहीत थे ये कवित्त-सवैये बोधा-ठाकुर-प्रभृति कवियों की परम्परा में आते हैं और इस प्रकार इनसे किसी नवीन परम्परा की स्थापना नहीं

होती । परन्तु १८३७ ई० में 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' के प्रकाशन के साथ भारतेन्दु ने सामयिक विषयों को भी अपनाया । 'विजयिनी-विजय वैजयंती' (१८८२), वेश्या-स्तोत्र (१८८३) आदि नाटकों में आई हुई कविताएँ और मुकरियाँ आधुनिक काव्य का प्रथम स्फुलिंग हैं । सामाजिक व्यंग, राष्ट्रीय जागृति, प्रेम और विनोद भारतेन्दु की कविता के चार प्रमुख अंग हैं । उनके बाद उनकी मण्डली के कवियों ने इन अंगों को विशेष रूप से विकसित किया । उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय मन जीवन के प्रति पूर्णतया उद्‌बुद्ध था । फलतः भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवियों के काव्य में उत्साह, प्रेरणा, प्राण और चुहल का आकर्षण है । उसका स्वर शास्त्र-भय से जड़ और कुण्ठित नहीं हो पाया है । गीति, कला, मर्यादा और ग्रामीणता के बन्धन भी वह नहीं मानता । द्विवेदी-युग (१९००-२०) का काव्य इससे भिन्न है । इस नये युग का नेतृत्व द्विवेदी जी के हाथ में था जिनका जन-जीवन से कोई संपर्क नहीं था, जो साहित्य को शास्त्र के माध्यम से देखते थे, संस्कृत और मराठी काव्य जिनके लिए आदर्श थे । उनकी काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं पर वर्ड्‌स्वर्थ का प्रभाव जान पड़ता है । उन्होंने गद्य-पद्य की भाषा के एकीकरण पर विशेष बल दिया । फलतः ब्रजभाषा-काव्य के स्थान पर खड़ी-बोली का काव्य बड़ी सज-धज से सामने आने लगा । परन्तु जीवन के प्रेरणा से रहित होने के कारण उसमें उतनी सप्राणता नहीं रही जितनी भारतेन्दु युग में हमें दिखलाई पड़ती थी । परन्तु इससे एक लाभ भी हुआ —वह यह कि काव्य का साहित्य-रूप बड़ी शीघ्रता से विकसित होने लगा और कुछ ही समय में 'प्रिय प्रवास' (१९१३) जैसा महाकाव्य उपस्थित कर सके ।

परन्तु १९२० ई० के बाद जिस काव्य-धारा को विशेष बल मिला, वह द्विवेदी जी की मान्यताओं से हटकर चली । उसके लिए गद्य-पद्य की भाषा की एकरूपता की बात अस्वाभाविक थी । वह शैली, कीट्स, टेनीसन और रवीन्द्रनाथ की अलंकृत भाषा-शैली और अनियंत्रित कल्पना की उपासिका थी । नये काव्य में प्रसाद का स्थान केन्द्रीय था और

वे उसमें लाक्षणिक भंगिमाओं को प्रधानता देते थे। इस प्रकार यह नूतन काव्य-धारा भी साहित्यनिष्ठ रही, जन-जीवन से उसका कोई संपर्क नहीं था, केवल उसके मानदण्ड और आधार बदल गए थे। द्विवेदी युग के काव्य में मनोरंजन और उपदेश-तत्त्व का प्राधान्य था, नये छायावादी (या स्वच्छन्दतावादी) काव्य में 'कला-कला के लिए' सिद्धान्त पर बल था। छायावादी कवि अपने को विशेष प्राणी समझता था। उसमें भावुकता ही प्रधान थी। इसमें संदेह नहीं कि उसकी सौंदर्य छवि विशेष विकसित थी और उसमें छन्द और मूर्त्तिमत्ता के क्षेत्र में अनेकानेक प्रयोग करने का साहस था परन्तु जीवन के प्रति विभ्रममय भीरु और अस्वस्थ एवं वेदनामय दृष्टिकोण होने के कारण वह राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत राष्ट्र का नेतृत्व नहीं कर सका। उसके सभी प्रधान कवि अपने व्यक्तित्व में इतने डूब गए थे कि उन्हें अपने चारों ओर उमड़ती हुई हड़कंपी हलचलों का भी पता नहीं था। फलस्वरूप इस काव्य में समाज-चेतना का अभाव रहा। १९३६ ई० के बाद काव्य को लोक-जीवन से जोड़ने की पुकार हुई। वस्तुतः भारतेन्दु युग के काव्य की उपेक्षित समाज-चेतना एक बार फिर काव्य-क्षेत्र पर छा जाना चाहती थी। यदि यह विकास के द्वारा प्राप्त होती तो आज हमारे काव्य का रूप ही बदल गया होता। पश्चिमी प्रभावों में वह सीधे आई। मार्क्सवाद और समाजवाद की 'लाल' छाप ने उसे विचित्र बना दिया।

काव्य के क्षेत्र में समसामयिक परिस्थिति विशेष उत्साह-जनक नहीं जान पड़ती। उसका कारण यह है कि नवीनतम काव्य-धारा (प्रगतिवाद) ने एक बार फिर अपने सांस्कृतिक दास्य को अस्वीकार कर दिया है। नये प्रगतिवादी कवियों के लिए पिछला सारा काव्य पूँजीवादी है। कालिदास, तुलसी, विद्यापति, रवीन्द्र—वे किसी को भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। साहित्य उनके लिए साम्यवादी मोर्चों की एक दिशा-मात्र है। वे उसमें साहित्य-कला को प्रधानता नहीं देते—दल राजनीति पर है। फलतः नये काव्य का साहित्य पक्ष अत्यन्त निर्बल है।

एक तरह से हम उसे 'प्रयोगवादी काव्य' कह सकते हैं। अनेक विभिन्न और असंतुलित पश्चिमीय प्रवृत्तियों को उसने अपना अंग बना लिया है। फ्राइड और मार्क्स पास-पास बैठे हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता और मानववाद के साथ लाल रूस की विजय का नारा भी फल रहा है और राष्ट्रीयता की उपासना भी जारी है। ये विभिन्न प्रवृत्तियाँ और पश्चिम का अंधानुकरण आधुनिकतम काव्य को असंतुलित और निर्बल बना देते हैं। हमारे प्रगतिवादी, प्रयोगवादी और अन्तश्चेतनावादी कवियों की दृष्टि पश्चिम पर है—इलियट, लारेन्स, पुश्किन। अपनी काव्य-परंपरा में उन्हें प्रेम नहीं। इसी से यह काव्य प्रचार तक सीमित रह गया है—जिसमें श्रेष्ट साहित्यिक गुणों का विकास नहीं हो पाया है। देश की स्वाधीनता ने पश्चिमी काव्य-कला पर आधारित इस नये काव्य को फिर एक बार संकट में डाल दिया है। सांस्कृतिक अभ्युत्थान के इस युग में अपनी घरेलू पूँजी को खोकर सात समुद्र पार दूसरों का आश्रय ढूँढना आज कुछ अटपटा जान पड़ रहा है।

इसमें संदेह नहीं कि आज काव्य के अर्थ में विस्तृति हुई है, नये-नये काव्य-रूप हमें मिले हैं, नये-नये विषयों को हमने ग्रहण किया है, परंतु अपनी काव्य-धाराओं को हम अपना श्रद्धा-विश्वास, अपने प्राणों का संवेदन, अपने हृदय का रस नहीं दे सके हैं। वह हमारी सांस्कृतिक और साहित्यिक परंपराओं को समेट नहीं सका है। थोड़े-थोड़े समय बाद ही काव्य के मूल्यों का परिवर्तन काव्य-विकास के लिए बहुत हानिकर है। भारतेन्दु के लिए जो 'काव्य' था वह द्विवेदी जी के लिए 'काव्य' नहीं था। जिसे द्विवेदी जी ने काव्य की मान्यता दी, वह छायावादी कवियों के लिए इतिवृत्तात्मक गद्य-मात्र था आज छायावादी कवियों की रचनाएँ भी अनादृत हैं, उन्हें बुर्जुआ संस्कारों की उपज कहा जा रहा है। कविता राजनैतिक 'वादों' से जुड़ गई है और काव्य के मूल्यांकन में साहित्य-गुणों की महत्ता कम हो गई है। यह स्थिति सचमुच ही चिंतनीय है। पश्चिमी काव्य के बदलते हुए मानदण्डों के

सहारे हम अपने काव्य का मूल्यांकन कब तक करते रहेंगे ? कब तक हम अपने काव्यादर्श के लिए पश्चिम के इलियट, लारेन्स और हाडज़मेन का मुँह ताकेंगे ? इसमें सन्देह नहीं कि आज पश्चिम के साहित्य से असंपृक्त रहना असंभव है, वहाँ की नवीनतम प्रवृत्तियों से हमें परिचय प्राप्त कर लेना है, परंतु पश्चिम के प्रत्येक प्रयोग को हम अपने काव्य में भी क्यों स्थान दें ? फिर हम काव्य को विशुद्ध साहित्य के मापदण्ड पर क्यों नहीं नापें, हम उसे क्यों 'राजनैतिक वादों' पर आधारित करें ?

ये कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। पूर्व-पश्चिम में संतुलन बनाये रखना आज असंभव हो रहा है, फलतः हमारा काव्य व्यक्तिहीन और अमर्यादित बना जा रहा है। शत-प्रतिशत नवीनता के भेद में पड़कर हम कालिदास, विद्यापति, तुलसी और मीरा की काव्य-माधुरी को पीछे छोड़ते जा रहे हैं—जैसे सहस्रों वर्षों की काव्य-साधना हमारे लिए आज कुछ भी नहीं रही है। आज काव्य-साधना का विषय नहीं, सहज कवि-प्रतिभा का विषय है, उसमें तरुण वय के भावोच्छ्वास, विद्रोह और कुण्ठा का ही प्रसार है। जो काव्य लोकोत्तर आनन्द प्रदान करने में समर्थ है, जो मानव-मन में शोभा, शान्ति, प्रसन्नता और पवित्रता के कमल खिलाता है, जो अपने उदात्त और ओजपूर्ण स्वर से जीवन को चुनौती देता है, वह काव्य आज का आधुनिक काव्य नहीं है। उसमें केन्द्र-च्युत मानवता के विद्रूप-चित्र संग्रहीत हैं, वह आज अपनी ही सीमाओं और क्षुद्रताओं में बँध गया है, उसके विद्रोह ने उसका कटाव-रोध कर दिया है। वह सब प्रकार से निर्विशेष होकर अपनी विशेषता स्थापित करना चाहता ।

(२) गद्य

भाषा और शैली का क्रमिक विकास—अन्य प्रादेशिक भाषाओं की तरह हिन्दी में भी गद्य आधुनिक प्रवृत्ति है। फलस्वरूप १८०० ई० से

पहले के हिन्दी-साहित्य में काव्य की ही प्रधानता है। फिर भी यह नहीं कि गद्य एकदम अविकसित रहा हो अथवा उसका प्रयोग विशेष क्षेत्रों में हुआ ही नहीं होगा। गद्य के बिना सामान्य जीवन का चलना असंभव है परंतु जनवाणी का यह सामान्य रूप उतना सहज प्राप्य नहीं है। प्राचीन गद्य मुख्यतः शिला-लेखों, सनदों, परवानों, विज्ञप्तियों और धार्मिक वार्ताओं एवं कथा-कहानियों के लिए ही उत्पन्न हुआ और उसका साहित्यिक महत्त्व अधिक नहीं है।

प्राचीनतम हिन्दी-गद्य का सम्बन्ध हिन्दी के पश्चिमी प्रदेश से है और उसकी भाषा राजस्थानी या ब्रज-मिश्रित पश्चिमी हिंदी है। इसको हम १००० ई० से १५०० ई० तक रख सकते हैं। इस समय के गद्य का सबसे सुविकसित रूप गुरु गोरखनाथ की कथित गद्य-रचनाओं में मिलता है। 'चौबीस सिद्धि' का एक अवतरण इस प्रकार है :

चौबीस सिद्धि बोलिये, प्रिथी कै विषै ते कौणं-कौणं। प्रथम अनूमां सिधि ताकौ, लछिन, माया सुनि सूझै॥ महिमां सिधि ताकौ लछिन, लघु परिध होय दिखावै। गरीमां सिधि ताकौ लछिन, ब्रह्म कौ रूप दिखावै॥ लघुमां सिधि ताकौ लछिन, अनेक रूप धरै। प्रापति सिधि ताकौ लछिन, यंछै सो करै॥ प्रकासक सिधि ताकौ लछिन, सूख सूझै। असत्या सिधि ताकौ लछिन, उपावै सपावै॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने गोरखनाथ के गद्य का एक दूसरा अवतरण भी उपस्थित किया। जो इस प्रकार है :

श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत है। है कैसे परमानन्द, आनन्द-स्वरूप है सरीर जिन्हि कों, जिन्हि के नित्य गाए तें सरीर चेतान्नि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जु हों गोरिष सो मछंदरनाथ को दंडवत करत हौं। हैं कैसे वे मछंदरनाथ? आत्मजोति निश्चल है अन्तहकरन जिनके अरु मूलद्वार तैं छह चक्र जिनि नोकी तरह जानै।"

यह गद्यांश चाहे किसी संस्कृत लेखक का अनुवाद अथवा 'कथंभूती' अनुवाद न भी हो, यह स्पष्ट है कि लेखक संस्कृत का वाक्य-विलास

लेकर चलता है और भाषा-सौष्ठव एवं प्रवाह की ओर उसकी दृष्टि नहीं है। वस्तुतः उस प्रारम्भिक युग में गद्य का अधिक विकसित रूप संभव भी नहीं है।

प्राचीन गद्य का दूसरा युग १५०० ई० से १८०० ई० तक चलता है। इसमें हम हिन्दी या खड़ी, अवधी और ब्रज के रूप में तीन प्रमुख गद्य-भाषाएँ भी पाते हैं यद्यपि राजस्थानी गद्य की रचनाएँ भी बराबर कुछ-न-कुछ मिलती हैं। अधिकांश गद्य धार्मिक है और प्रचार अथवा कथा-कहानी एवं भक्त-चरित्र के लिए उसका प्रयोग होता रहा है। हिन्दवी या खड़ी बोली के गद्य का प्रारम्भिक रूप हमें 'दक्खिनी भाषा' में मिलता है और उसका सम्बन्ध सूफियों और पीरों की रचनाओं से है। भाषा सम्बन्धी परिस्थिति कुछ उद्धरणों से स्पष्ट हो सकती है :

"पैगम्बर कहै जैं कुछ काम करैगा कोई खुदा नानूं नाले कर तो ओ काम पायमाल होगा। सराना, नवाज नाखुदा को माहैं कि ओ पालनहारा है आलम का।"

(शाह मीरानजी बीजापुरी, मृ० १४९६)

"सवाल—यह तनुलदहा बलकि सतन्तर पुकार रूप देता है। यक तिल करार नहीं ज्यों मरकट रूप।

जवाब—ऐ आरिफ़। ज़ाहिरतन के फेल ते गुज़रिया व बातिम करतब दिसते। इसका कानून सों मुमकिनु लवजूद दूसरा तन सो भी कि हम ऐन्दीन का विकार व जेष्ठाकरन हारा सो वही तन नहीं तो यों खाक व सुख दुःख भोगनहारा। जेता विकार रूप वही दूसरा तन तो यों नज़र कर देख यह तन फहम सों गुजरिया। तो गुन उसका बन्यों रहे।" (शाहदुरहान खानम, मृ० १५८२ ई०)

खड़ी बोली गद्य का कुछ अधिक विकसित रूप हमें मंडोवर और चकेत्ता की पादशाही की परम्परा (१७५३ ई०) में मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पौराणिक अनुवादों और कथा-कहानियों के लिए खड़ी बोली गद्य का प्रयोग व्यापक रूप से

होने लगा है। १६ वीं शताब्दी के जन-प्रचलित गद्य-रूप का पता हमें उन पत्रों से भी मिलता है जो इस युग में हिन्दी-प्रदेश के विभिन्न भागों से लिखे गए और जो दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में अब तक सुरक्षित हैं।

राजस्थानी में लिखी रचनाओं में १६५८ ई० में रचित खिरियो जागो की 'रावरतन महेश देवोत्तरी' उल्लेखनीय है। अठारहवीं शताब्दी के राजस्थानी गद्य की दो प्रसिद्ध रचनाएँ बाँकीदास (१७८१-१८३३) की दो रचनाएँ 'असीमा चरण बांकीदास की' और 'जोधपुर राठौर की ख्यात' और मुहणोतनैनसी की ख्यात' हैं। १७६० ई० के पहले की खड़ी बोली मिश्रित राजस्थानी की एक रचना 'कुतब दी साहिबजादा री बात' है। गोरखपंथी और हिंदवी सूफी गद्य से इन राजस्थानी बातों और ख्यातों का गद्य कहीं अधिक पुष्ट है।

परन्तु प्राचीन गद्य प्रमुख रूप से ब्रजभाषा में ही आया। धार्मिक वार्ता, भक्त-चरित्र, लोक-कथा और टीका-ग्रंथों के रूप में, यह गद्य अपना मार्ग प्रशस्त कर सका। ब्रजभाषा-गद्य में विट्ठलनाथ का 'शृङ्गार-रस मंडन', गोकुलनाथ के किसी शिष्य की ८४ वार्ता और २५२ वार्ता, नन्ददास की विज्ञानाथ प्रवेशिका, नासिकेत पुराण भाषा और अष्टयाम १६ वीं शताब्दी की रचनाएँ हैं। १७ वीं शताब्दी में ब्रजभाषा गद्य का एक नमूना, तुलसीदास का पत्रनामा है जो १६१२ ई० में लिखा गया है। ओरछा-निवासी वैकुण्ठदास (आ० १६१८ ई०-१६२४) ने 'वैकुण्ठ-माहात्म्य' और 'अग्रहण माहात्म्य' की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों पर खड़ी बोली की छाप है। इस शताब्दी के अन्य ग्रंथ 'भुवन दीपिका' (१६१४), विष्णुपुरी (१६३३) और अकबर के दरबारी कवि गंगभट्ट की 'चन्द छन्द वर्णन की कथा' है। पिछला ग्रन्थ खड़ी बोली की रचना है। १८०० ई० तक ब्रजभाषा-गद्य का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता रहा परन्तु उसमें साहित्यिक सौष्ठव का नितान्त अभाव है। इस समय का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अबुल फजल की आईने अकबरी का

अनुवाद है। दामोदरदास दादूपंथी ने ब्रजभाषा में मार्कण्डेय पुराण नाम भाषा का ग्रंथ लिखा। सुरति मिश्र (आ० १७१०) ने बैताल पच्चीसी और आगरा के नारायणदास ने 'भक्तमाल प्रसंग' की रचना की। हीरालाल ने 'आईने अकबरी पात्रिका' लिखी! अन्य लेखक भी हैं जैसे मनोहरदास निरंजनी (आ० १६५०), हेमराज पाडेय, भगवान मिश्र मैथिल और रामचन्ददास। १८ वीं शताब्दी की कुछ प्रमुख रचनाएँ 'नासिकेतोपाख्यान' 'भूगोल पुराण', 'हितोपदेश' और 'ग्रन्थावली ग्वालेदी भाषा' हैं। नाटकों में भी ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग हुआ है जैसे रीवा के महाराज विश्वनाथ (१७३१-१७८०) के 'आनंद रघुनन्दन नाटक' में यह स्पष्ट है कि समस्त हिन्दी देश में काव्य-भाषा के रूप में ब्रजभाषा को मान्यता प्राप्त थी और उसका गद्य भी बड़ी शीघ्रता से सामने आ रहा था। टीका-ग्रन्थों का हमने निर्देश नहीं किया, परंतु उनकी संख्या और भी बड़ी है। कथा-वार्ता, पुराण, नाटक जैसे गद्य के रचनात्मक अंगों का विकास ब्रजभाषा के माध्यम से होने लगा था और खड़ी बोली इतनी तीव्रता से आगे नहीं बढ़ती तो गद्य के क्षेत्र में भी ब्रजभाषा का आधिपत्य स्थापित हो जाता। खड़ी बोली राजकीय संस्कारों और काम-काजी व्यावहारिकता को लेकर सामने आई और उसने धार्मिक संस्कारों पर आश्रित ब्रजभाषा-गद्य को स्थानान्तरित कर दिया।

इस प्रकार यह निश्चय है कि १००० ई० से १८०० ई० तक का हिन्दी-गद्य का विकास ऐतिहासिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है। वह हमें कोई साहित्यिक महत्त्व की रचना नहीं दे सका। जिन रचनाओं का प्रकारांतर से महत्त्व है वह 'वार्ता-ग्रंथ' हैं। परन्तु यह समझना उचित नहीं कि हिंदी-प्रदेश में गद्य का प्राचीन रूप विकसित ही नहीं हो पाया और गद्य अंग्रेज़ी संस्कृति की देन है। हमारे यहाँ ब्राह्मणों और उपनिषदों के समय से गद्य की स्वतन्त्र सत्ता रही है और मध्य युग में अनेक विभाषाओं में गद्य का विकास बराबर होता रहा।

अठारहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा-गद्य टीका-ग्रंथों और मिश्रित रूपों में

सामने आता रहा, परन्तु वास्तव में गद्य की प्रमुख चेतना खड़ी बोली के माध्यम से प्रकाशित हुई। १८७३ ई० में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'हरिश्चंद मैगजीन' को प्रकाशित करते हुए लिखा था कि 'हिन्दी नए साँचे में ढली'। अतः १८७३ ई० तक के विकास को हम प्रयोगात्मक ही कह सकते हैं। वस्तुतः १८०० से १८७३ तक खड़ी बोली के विकास का पहला चरण है। अत इस काल के भीतर, शैलीकारों की आशा करना आकाश कुसुमवत् व्यर्थ कल्पना है।

इन ७५ वर्षों के गद्य-साहित्य को हम कई कोटियों में बाँट सकते हैं।

१. कथा-साहित्य। इस कोटि की प्रमुख रचनाओं में इन्शाअल्ला खाँ की 'उदयभानचरित या रानी केतकी की कहानी' (१७९८–१८०३), लल्लूलाल जी (१७६३–१८२५) का 'प्रेमसागर' और राजनीति (१८१२) और सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' हैं। १८१२ से १८७२ तक हम इस कोटि में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की कुछ रचनाओं (जैसे राजा भोज का सपना) को छोड़कर और कोई महत्त्व की चीज़ नहीं पाते।

२. ईसाई पादरियों का गद्य। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अपने मत को जनता में फैलाने के लिए अनेक ट्रैक्टों और ग्रंथों का प्रकाशन किया और इंजील के अनुवाद भी प्रस्तुत किये। १८०९ ई० में विलियम कैर ने सिरामपुर से 'नए धर्म के नियम' का अनुवाद प्रकाशित किया और १८१८ ई० में संपूर्ण इंजील प्रकाशित हुआ। ट्रैक्ट के रूप में बहुत बड़ी सामग्री सामने आई, परन्तु उसका साहित्यिक महत्त्व कुछ भी नहीं था।

३. १८३३ ई० में मेकाले की शिक्षा-योजना के स्वीकृत होने के बाद पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता हुई। १८३३ ई० में ही आगरा में एक 'स्कूल बुक सोसाइटी' स्थापित हुई और अनुवाद और मौलिक रचनाओं के रूप में बहुत सा साहित्य आया। रसायन, भूगोल, पदार्थविद्या, जन्तुशास्त्र, विज्ञान सभी विषयों पर रचनाएँ सामने आईं। इन रचनाओं की भाषा दोषपूर्ण होने पर भी इनमें हमें आधुनिक खड़ी बोली का पूर्ण-

रूप मिल जाता है। १८६२ ई० तक यह सिलसिला बराबर चलता रहा।

४ गद्य के क्षेत्र में एक अन्य शक्ति समाचार-पत्र और वृत्त-पत्र थे। 'उदंत मार्तण्ड' (१८२६) के रूप में हिंदी का पहला संवाद-पत्र सामने आया। राजा शिवप्रसाद का 'बनारस अखबार' (१८४५), बाबू तारा-मोहन मित्र का 'सुधाकर' (१८५०), मुंशी सदासुखलाल का 'बुद्धिप्रकाश' (१८५२), भारतेन्दु से पूर्व के सबसे सुन्दर पत्र थे। इनमें 'बुद्धि प्रकाश' का भाषा-शैली की दृष्टि से प्रथम स्थान है। इस युग में भाषा-शैली के क्षेत्र में राजा शिवप्रसाद ही सबसे अधिक अग्रगण्य थे।

५. फोर्ट विलियम कालेज द्वारा भी गद्य के क्षेत्र में काम हुआ, परन्तु वह मुख्यतः अनुवाद और रूपांतर के रूप में है।

भारतेन्दु से पूर्व गद्य की यह परिस्थिति है। एक ओर राजा शिवप्रसाद की उर्दू-हिंदी है, दूसरी ओर लक्ष्मणसिंह की। 'प्रजा हितैषी' (१८६१), और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' (१८६२) की सरस परंतु विशुद्ध हिंदी अर्थात् संस्कृत-गर्भित हिन्दी। इन दोनों (अतिवादों) से बचकर चलने में ही हिंदी-गद्य का सामान्य रूप विकसित हो सकता था।

प्रमुख शैलीकार

भारतेन्दु हरिश्चंद (१८५०-१८८५) ने यह सामान्य रूप हिंदी-गद्य को दिया। उनका नाटक-रचना-काल १८६७ से आरंभ होता है, जिस वर्ष उन्होंने अपने नाटक 'विद्यासुन्दर' की रचना की। इसी वर्ष उन्होंने 'कविवचनसुधा' नाम की पत्रिका भी प्रकाशित की, परंतु गद्य के विकास से उसका कोई विशेष संबंध नहीं है। १८७३ ई० में उनका 'हरिश्चंद मैगजीन' प्रकाशित हुआ, जो बाद में 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस 'चंद्रिका' के द्वारा ही उस युग का विविध और श्रेष्ठतम गद्य प्रकाशित हुआ। अतः १८७३ से १९०३ तक के ३० वर्षों के समय को हम आधुनिक खड़ी-बोली गद्य के विकास का पहला चरण कह सकते हैं। इस चरण के प्रमुख गद्यकार हैं भारतेन्दु हरिश्चंद्र (१८५०-८५), श्री निवासदास (१८५१-१८८७), बालकृष्ण भट्ट (१८८९-१९१९)

प्रतापनारायण मिश्र (१८५६-१८९४), रामशंकर व्यास (१८६०-१९१६), राधाकृष्णदास (१८६५-१९०७), सुधाकर द्विवेदी (१८२४-१८८३), स्वामी दयानंद (१८२४-१८८३), कार्तिकप्रसाद, खत्री (१८५१-१९०४), राधाचरण गोस्वामी (१९५९-१९२५), ठाकुर जगमोहनसिंह (१८५७-१८९९), गदाधरसिंह (१८४८-१८९८), देवीप्रसाद मुंसिफ (१८४७-१९२३), बालमुकन्द गुप्त (१८६३-१९०७), दुर्गाप्रसाद मिश्र (१८५९-१९१०), काशीनाथ (आ० १८८०), किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३८), बिहारीलाल चौबे (आ० १८८८), तोताराम वर्मा (१८४७-१९०८), नवीनचंद्र राय (१८५७-१८९०), देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३), और अम्बिकादत्त व्यास (१८५८-१९०९)। वस्तुतः गद्य के क्षेत्र में यह युग बहुत अधिक क्रियाशील था और उसे लोकप्रिय और शक्तिशाली बनाने का सबसे अधिक श्रेय इसी युग को प्राप्त है। इस युग में गद्य के कई क्षेत्र विकसित हुए :

१—निबन्ध।

२—नाटक।

३—उपन्यास-कहानी।

४—विनोद-हास्यपूर्ण लेख और रेखा-चित्र।

५—संपादकीय और अग्रलेख।

६—धर्म-प्रचार सम्बन्धी-साहित्य।

यह स्पष्ट है कि पिछले ७३ वर्षों के गद्य की अपेक्षा यह ३० वर्षों का गद्य कहीं अधिक पुष्ट और विस्तृत है। एक विशेष कारण तो यह था कि पिछले युग के गद्य में रचनात्मक प्रतिभा का अभाव है और वह केवल सूचना अथवा विवेचना को लेकर चलता है। फलतः उसका क्षेत्र सीमित हो जाता है और साहित्य की व्यापक संवेदना उसमें कुण्ठित हो जाती है। निबंध, नाटक और उपन्यास ने गद्य-शैली को मार्मिकता और रस-संवेदना दी। फिर इस युग में कुछ ऐसे साहित्यिक हमें मिलते हैं जिनका व्यक्तित्व अत्यंत आकर्षक था और जिन्होंने अपने व्यक्तित्व को

ही अपने गद्य में सम्पूर्णतः ढाल दिया है। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी और बालमुकुन्द गुप्त ने प्रमुखतः निबंध-साहित्य को पुष्ट किया। उनके साहित्य में जो सजीवता, रसिकता और चुहल है वह हिंदी-गद्य को व्यक्तित्व देने में समर्थ थी। भारतेन्दु के नाटकों का गद्य रस-विदग्ध शैलियों की मार्मिक अनुभूतियों से मंडित है। आर्य समाज और सनातनधर्म एवं ब्रह्मसमाज के तर्क-वितर्कों और प्रचार-मूलक प्रवृत्तियों ने गद्य को युग-धर्म और समाचार-पत्रों और साप्ताहिकों एवं मासिकों की बाढ़ ने उसे घर-घर पहुँचा दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में भारतेन्दु द्वारा निबंध-लेखन की एक सामान्य-शैली तो विकसित हो गई परन्तु उस शैली को अनुरूण बनाये रखने का प्रयत्न सफल नहीं हो सका। १८८५ ई० में भारतेन्दु की मृत्यु के साथ गद्य के क्षेत्र से एक अत्यंत प्रभावशाली व्यक्तित्व उठ गया और गद्य-शैली प्रयोगों, वैयक्तिक चुहलों और सनकों और बंगला-उर्दू के अनुकरण तक सीमित रह गई। धीरे-धीरे शैली के क्षेत्र में अराजकता छा गई और भारतेन्दु की सामान्य हिंदी-शैली की बात पीछे पड़ गई।

१९०३ से १९३० तक का समय हिंदी-गद्य शैली के विकास का तीसरा चरण है। इस युग में गद्य-शैली के क्षेत्र में तीन प्रधान व्यक्ति हमारे सामने आते हैं—महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रसाद और प्रेमचंद। इनमें आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी अग्रगण्य थे। उन्होंने 'सरस्वती' (१९०३-१८) के माध्यम से भाषा-शैली के परिष्कार का आंदोलन उठाया और स्वयं भारतेन्दु की सामान्य शैली के आधार पर हिंदी की जातीय शैली का आविष्कार किया। इस शैली में भाषा के सहज प्रभाव को सुरक्षित रखा जाता था और साथ ही उपयुक्त संस्कृत-उर्दू शब्दों का भी प्रयोग था। प्रेमचंदी हिंदी में इसी का मुहावरों से पुष्ट जन-प्रचलित रूप विकसित हुआ। दोनों साहित्यकार जनता तक पहुँचने का आग्रह लेकर चले थे। फलतः उन्होंने शैली की सुगमता और सुबोधता पर विशेष ध्यान

दिया। प्रसाद मुख्यतः कलाकार और सांस्कृतिक चेत्ता थे। उन्होंने तत्सम शब्दावली-प्रधान भावमूलक गंभीर भाषा का प्रवर्तन किया जिसमें उपयोगी काव्य-तत्त्व भी पूर्ण रूप से विद्यमान थे।

बीसवीं शताब्दी के पहले १० वर्ष के खड़ी-बोली गद्य के संस्कार के वर्ष हैं। इस दिशा में आचार्य द्विवेदी का कार्य ही सबसे महत्त्वपूर्ण है। बीसियों गद्य-लेखकों ने उनके द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' की भाषा-शैली को आदर्श माना और उसके द्वारा हिंदी सीखी। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में जो लिखा है वह परिमाण में भी कम नहीं है—लगभग ४० पुस्तकों में यह साहित्य प्रकाशित हो चुका है। विषय की दृष्टि से उनकी रचनाओं का आज ऐतिहासिक महत्त्व ही अधिक है। परंतु यह निश्चित है कि उनके अथक परिश्रम के बिना हिंदी के लिए जन-सुलभ, सामान्य, जातीय शैली का विकसित करना असम्भव था। इन लेखकों के साथ अन्य गद्य-लेखक भी शैलीकार के रूप में सामने आते हैं-जैसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल, अध्यापक पूर्णसिंह, डा० श्यामसुन्दरदास, मिश्रबंधु इत्यादि। परन्तु पिछले तीन लेखकों की छाप ही इस युग के गद्य पर अधिक है। इस युग में भी गद्य का विकास अनेक रूपों में हुआ—उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, समाचार-पत्रों के अग्रलेख और टिप्पणियाँ। पिछले युग की अपेक्षा इस युग में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नई जानकारी प्राप्त करने की लालसा अधिक थी और गद्य के व्यापक प्रयोग ने उसे धीरे-धीरे सुचारु और सुचिक्कण बना दिया। नये मध्यवित्ती जीवन के लिए गद्य ही युग-धर्म था, उसमें काव्य-तत्त्वों के लिए अधिक गुञ्जाइश नहीं थी। फलतः गद्य का व्यावहारिक रूप ही अधिक विकसित हुआ।

प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद गद्य के क्षेत्र में वैधानिकता का विकास हुआ और नई शैलियाँ सामने आईं। गांधीजी द्वारा संचालित जनादोलनों ने गद्य को क्षिप्र, व्यंगात्मक, वक्र, तीव्र और प्रभावशाली बनाया। भाषण-शैली के अनेक काम-काजी तत्त्व शैली में समादृत हुए। इससे उसकी व्यापकता ही बढ़ी। राजनैतिक आन्दोलनों के फल स्वरूप

नगर के मध्य वर्ग को गाँव की ओर झुकना पड़ा। इससे साहित्यिक भाषा में जनता की भाषा के अनेक शब्द और प्रयोग आ गए। साहित्य के क्षेत्र में धीरे-धीरे खड़ी बोली के तीन रूप प्रयुक्त होने लगे।

(क) तत्सम-प्रधान हिन्दी जो हिन्दुओं की साहित्यिक और बोल-चाल की भाषा थी।

(ख) उर्दू, जिसमें अरबी-फारसी शब्दों की प्रधानता थी और जो मुसलमानों की साहित्यिक भाषा और बोल-चाल की भाषा थी।

(ग) हिन्दुस्तानी, विदेशी सरकार और कांग्रेस दोनों विभिन्न कारणों से हिन्दी उर्दू के बीच की एक सामान्य भाषा के पक्षपाती थे जिसे वह हिन्दुस्तानी कहते थे। वस्तुत. हिन्दुस्तानी हिन्दी का ही जन-प्रचलित रूप था जो साधुओं-सन्यासियों और हिंदी प्रदेश के व्यापारियों द्वारा हिंदी-प्रदेश से बाहर भी अन्य भाषा-भाषी क्षेत्रों में पहुँच चुका था। गुजरात और बंगाल में जिस प्रकार मुसलमान एक विशेष प्रकार की गुजराती और बंगाली बोलते हैं, उसी प्रकार हिन्दी-क्षेत्र में वे हिन्दी के जिस रूप का व्यवहार करते हैं वही उर्दू नाम से प्रचलित हुआ। वास्तव में ये तीनों एक ही भाषा के तीन रूप थे जो बोलने वाले की संस्कृति और आवश्यकता के अनुरूप विभिन्न बन गए थे। इस विभिन्नता को हम एक सामान्य हिन्दी भषा की तीन विभिन्न शैलियाँ भी मान सकते हैं।

हिन्दी-गद्य-शैली के विकास की विवेचना करते हुए हम साहित्यिक हिन्दी का ही लेते हैं। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद बंगला के भावात्मक गद्य के प्रभाव के कारण अत्यंत स्वच्छंद और भावात्मक गद्य-शैली का प्रवर्तन हुआ जो स्वतंत्र रूप से 'गद्य गीत' नाम से प्रसिद्ध हुई। बंगला गद्य की भावुकता ने हिंदी-उपन्यास और कहानी को भी प्रभावित किया। परंतु इस क्षेत्र में अधिक लोकप्रियता प्रेमचंद की गद्य-शैली को ही मिली। उन्होंने बाबू देवकीनन्दन खत्री की गद्य-शैली, उनकी औपन्यासिकता और लोकप्रियता की परंपरा को जारी रखा। चंडीप्रसाद

'हृदयेश' और जयशंकर 'प्रसाद'-जैसे केवल कुछ ही कथाकार इस सामान्य शैली से हटकर श्रेष्ठ साहित्य का निर्माण कर सके। जहाँ विवेचनात्मक गद्य की शास्त्रीय शैली बाबू श्यामसुन्दरदास के निबंधों और ग्रंथों में मिलती है वहाँ साहित्यपूर्ण गम्भीर शैली के दर्शन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के के निबन्धों में होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि १६१० से १६३० तक हिन्दी-गद्य रचनात्मक और व्याख्यात्मक क्षेत्रों में बड़ी व्यापकता से सामने आया। इस युग के लेखकों में व्यक्तित्व के अंश उतने प्रमुख नहीं थे जितने उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में, परन्तु फिर भी उनकी मेधा और उनके अध्यवसाय ने गद्य-शैली को अनेक प्रकार से परिष्कृत और विकसित किया।

इन तीस वर्षों की भाषा-शैली के उदाहरण के लिए हम कुछ प्रमुख लेखकों के गद्यांश इस प्रकार उद्धृत कर सकते हैं :

"जरा इस यक्ष की नादानी तो देखिए। आग, पानी, धुएँ और वायु के संयोग से बना हुआ कहाँ जड़ मेघ और कहाँ बड़े ही चतुर मनुष्यों के द्वारा भेजा जाने योग्य संदेशा ! परन्तु वियोगजन्य दुःख से व्याकुल हुए यक्ष ने इस बात का कुछ भी विचार न किया। उत्सुकता और आतुरता के कारण उसे इस बात का ध्यान ही न रहा कि बेचारा मेघ भला किस प्रकार संदेश ले जायगा। बात यह है कि जिस दशा में यक्ष था, उस दशा को प्राप्त होने पर लोगों की बुद्धि मारी जाती है। वे चेतन, अचेतन पदार्थों का भेद ही नहीं जान सकते। अतएव, जो काम जिसके करने योग्य नहीं उससे भी उसे करने के लिए वे प्रार्थना करने लगते हैं।" (आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी)

"हिन्दी साहित्य का इतिहास ध्यान पूर्वक पढ़ने से यह विदित होता है कि हम उसे भिन्न-भिन्न कालों में ठीक-ठीक विभक्त नहीं कर सकते। उस साहित्य का इतिहास एक बड़ी नदी के समान है जिसकी धारा उद्गम-स्थान में तो बहुत छोटी होती है, पर आगे बढ़कर और छोटे-छोटे टीलों या पहाड़ियों के बीच में पड़ जाने पर वह अनेक धाराओं

में बहने लगती है। बीच-बीच में दूसरी छोटी-छोटी नदियाँ कहीं तो आपस मे दोनों का सम्बन्ध करा देती है और कहीं कोई धारा प्रबल वेग से बहती है और कोई मंद गति से। कहीं खनिज पदार्थों के संसर्ग से किसी धारा का जल गुणकारी हो जाता है और कहीं दूसरी धारा के गँदले पानी या दूषित वस्तुओं के मिश्रण से उसका जल अपेय हो जाता है। सरांश यह कि एक ही उद्गम से निकलकर एक ही नदी अनेक रूपों को धारण करती है और कहीं भीमकाय तथा कहीं क्षीणकाय होकर प्रवाहित होती है और जैसे कभी-कभी जल की एक धारा अलग होकर सदा अलग ही बनी रहती है अनेक भू-भागों मे होकर बहती है, वैसे ही हिन्दी-साहित्य का इतिहास आरम्भिक अवस्था से लेकर अनेक धाराओं के रूप प्रवाहित हो रहा है।" (श्यामसुन्दरदास)

"महान् पुरुष—निस्सन्देह महान् पुरुष। भारतीय इतिहास के किस रत्न मे इतनी चमक है ? स्वतन्त्रता के लिए किसने इतनी कठिन परीक्षा दी ? जननी-जन्मभूमि के लिए किसने इतनी तपस्या की ? देश-भक्त, लेकिन देश पर अहसान जताने वाला नहीं, पूरा राजा लेकिन स्वेच्छाचारी नहीं। उसकी उदारता और दृढ़ता का सिक्का शत्रुओं तक ने माना। शत्रु से मिले भाई शक्तिसिंह पर उसकी दृढ़ता का जादू चल गया। अकबर का दरबारी पृथ्वीराज उसकी कीर्ति गाता था। भील उसके इशारे के बन्दे थे। सरदार उस पर जानें निछावर करते थे।"

(गणेशशंकर विद्यार्थी)

"प्रकाश की धुँधली-सी झलक में कितनी आशा, कितना बल, कितना आश्वासन है, यह इस मनुष्य से पूछो, जिसे अन्धेरे ने एक घने-पन में घेर लिया था। प्रकाश की वह प्रभा उसके लड़खड़ाते हुए पंरों को शीघ्रगामी बना देती है, उसके शिथिल शरीर में जान डाल देती है। जहाँ एक-एक पग रखना दुस्तर था वहाँ इस जीवन-प्रकाश को देखते हुए वह मीलों और कोसों तक प्रेम की उमंगों में उछलता हुआ चला जाता है।" (प्रेमचन्द)

"मैं अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट रहने दूँगी। वह जहाँ ले जाय।'—चम्पा की आँखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं किसी आकांक्षा के लाल डोरे उसमें न थे। धवल अपांग में बालकों के सदृश विश्वास था। हत्या-व्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर काँप गया। उसके मन में एक संभ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी। समुद्र वक्ष पर विलम्बमयी राग-रंजित संध्या थिरकने लगी। चम्पा के असंयत कुन्तल उसकी पीठ पर बिखरे थे। दुर्दान्त दस्यु ने देखा, अपनी महिमा में अलौकिक एक वरुण-बालिका! वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा। उसे एक नई वस्तु का पता चला। वह थी—कोमलता।"

(जयशंकर प्रसाद)

"आशा! आशा! अरी भलीमानुस! जरा ठहर तो सही, सुन तो सही, कितनी दूर है? मंजिल कहाँ है? ओर-छोर किधर है? कहीं कुछ भी तो नहीं दीखता। क्या अंधेर है! छोड़ मुझे छोड़! इस उच्चाकांक्षा से मैं बाज आया। पड़ा रहने—मरने दे, अब और दौड़ा नहीं जाता। ना—ना—अब दम नहीं रहा—यह देखो, यह हड्डी टूट गई, पैर चूर-चूर हो गए, साँस रुक गया, दम फूल गया। क्या मार ही डालेगी सत्यानाशिनी? किस सब्ज बाग का झाँसा दिया था। किस मृगतृष्णा में ला डाला मायाविनी? छोड़, छोड़, मेरी जान छोड़! मैं यहीं पड़ा रहूँगा।" (आचार्य चतुरसेन शास्त्री)

नये प्रयोग—पिछले २० वर्ष गद्य-शैली के क्षेत्र में प्रयोगों के युग हैं। इन प्रयोगों का आरम्भ जैनेन्द्र के द्वारा हुआ। १९३० में उनकी पहली प्रमुख रचना 'परख' प्रकाशित हुई। इसमें भाषा-शैली का अत्यन्त स्वाभाविक, अकृत्रिम और निरालंकृत, परन्तु मनोवैज्ञानिक रूप दिखलाई पड़ा। प्रेमचन्द की भाषा-शैली से यह शैली एकदम भिन्न थी। इसमें भाव-प्रकाशन पर विशेष बल था। पात्र की मानस-गुत्थियों के अनुरूप यह भाषा-शैली मुँदती-खुलती चलती थी। पश्चिम में अंतश्चेतनावादी कलाकार इस प्रकार की शैली का प्रयोग कर रहे थे और स्वयं अपने

देश में रवीन्द्रनाथ की उत्तर कथात्मक रचनाओं में यही शैली ग्रहण की गई थी। 'नीरजा' और 'चार अध्याय'-जैसे छोटे उपन्यासों में यही शैली चमत्कार बन गई थी। जैनेन्द्र ने इसी शैली को अपने व्यक्तित्व की छाप देकर उपस्थित किया। अंतश्चेतनावादियों की तरह वह केवल प्रयोग पर नहीं रुके। उनके कथा-साहित्य में मनोविश्लेषण और भावना का बहुत सुन्दर समन्वय हुआ है। हिंदी के लिए यह शैली एकदम नई थी। 'परख' के बाद उन्होंने अपनी शैली को अपेक्षाकृत अधिक संयत रखा। उनके बाद हम इस क्षेत्र में 'अज्ञेय' और 'निराला' का नाम ले सकते हैं। अज्ञेय की अधिकांश कहानियाँ स्मृति-चित्रों पर आधारित हैं और उनमें अन्वेषिणी प्रतिभा और साहित्य-कथा का बहुत सुन्दर गुम्फन है। वे कभी कई पृष्ठों के विस्तृत मानसिक चित्र लेकर चलते हैं। कथा की शृङ्खला बहुधा छूट जाती है और उसका एक छोर जीवन के दस-बीस वर्ष पहले तक झूलता है। मन की द्वन्द्वात्मक प्रतिक्रिया का बहुत सजीव चित्र इस शैली में उतरता है, परन्तु दीर्घसूत्री होने के कारण यह कथा-प्रवाह में बाधक होती है और कभी-कभी पाठक के मन में बे-तरह वितृष्णा और ऊब भर देती है। 'शेखर : एक जीवनी' में यह शैली अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में हमें दिखलाई देती है। इस शैली में बौद्धिक और कलात्मक सचाई कहाँ तक है, यह दूसरी बात है। जहाँ तक उसके भाषागत वैशिष्ट्य का सम्बन्ध है, यह निश्चय ही आगे बढ़ा हुआ कदम है।

'निराला' के भाषा-शैली-संबंधी प्रयोग कथा की आवश्यकताओं अथवा मनोविज्ञान की उलझनों से संबंधित नहीं हैं। उनकी अपनी अलग और स्वतंत्र सत्ता है। 'चमेली' नाम की रचना में उन्होंने अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'ठेठ हिंदी का ठाट' उपन्यास के समान ठेठ भाषा-शैली का प्रयोग किया है। 'प्रभावती' मध्ययुगीन रोमांस है। फलतः वहाँ वह कवि और भावुक हो उठे हैं। वैभव, सौन्दर्य और स्वच्छन्दतावादी प्रेम के चित्र में यह शैली पूर्णतः समर्थ है। अपने तीन अपूर्ण उपन्यासों

में उन्होंने ग्रामीण जीवन का सुविस्तृत यथार्थवादी चित्रण उपस्थित किया है। यहाँ हमें भाषा-शैली का नया और अप्रत्याशित रूप मिलता है। इस प्रकार गद्य के क्षेत्र में निराला को हम प्रयोगवादी ही कह सकते हैं। इसमें संदेह नहीं कि उनमें कलात्मक जागरूकता उच्च कोटि की है, परन्तु वह प्रयोगों में आगे नहीं जाती। फिर भी गद्य-शैली के विकास के इतिहास में उसका स्थान अक्षुण्ण रहेगा।

नीचे हम इन तीनों कलाकारों की शैलियों के उदाहरण देते हैं :

१. "हमारी धारणाएँ हमारी बंद कुठरियाँ हैं। उनमें हमारा ठिकाना है। वे हमें गर्म रखतीं और अन्धेरे में रखती हैं। हमारा ज्ञान हमारा बंधन भी है। सारे सादे सगुण विशेषण मानो चौखटे हैं, जिनमें हम अपने को और औरों को जड़कर देखने के आदि हैं। यह पापी, वह धर्मी—झट ऐसे विशेषणों को आगे लाकर मानो हम उससे अपना मुँह बचा लेते हैं जो निरन्तर हमारे सम्मुख है, जो इतना यथार्थ है कि शब्द उसके समक्ष निःशब्द हैं। शब्दों में यह समा नहीं सकता, शब्दों की मूँद उसके लिए नहीं। अरे हम थोड़ी भी देर के लिए शब्दों के घेरे से निकलकर निर्वाक् क्यों नहीं खुली धूप और खुली हवा जरा ले लिया करते। शायद अधिक तो हमसे सहा न जाय—बंदी रहने के इतने हम आदी हैं। फिर भी धीमे-धीमे सहन-शक्ति पैदा हो सकती है। अपने बंदीपन पर गर्व करना छोड़ना तो हम सीख ही सकते हैं और इस विश्व में किसी को भी अपने से हीन मानना मानों अपने ही बंधन पर डींग मारना है। इससे बड़ी मूर्खता और क्या हो सकती है ? जो अपने को और अपने मन्तव्य को दूसरे से और उसके मंतव्य से अधिक मानता है, वह उतना ही अपने को और अपनी मान्यताओं को मंद और सँकरी बनाता है।" (निराला)

२. सच यह है कि आदमी के भीतर की व्यथा ही सच है। उसे सँजोते रहना चाहिए। वह व्यथा ही शक्ति है। उसमें किसी का साहस

नहीं। उसका दान गलत है, संचय ही उसका इष्ट है। उच्छ्वास में भी उसे व्यर्थ करना भय है। जितना अंश उसको आनन्द बन जाय, उसी में से खर्च कर सकते हो। बाकी को तो आग के रूप में भीतर रखे रखना ही श्रेयस्कर है। भीतर सुलग निरन्तर चाहिए बाहर झुलस ठीक नहीं।"

(जैनेन्द्र)

३. मानस-बल का वक्ष, रात।

बजर की छत पर, चन्द्रमा के प्रकाश में, शेखर थका हुआ बैठा है। आज दिन-भर वह क्या कुछ करता रहा है। वह सौंदर्य को ठीक नहीं समझता, लेकिन उनको सामने पाकर जाने क्यों चंचल हो उठता है, स्फूर्ति से भर जाता है, और भूत की तरह किसी काम में लग जाता है। सौंदर्य को देखकर वह उसी में तन्मय नहीं होता, लेकिन उसके प्रत्येक कार्य में मानो जीवन का जोर बढ़ जाता है।

आज उसने असंख्य कमल तोड़कर उनके हार बहन को पहनाए हैं, उसे देवी बनाकर पूजा है, संध्या को आरक्त सूर्य को विदा दी है झील में से चन्द्रोदय देखा है और सबसे बढ़कर—आज उसने सरस्वती को आत्मविस्मृति में गाते सुना है····· गीत के शब्द क्या हैं, उसे नहीं याद, वे कुछ नहीं हैं, उनका भाव भी कुछ नहीं है, वह तन्मयता, गीत की निर्गुण गीतमयता ही सब-कुछ है।·····

मानस-बल का वक्ष, रात। बजरे की छत पर, चन्द्रमा के प्रकाश में शेखर थका हुआ बैठा है।

नीचे बहन का स्वर बुला रहा है "शेखर, अब उतर आओ!" पर वह उतरता नहीं, उतर सकता नहीं और वह जानता है कि कोई चिन्ता भी नहीं उतरने की, बहन स्वयं आयगी।

वह आती है। आकर चारों ओर देखती है, और स्वयं चुपचाप बैठ जाती है। हम लोग काल का मापन निष्प्राण घड़ियों से करते हैं—कितने मूर्ख हैं हम! क्षण में ही जो युग-युग बीत जाते हैं, और युगों

तक जो क्षण वैसा ही बना रहता है, उसको अनुभव से मापने की सामर्थ्य क्या घड़ियों में है ?

दोनों चुप हैं। निश्चल है—जीवन खड़ा है और खड़े होने में ही कितनी तीव्र गति से भागा जा रहा है, न आगे न पीछे, किन्तु एक नामहीन अपरिमेय दिशा में।

४ शेखर मुड़कर सिर खिड़की से बाहर निकाल लेता है। बादलों से बोझल पहाड़ी हवा उसके तपे हुए कानों के पास से सनसनाती हुई निकलती है, तो वह सोचने लगता है कि यह क्या बात है। इस तरह का नैतिक अविश्वास उसने अब तक जाना ही नहीं। पाप उसने बहुत जगह देखा है, किया भी है, लेकिन पाप ही मानव की हरेक प्रेरणा का मूल है, ऐसा भयानक सन्देह—ऐसा असंदिग्ध विश्वास वह अपने हृदय में नहीं जमा सका है। उसे समझ में नहीं आता कि ऐसा करके कोई कैसे जी सकता है जिसके हृदय की नाड़ियों में कीड़े कुल-बुला रहे हों, वह शान्त कैसे रह सकता है पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध—व्यक्ति के रूप में नहीं, सामूहिक पुरुष और सामूहिक स्त्री के रूप मे उनका सम्बन्ध—इस घातक आविश्वास के रूप में शेखर के सामने पहली बार आया, आज उसने देखा कि संसार के कष्ट के प्रश्न से भी बड़ा यह संसार के अविश्वास का प्रश्न है, यह बड़ी भारी समस्या जो मानव-मात्र ने उस व्यक्ति मे केन्द्रित कर दी जिसे शेखर ने अब तक सिर्फ सहारे के रूप मे जाना है—नारी मे। और इस विचार से ही उसका दम घुटने लगा कि जैसे उसके नासा-पुटों में, फेफड़ों में, कीड़े घुसे जा रहे हैं। (अज्ञेय)

परन्तु आधुनिक युग में केवल कला के क्षेत्र मे नये प्रयोग ही नहीं हुए हैं, पूर्ववर्ती भाषा-शैलियों का प्रसार और पोषण भी दिखलाई पड़ता है और नये-नये विषय और भावों के साथ प्रकाशन-शैली में भी विविधता और नवीनता आई है। गद्य की वैज्ञानिक सूत्र-शैली हमे डॉ० धीरेन्द्र वर्मा और खोज-ग्रंथों के लेखक विद्वानों मे मिलेगी।

भावात्मक काव्यात्मक गद्य हमें महादेवी वर्मा के संस्मरणों और रेखाचित्रों और वियोगी हरि, रायकृष्णदास और अनेकानेक गद्यगीतकारों की रचनाओं में मिलेगा। चित्रात्मक भाषा-शैली डॉ० रघुवीरसिंह के ऐतिहासिक परिचयों की विशेषता है। कम्युनिस्ट लेखकों के रेखाचित्र और रिपोर्ताज गद्य-लेखन की नई कला लेकर आये हैं। प्रतिदिन सैकड़ों की संख्या में कहानियाँ लिखी जा रही हैं, अनेकानेक विषयों पर बहुसंख्यक निबंधों, अग्रलेखों और टिप्पणियों का निर्माण हो रहा है। देश की नई अवश्यकताओं के अनुसार पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में हिन्दी माध्यम से लिखा जाने लगा है। और भारत प्रजातंत्र की अनेक धारा-सभाएँ और लोक-सभाएँ हिन्दी भाषा में ही अपना काम चला रही हैं। यह निश्चय है कि अगले कुछ वर्षों में विभिन्न भाषा-भाषी क्षेत्रों के आदान-प्रदान से हिन्दी की शैलियाँ पुष्ट होंगी और उनमें नई भंगिमाओं का आविष्कार होगा। यह आश्चर्य का विषय है कि तीन वर्ष के थोड़े समय में ही हिन्दी-गद्य कितनी विभिन्न और समर्थ शैलियों के आविष्कार और पोषण में समर्थ हो सका है। इन वर्षों में हमारे कलाकारों ने अपने मन को पूर्ण रूप से उन्मुक्त रखा है और पश्चिमी जगत् की परंपराओं और उसके प्रयोगों को अपने ढंग पर आत्मसात् किया है। ये नये प्रयोग ही हिन्दी का फल है।

(३) उपन्यास

हिंदी-उपन्यास का जन्म और विकास उन्नीसवीं शताब्दी के हिंदी-साहित्य की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। हिंदी-उपन्यास का जन्म १९ वीं शताब्दी के पहले पचास वर्ष बीत जाने पर ही सम्भव हो सका, परंतु इसमें संदेह नहीं कि १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में ही कथा-साहित्य के विकास के अनेक उपकरण इकट्ठे हो चुके थे। और उन्हीं के सहारे धीरे-धीरे हिंदी में भी ऐसी चीजें लिखी जाने लगी थीं जिन्हें हम आधुनिक कथा-साहित्य का पूर्व-रूप कह सकते हैं।

हिंदी का प्रदेश बहुत विशाल है और उसमें अनेक लोक-कथाएँ और

लोक-कहानियाँ बराबर प्रचलित रहीं हैं। किस्सा तोता मैना, किस्सा साढ़े तीन यार, किस्सा छबीली भटियारिन, सारङ्गा सदाबृक्ष, सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, भोज, मुंज और अकबर-बीरबल से सम्बंधित कथाएँ और इसी प्रकार की कुछ और भी सामग्री जनता में मौखिक रूप से प्रचलित थी और बाद में छापे के प्रचार के साथ छपकर भी सामने आई। परन्तु छपी कथा-कहानियों की अपेक्षा मौखिक रूप से चलने वाली कथा-कहानियाँ कहीं अधिक हैं। प्रेमचंद से पूर्व-युग के प्रकाशित साहित्य की सूची देखने से इन कथाओं की लोकप्रियता का पता चलता है। अब भी जनता में इस प्रकार की सामग्री बड़ी लोकप्रिय है और हिंदी के कथाकार के लिए उसकी एकदम उपेक्षा करना कठिन है।

इन लोक-कहानियों में या तो स्त्री-पुरुष के वैध-अवैध सम्बंध की चर्चा रहती, या हास्य और विनोद के प्रसंग या साहस और वीरता एवं आत्म बलिदान की कथाएँ, परन्तु शुद्ध प्रेम-रोमांस की अनेक कहानियाँ भी जनता में लोकप्रिय था। मध्ययुग के लैला-मजनूँ, शीरीं-फरहाद, सोहनी-महिवाल, रतनसिंह-पद्मावती, ढोला-मारू-जैसी अनेक कथाएँ जनता का हृदय-हार हो रही थीं और कदाचित उनकी लोकप्रियता से प्रभावित होकर ही सूफी कवियों ने उन्हें आध्यात्मिक रूपक के लिए चुना। जायसी आदि अन्य सूफी कवियों की रचनाओं में हमारी लोक-कथा-परंपरा की कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति सुरक्षित है। किशोरीलाल गोस्वामी और अन्य रोमांस-लेखकों ने हिंदी-साहित्य की इस महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति से लाभ उठाया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

एक तीसरी प्रकार की कथा-संपत्ति पौराणिक धर्म से संबंधित थी। राम, कृष्ण और अन्य देवी-देवताओं को लेकर प्रचुर मात्रा में साहित्य का निर्माण हो चुका था। हिंदी का भक्ति-काव्य इन्हीं पुराणों की परम्परा को विकसित करता है। राम-सीता को लेकर तो कथा-साहित्य में तुलसीदास के बाद कोई बड़ी चीज नहीं आई, परन्तु राधाकृष्ण को लेकर स्वच्छंद प्रेम-मिलन और वियोग की अनेक रहस्यात्मक और लौकिक कथाएँ

चल पड़ीं। परवर्ती काल में रीति-काव्य ने इन कथाओं को शास्त्र की भित्ति दी। और प्रथम-मिलन, पूर्णराग मान, अभिसार, वियोग और अंततः मिलन के रूप में इन कथाओं के लिखने की एक शैली ही विकसित हो गई। इस शैली ने प्रारम्भिक प्रेम-रोमांस के लेखकों को प्रभावित किया है। किशोरीलाल गोस्वामी के अनेक उपन्यास रीति-कालीन प्रेम-रोमांस की भित्ति पर ही खड़े हैं।

परंतु शुद्ध-साहित्य की दृष्टि से आधुनिक कथा-साहित्य का सम्बंध १६ वीं शताब्दी के प्रथम दशक की कुछ महत्त्वपूर्ण गद्य-रचनाओं से जोड़ा जा सकता है। इनमें से दो रचनाएँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। ये हैं 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' (इंशा अल्लाहखां) और 'नासिकेतोपाख्यान' (सदल मिश्र)। शैली की दृष्टि से ये कथाएं लोक-कहानियों की शैली का ही अनुकरण करती हैं। इनमें सदल मिश्र की रचना उपदेश की ओर अधिक झुकती है। उसका आधार कठोपनिषद् की नचिकेता की कथा है जो मुख्यतः धार्मिक एवं दार्शनिक रूपक है। उसे हम विशुद्ध कथा-साहित्य के अंतर्गत नहीं रख सकते। परंतु इन्शा की 'रानी-केतकी की कहानी' साहित्य और कला दोनों की दृष्टि से शुद्ध कहानी की ओर झुकती है। उसमें हम मध्ययुग की प्रेम-कथाओं को नये वातावरण में सजा हुआ पाते हैं। इन महत्त्वपूर्ण रचनाओं के बाद 'राजा भोज का सपना' और कुछ इसी प्रकार की अन्य रचनाएँ उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से संबंधित हैं। परंतु इन रचनाओं की संख्या अधिक नहीं है और हम इनमें इन्शा की रचना के बाद का कोई विकास नहीं पाते।

इन प्रारम्भिक रचनाओं के बाद हमें निश्चित रूप से ऐसी चीजें मिलती हैं जिन्हें उपन्यास के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। इन प्रारम्भिक उपन्यासों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम से सम्बन्धित एक मराठी उपन्यास का रूपान्तर भी है। यह 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' नाम का उपन्यास है जिसे कुछ लेखकों ने हिन्दी का सर्वप्रथम सामाजिक

उपन्यास कहा है। इसमें लेखक ने वृद्ध-विवाह को व्यंग और उपहास का विषय बनाया है। यह कहना कठिन है कि यह उपन्यास भारतेन्दु की ही रचना है। कदाचित् अनुवाद किसी दूसरे व्यक्ति ने किया था और भारतेन्दु ने केवल उसकी पांडुलिपि शुद्ध कर दी थी। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि वह उपन्यास के महत्त्व से पूर्णतः परिचित थे और स्वतः इस क्षेत्र में योग देना चाहते थे। 'मनोहर उपन्यास' (१८७१) नाम की एक अन्य रचना का भी उल्लेख मिलता है। यह उपन्यास सदानंद मिश्र और शम्भुनाथ मिश्र द्वारा संगृहीत और संशोधित कहा गया है। और यह कहना कठिन है कि यह अनुवाद है या मौलिक रचना। इसकी कोई भी प्रति प्राप्त नहीं है, अतः कथावस्तु आदि के सम्बन्ध में कुछ भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अतः विशिष्ट रचनाओं के अभाव में लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षागुरु' (१८८४ ई०) को ही हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास मान लिया जाता है। इस उपन्यास का दृष्टिकोण भी सुधारवादी है। दिल्ली के एक सेठ का लड़का बुरे लड़कों की कुसंगति में पड़ जाता है और अन्त में एक मित्र की सहायता से सुधर जाता है। श्रीनिवासदास की दिल्ली में एक बड़ी आढ़त थी और कदाचित् धनी लड़कों के बनने-बिगड़ने की समस्या से वे पूर्णतया परिचित होंगे। उपन्यास में नीति-प्रधान उपदेशात्मक उन अंग्रेज़ी के साधारण कोटि के उपन्यासों की शैली ग्रहण की गई है जिनसे बीसवीं शताब्दी भरी पड़ी थी। कदाचित् लेखक ने किसी बड़े अंग्रेजी उपन्यास को सामने नहीं रखा था—परन्तु उसकी भाषा-शैली और उसके दृष्टिकोण पर विदेशी प्रभाव पूर्णतः अंकित था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-उपन्यास का जन्म १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ और शताब्दी के अंत तक उसे विकास के लिए दो दशकों का भी समय नहीं मिला। वस्तुतः लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षा-गुरु' (१८८४ ई०) से प्रेमचन्द के 'सेवा सदन' (१६१६) तक हिन्दी-उपन्यास के विकास का पहला चरण माना जा सकता है। अगले बीस

वर्षों में प्रेमचन्द का कृतित्व ही सबसे महत्त्वपूर्ण है। अतः 'गोदान' (१९३६) तक हिन्दी-उपन्यास का दूसरा चरण रहा। परन्तु प्रेमचन्द के बाद इस क्षेत्र में नूतन शक्तियों ने पदार्पण किया है और एक नया युग अभी चल रहा है जिसे हिन्दी-उपन्यास-ऐसी उच्च कला-कोटि के विकास के लिए ये ६०-७० वर्ष अधिक नहीं हैं, परन्तु हिन्दी के उपन्यासकारों के सामने उर्दू, अंग्रेजी, बँगला, फ्रांसीसी आदि रूसी साहित्य के उपन्यास-साहित्य की बहुत बड़ी निधि थी और उसके सहारे उन्होंने शताब्दियों के विकास-पथ को केवल कुछ दशकों में ही पार कर लिया।

इस ६०-७० वर्षों के सम्पूर्ण हिंदी-उपन्यास-साहित्य को हम पाँच धाराओं में विभक्त कर सकते हैं : १—सामाजिक, २—राष्ट्रीय अथवा राजनैतिक, ३—ऐतिहासिक, ४—ऐयारी तिलिस्मी और ५—जासूसी। सामाजिक उपन्यासों के चार भेद हमें मिलते हैं—(अ) उद्देश्य-प्रधान (आ) रस-प्रधान (इ) वस्तु-प्रधान तथा (ई) चरित्र प्रधान।

(अ) उद्देश्य-प्रधान—उद्देश्य-प्रधान उपन्यासों से उन उपन्यासों का तात्पर्य है जो समाज-सुधार, शिक्षा और प्रचार की भावना लेकर चलते हैं हिंदी के प्रारम्भिक उपन्यासों में ही सुधार-प्रवृत्ति के दर्शन हमें होने लगते हैं और इसमें संदेह नहीं कि हिंदी-उपन्यास का यह पक्ष सबसे सबल है। भारतेन्दु का 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' और श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' इसी परम्परा से सम्बंधित हैं। लाला श्रीनिवासदास (१९५१-१८८७) के बाद इस क्षेत्र में उन्नीसवीं शती के विशेष कृती कथाकार हैं बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास और किशोरीलाल गोस्वामी। बालकृष्ण भट्ट के 'सौ अजान एक सुजान' (१८९१) में लगभग वही समस्या है जो 'परीक्षा गुरु' का विषय है। 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८९६) उनकी एक अन्य रचना है। यह भी उपदेश-प्रधान है। किशोरीलाल गोस्वामी मुख्यतः रोमांस-लेखक हैं, परन्तु 'त्रिवेणी' (१८८८) आदि उपन्यासों में उन्होंने आर्यसमाज और अन्य सुधारवादी समाजों के विरुद्ध सनातन धर्म के सिद्धान्तों का पक्ष ग्रहण किया। परंतु अपने कुछ उप-

न्यासों में वे प्रगतिशील भी हैं जैसे 'स्वर्गीय कुसुम' (१८८६) में, जिसमें उन्होंने देवदासी-प्रथा की नृशंसता का वर्णन किया है। राधाकृष्णदास का 'निःसहाय हिंदू' (१८९०) में तत्कालीन हिंदू-समाज की दुर्बलता और असहायावस्था का स्पष्ट चित्रण है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह रचना महत्त्वपूर्ण है। इसमें हम हिंदू-मुसलिम-समस्या को पहली बार उपस्थित पाते हैं। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि इसमें लेखक ने सेठ-साहूकारों के लड़कों के बनने-बिगड़ने की कहानी को छोड़कर एक ऐसी समस्या को अपनी कथावस्तु बनाया है जिसका सम्बंध किसी वर्ग से नहीं, पूरे समाज से है। प्रेमचंद के 'कायाकल्प' (१९८८) में गो-वध और हिंदू मुसलिम-सम्बंधों की समस्या अत्यंत मार्मिक रूप से उपस्थित की गई है। राधाकृष्णदास इस क्षेत्र में अग्रणी हैं। उनमें एक महान् उपन्यासकार की प्रतिभा बीज-रूप में विद्यमान थी। उनके इस उपन्यास में हम पहली बार कल्पना की नंदन भूमि को छोड़कर शहर की गंदी गलियों और अँधेरी कोठरियों का परिचय पाते हैं।

उद्देश्य प्रधान सामाजिक उपन्यासों के अनेक विषय हैं—नवीन अंग्रेजी सभ्यता पर व्यंग (गोपालराम गहमरी का 'नये अंक', १८९४), विधवा-विवाह (तोताराम शर्मा का 'सुशीला-विधवा' १९०६) और कमलाप्रसाद का 'कुल-कलंकिनी' (१९०५), पत्नी-धर्म और सतीत्व (आदर्श-दम्पति, कुलवंती, सती, बिगड़े का सुधार आदि रचनाएँ), मैत्री-धर्म, लोचनप्रसाद पांडेय का 'दो मित्र' १९०६), सामाजिक व्यंग ('साहूलाल की करतूत' १९०८) आदि। एक तरह से देखें तो इस युग के उपन्यास-लेखकों ने विद्यार्थी-जीवन से लेकर दाम्पत्य और वेश्या-जीवन तक के सभी सामाजिक स्तरों को परखा है, परन्तु अधिकांश रचनाओं का कला-पक्ष दुर्बल है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में कुछ व्यंग-प्रधान सामाजिक चित्र ऐसे अवश्य आये जिनमें साहित्यिकता की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक थी, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी ऐसी रचनाओं से वंचित रही। अधिकांश लेखक सनातन धर्म और आर्य समाज में से किसी एक दल को

अपनाकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे। सामाजिक क्षेत्र में मौलिक चिंतन का उन दिनों एकांत अभाव था। फिर भी इस क्षेत्र में अनेक लेखकों ने योग दिया और ईश्वरीप्रसाद शर्मा, रामनरेश त्रिपाठी, शिवनाथ शर्मा, लज्जाराम शर्मा और गंगाप्रसादसिंह अखौरी ने कुछ अत्यंत सुन्दर रचनाएँ हमें दीं। अधिकांश रचनाओं में समस्याओं के गंभीर तल में प्रवेश करने की कोई भी चेष्टा नहीं की गई। पात्रों के व्यक्तित्व-निर्माण और चरित्र-चित्रण की ओर भी ध्यान नहीं दिया गया। फलतः इन उपन्यासों के द्वारा समाज का जो चित्र हमारे सामने आता है वह विकृत और कृत्रिम बन गया है। लेखकों की प्रचार-भावना ने उसे अतिवाद से ग्रसित कर दिया है।

सामाजिक उपन्यासों के क्षेत्र में प्रेमचंद के 'सेवा सदन' (१९१८) का प्रकाशन क्रांतिकारी घटना है। यह पहला उपन्यास है जिसमें वेश्या-जीवन और मध्यवित्त सामाजिक विडम्बना को कुछ अंतर्दृष्टि से देखा गया है। उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचंद के आविर्भाव के साथ ऐसी कलापूर्ण कृतियाँ सामने आईं जिनमें हमारे समाज का यथातथ्य चित्र हमारे सामने आया! स्वयं प्रेमचंद की कृतियाँ इस क्षेत्र में अपना प्रतिद्वंद्वी नहीं रखतीं। 'सेवा-सदन' में उन्होंने यह दिखलाया है कि हिंदू-समाज नारी के प्रति कितना अनुदार है और उसकी सुधार की डींगें कितनी थोथी हैं। 'प्रेमाश्रम' (१९२२) में सम्मिलित परिवार और अंधविश्वास, 'कायाकल्प' (१९२६) में बहु-विवाह और हिंदू-मुसलिम-समस्या 'निर्मला' (१९२८) में अनमेल विवाह और दोहाजू, 'प्रतिज्ञा' (१९८९) में विधवा-जीवन और 'गबन' (१९३८) में मध्यवित्ती आभूषणप्रियता और आडम्बरनिष्ठा को उन्होंने अपना विषय बनाया है। अपने बड़े राष्ट्रीय उपन्यासों में भी उन्होंने समाज को एकदम छोड़ नहीं दिया है। वस्तुतः उनके सामाजिक चित्रण की चित्रपटी बड़ी विशद है और पात्रों को चरित्रनिष्ठ करने के कारण इन उद्देश्य-प्रधान रचनाओं में भी ऐसी गरिमा आ गई है कि वे साहित्य की स्थायी निधियाँ हैं।

प्रेमचंद-श्रेणी की आदर्शोन्मुख सामाजिक रचनाओं में रामनरेश त्रिपाठी की 'लक्ष्मी' (१९२४) श्रीनाथसिंह की 'क्षमा' (१९२५), गंगा-प्रसाद श्रीवास्तव की 'गंगा-जमुनी' (१९२७), भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'मीटी-चुटकी' (१९२७), रामेश्वरप्रसादसिंह की रचना 'मंत्र' (१९२८) आदि काफी महत्त्वपूर्ण हैं। इन रचनाओं में कहीं गार्हस्थ्य-जीवन की विडंबनाओं का चित्रण है, कहीं विवाह-व्यवस्था पर कटाक्ष है, कहीं विधवाओं और वेश्याओं के असहाय-जीवन की गवेषणा है। प्रेमचंद की रचनाओं के समक्ष ये रचनाएँ छोटी अवश्य पड़ती हैं, परंतु फिर भी इनमें तत्कालीन साहित्यिक रुचि पर प्रकाश पड़ता है। प्रेमचंद की सामाजिक रचनाओं के बाद इसी श्रेणी की श्रेष्ठ रचना 'माँ' (१९२९) है। 'माँ' के मनोविज्ञान और ममता के विश्लेषण की दृष्टि से यह रचना अपूर्व है।

इसी समय उपन्यासकारों का एक दल ऐसा भी उठ खड़ा हुआ जो विकृत जीवन के चित्रण को ही कला मानकर चला और जिसने उपन्यास-साहित्य को चकलों, वेश्याओं और स्वच्छन्द प्रेम-विलास से भर दिया। इस क्षेत्र में ऋषभचरण जैन, चतुरसेन शास्त्री और उग्र की रचनाएँ विशेष लोकप्रिय रहीं। ये रचनाएँ कला की दृष्टि से सुन्दर होती हुई भी अपने ही असंयम के कारण अब समय से पीछे पड़ चुकी हैं। ये उपन्यासकार सामाजिक समस्याओं पर सुधारवाद का आवरण नहीं डालना चाहते थे—ये उसे अपने नग्नतम रूप में उपस्थित करने के पक्षपाती थे। फिर भी हृदय की परख (१९१८) व्यभिचार (१९२४), मास्टर साहब (१९२७) चंद हसीनों के खतूत (१९२७), दिल्ली का दलाल (१९२७) और बुधवा की बेटी (१९२८) इस श्रेणी की अन्यतम रचनाएँ हैं।

इन प्राकृतिक कलाकारों के बाद इस क्षेत्र में प्रसाद और जैनेन्द्र का योग ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रसाद के दो उपन्यास ही हमें उपलब्ध हैं। 'कंकाल' (१९२९) और 'तितली' (१९३४)। इनमें पहला

विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने हिंदू समाज के धार्मिक दम्भ और आचार का इतना अच्छा खाका उड़ाया है कि हम चमकृत हो जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि 'कंकाल' का वर्णाश्रम-विरोध और 'तितली' का सहकारी-जीवन का पाठ हिंदी-उपन्यास के लिए एकदम नई चीज नहीं है, परंतु प्रसाद ने अपने उपन्यासों में अपनी भाषा-शैली, अपनी कला-दृष्टि और अपने व्यक्तित्व से पुष्ट हमें जो दिया है, वह उनसे पहले के साहित्य में या तो बिलकुल नहीं, मिलता या आंशिक रूप से मिलता है। जैनेन्द्र ने हिन्दू नारी की वेदनामयी, करुण और अनाधिता स्थिति को मनोवैज्ञानिक और कलात्मक भित्ति देकर उपस्थित किया है। 'परख' (१९३०) में विपथा कट्टो है, 'सुनीता' (१९३६) में विवाह और प्रेम के संघर्ष में रुँधी हुई सुनीता भाभी, 'त्याग पत्र' (१९३७) में सब ओर से उपेक्षिता कुमार्ग पर पैर रखने का हठ करने वाली साहसिक बुआ और 'कल्याणी' में अत्याधुनिक नवीना। यह स्पष्ट है कि आज भी नारी के बंधन दृढ़ हैं और वह अपने मन से लड़कर जीत नहीं पा रही है। इस क्षेत्र में कुछ और भी श्रेष्ठ रचनाएँ हैं—जैसे सियारामशरण गुप्त की रचना 'नारी' (१९३८), गोविंदवल्लभ पन्त की 'जूनिया' (१९३८), भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'दो बहनें' (१९४०) और राधिकारमणप्रसादसिंह की कृति 'पुरुष और नारी' (१९४०)। रचनाओं की यह व्यापकता ही इस क्षेत्र की लोकप्रियता की द्योतक है। हिन्दी के उपन्यास ने सामाजिक दुर्व्यवस्था से होड़ ली है और उसका स्वर कभी भी दुर्बल नहीं रहा है। यह सचमुच गर्व की बात है।

(आ) रस-प्रधान—यह स्पष्ट है कि उद्देश्य-प्रधान उपन्यासकारों की मुख्य प्रेरणा साहित्य नहीं है। उपन्यास-क्षेत्र में साहित्यिक प्रेरणा का प्रथम रूप हमें जगमोहनसिंह के उपन्यास 'श्यामा-स्वप्न' (१८८८) में दिखलाई पड़ता है। यह कादम्बरी-शैली की कलात्मक गद्य-कहानी है। बाद में इस शैली की प्रचुर रचनाएँ किशोरीलाल गोस्वामी ने उपस्थित

की। उनकी इस श्रेणी की प्रमुख रचनाएँ हैं—लवंग लता (१८८६), स्वर्गीय कुसुम (१८८६), प्रणयिनी-परिणय (१८६०), हृदयहारिणी (१८६०), कुसुमकुमारी (१६०१), चपला (१६०३), कनक-कुसुम (१६०३), इन्दुमती (१६०६), मालती-माधव (१६०६) और लीलावती (१६१०)। इस श्रेणी की और भी सैकड़ों रचनाएँ हैं जिन्हें हम प्रेम-रोमांस कह सकते हैं। परंतु इन रचनाओं में न प्रेम का कोई उदात्त पक्ष है, न चरित्र-चित्रण, न मनोविज्ञान। फिर भी धीरे-धीरे इस क्षेत्र में कुछ अच्छी कृतियाँ आने लगीं। इनमें चतुरसेन शास्त्री, बेचन शर्मा 'उग्र', 'निराला', हृदयेश, गोविन्दवल्लभ पंत और वृन्दावनलाल वर्मा की रचनाएँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। कलात्मकता की दृष्टि से इन प्रेम-रोमांसों में उग्र और निराला की रचनाएँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उग्र का 'सरकार तुम्हारी आँखों में' (१६३७) उपन्यास और निराला की रचनाएँ 'अप्सरा' (१६३७), 'अलका' (१६३३) और 'निरुपमा' (१६३६) कहीं-कहीं गीतात्मकता तक पहुँच जाती हैं। परन्तु वैसे प्रेम के विकास का चित्रण हिन्दी के सभी कथाकारों में मिलता है और प्रेमचन्द के 'काया-कल्प' और 'कर्म-भूमि'-जैसे उपन्यासों में इस विषय में बहुत-कुछ मिल जाता है। चतुरसेन शास्त्री ने शरत् के ढंग पर प्रेम-प्रसंगों को लेकर अत्यंत कारुणिक कथा-सृष्टि का प्रयत्न किया, परंतु वे शरत् से बहुत पीछे रह गए हैं। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी-उपन्यास का यह पक्ष उसके गौरव के अनुकूल नहीं है।

(ई) वस्तु-प्रधान—वस्तु-प्रधान उपन्यासों को मनोरंजन की दृष्टि से लिखा जाता है और उनमें घटना-चक्र की प्रधानता रहती है। इस श्रेणी के उपन्यासों का जन्म गोपालराम गहमरी और किशोरीलाल गोस्वामी से होता है। गोपालराम गहमरी के 'चतुर चंचला' (१८६३), 'भानुमती' (१८६४) और 'प्रेमा' (१८६४) इस परम्परा के पहले उपन्यास हैं। उनके कुछ वस्तु प्रधान उपन्यास ऐसे भी हैं जिनमें गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण है जैसे 'प्रबल दीदी' (१६०८) में सौतों के झगड़े और 'देवरानी-जिठानी'

(१६०८) में उनके झगड़ों की कथाएँ हैं। उनके 'दो बहन' (१६०३) और 'तीन पतोहू' (१६०५) उपन्यास भी बड़े रोचक हैं और उनका सम्बंध भी पारिवारिक जीवन से है। किशोरीलाल गोस्वामी का 'पुनर्जन्म' (१६०७) भी सौतिया डाह का चित्रण करता है। यह स्पष्ट है कि अधिकांश वस्तु-प्रधान सामाजिक उपन्यासों में गार्हस्थ्य जीवन का ही चित्रण है, विशेषतः घरेलू झगड़ों का, जिससे यह पता चलता है कि लेखक हिन्दू-कुल के संगठन की ओर से असंतुष्ट है। ये उपन्यास कला की दृष्टि से उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, परन्तु यह निश्चय है कि वह जीवन की वास्तविकता के अधिक निकट हैं और उनसे तत्कालीन गार्हस्थ्य और सामाजिक जीवन के द्वंदों पर अनेक तरह का प्रकाश पड़ता है।

कुछ वस्तु-प्रधान उपन्यासों में असामान्य और कम परिचित जीवन का भी चित्रण है जैसे रामचीजसिंह के 'वनविहंगिनी' (१६०६) उपन्यास में कलि-जीवन की एक रूपरेखा उपस्थित की गई है। कुछ अन्य रचनाओं में तत्कालीन अथवा भविष्यत् राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण है जैसे राधिकारमणप्रसादसिंह के 'तरंग' (१६२१) और राहुल सांकृत्यायन के 'बीसवीं सदी' (१६३७) और 'जीने के लिए' (१६४०) नाम के उपन्यासों में। परन्तु अधिकांश वस्तु-प्रधान उपन्यास अब भी घरेलू जीवन के द्वन्दों पर आधारित हैं। इस क्षेत्र में शिवनाथ शास्त्री का 'मझली बहू' (१६२८) और शंभुदयाल सक्सेना का 'बहूरानी' (१६३०) विशेष उल्लेखनीय है।

(ई) चरित्र-प्रधान – प्राक्-प्रेमचंद युग में चरित्र-प्रधान उपन्यासों का लगभग अभाव है, परन्तु संख्या में कम होने पर भी इस श्रेणी की रचनाओं को हम उपन्यास-कला के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पाते हैं। उन्नीसवीं-शताब्दी के चरित्र-प्रधान उपन्यासों में जगमोहनसिंह का 'श्यामा स्वप्न'(१८८८) अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (१६६६) और प्रथम पुरुष में वर्णित कार्तिकप्रसाद खत्री का 'दीनानाथ' (१८६६) विशेष उल्लेखनीय हैं। लज्जाराम शर्मा के 'धूर्त

रसिकलाल' (१८९९) में हम पहली बार एक यथार्थवादी धूर्त चरित्र की अवतारणा पाते हैं। प्रेमचंद से पहले वे उपन्यासों में ब्रजनन्दनसहाय का 'अद्भुत प्रायश्चित्त' (१९०६), और राधाकांत (१९१२), नवलराम का 'प्रेम' (१९०७) तथा सकलनारायण पाडेय का 'अपराजिता' (१९०७) इस परम्परा की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। मन्नन द्विवेदी के 'रामलाल' (१९१७) और कल्याणी (१९२१) की भी गणना इस श्रेणी के उपन्यासों में की जा सकती है। इन उपन्यासों में हमें पात्रों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं मिलता, परन्तु फिर भी अनेक सफल रेखाचित्र मिल जाते हैं। प्रेमचंद के 'सेवा सदन' (१९१८) ने चरित्र-प्रधान उपन्यासों की परम्परा को विशेष बल दिया।

परन्तु प्रेमचन्द की चारित्रिक प्रतिभा का विशेष विकास हमें 'रंगभूमि' (१९२५) में ही मिलता है। वस्तुतः 'रंगभूमि' से पहले की उनकी रचनाएँ उद्देश्य-प्रधान ही अधिक है, प्रेम-प्रधान नहीं। 'रंगभूमि' में सोफिया, विनय, रानी जाह्नवी, सूरदास और अनेकानेक चरित्रनिष्ठ ग्रामीण और नागरिक पात्रों के द्वारा उन्होंने कथा वस्तु को अपूर्व कौशल के साथ संगठित किया। पात्रों की मनोवृत्तियों के विश्लेषण में प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम' (१९२२) में ही सफल हो चुके थे—'ज्ञानशंकर' उदाहरण है—परन्तु 'रंगभूमि' में वे इस दिशा में और भी कलापूर्ण ढंग से आगे बढ़े हैं। विनोदशंकर व्यास का 'अशान्त' (१९२७), यदुनंदनप्रसाद का 'अपराधी' (१९२८) और प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विदा' (१९२८) भी इसी कोटि में रखे जा सकते हैं। जैनेन्द्र की पहली रचना 'परख' (१९३०) में ही हम उन्हें मनोवैज्ञानिक चरित्र-विकास के उच्च सोपान पर खड़ा पाते हैं। 'तपोभूमि' (१९३२), सुनीता (१९३६) आदि में उनकी इस प्रतिभा का और भी अधिक विकास हुआ है। विशुद्ध चरित्र-प्रधान उपन्यास-कला की दृष्टि से प्रेमचन्द का 'गबन' (१९३०) कदाचित् इस श्रेणी की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ है। इसमें लेखक ने अपना आदर्शवादी आवरण उतार फेंका है और सब तरह

से दुर्बल और चरित्र-भ्रष्ट रमानाथ को कथा का नायकत्व प्रदान किया है। समसामयिक उपन्यास-साहित्य में इस श्रेणी के उपन्यासों का विशेष महत्त्व है। जहाँ एक ओर इलाचन्द्र जोशी के 'संन्यासी' (१९४१) तथा 'पर्दे की रानी' (१९४६) में मनोवैज्ञानिक रोमांस का विकास मिलता है, वहाँ स०ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय' के 'शेखर' (१९४१—४८ तीन भाग) में नायक के जीवन का संपूर्ण और सागोपांग अध्ययन है।

२—राष्ट्रीय प्रेरणा हिन्दी के उपन्यासों में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ के साथ आई। प्रारंभिक राष्ट्रीय उपन्यासों में हरस्वरूप पाठक का 'भारत माता' (१९१५) महत्त्वपूर्ण है। परन्तु व्यापक रूप से राष्ट्रीय समस्याओं का परिचय हम 'प्रेमाश्रम' (१९२२) में ही पाते हैं। वस्तुतः प्रेमचन्द के 'रंगभूमि' (१९२४) के प्रकाशन से पहले समसामयिक इतिहास और राजनीति को कथा-साहित्य में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिला था। प्रेमचन्द ने ही पहले-पहल सामयिक और राष्ट्रीय समस्याओं को इतिहास का विषय बनाया और यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वे अपने क्षेत्र में बराबर सफल रहे हैं। प्रेमचन्द के कई उपन्यास सामयिक जीवन और इतिहास से संबंध रखते हैं। 'रंगभूमि' (१९२४), कायाकल्प (१९२६), कर्मभूमि (१९३२) और गोदान (१९३६), प्रेमचन्द के साहित्य की गौरव-मणि हैं। इन उपन्यासों में जिस देश-भक्ति, जिस औपन्यासिक साहस और जिस ऐतिहासिक दृष्टि के दर्शन होते हैं। वह अद्भुत है। प्रेमचन्द के उपन्यास निश्चय ही एक नई श्रेणी के उपन्यास हैं। वे जहाँ चारित्रिक उपन्यास हैं, वहाँ सामयिक जीवन के इतिहास भी हैं। उन्हें हम साधारण ऐतिहासिक उपन्यास की श्रेणी में नहीं रख सकते। प्रेमचन्द के बाद के इस श्रेणी के उपन्यासों में 'दादा कामरेड' (१९४०), अमृतलाल नागर का 'महाकाल' (१९४६) और भगवतीचरण वर्मा का 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' (१९४८) प्रमुख हैं।

३—राष्ट्रीय प्रेरणा का सबसे सुन्दर रूप ऐतिहासिक उपन्यासों में मिलेगा। अधिकांश प्रारंभिक ऐतिहासिक उपन्यास प्रेम-रोमांस थे।

हिन्दी में ऐतिहासिक चेतना का आरम्भ भारतेन्दु के 'नीलदेवी' नाटक (१८८१ ई०) से हुआ, परन्तु इतिहास के क्षेत्र में यह चेतना बहुत बाद में आई। किशोरीलाल गोस्वामी के कुछ उपन्यास आंशिक रूप से ऐतिहासिक अवश्य हैं परन्तु शुद्ध ऐतिहासिक चेतना का उनमें नितांत अभाव है। वह प्रेम रोमांस ही अधिक है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्कॉट और बंकिम की ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा को हिंदी ने उसके शुद्ध रूप में नहीं अपनाया। प्राक् प्रेमचन्द युग में कुछ ऐतिहासिक उपन्यास अवश्य आये जैसे-नूरजहाँ (गंगाप्रसाद गुप्त, १९०२), पृथ्वीराज चौहान और पानीपत (बलदेवप्रसाद मिश्र, १९०२) कुमारसिंह सेनापति (गंगाप्रसाद गुप्त, १९०३), हम्मीर (गंगाप्रसाद गुप्त, १९०४), पंजाब-पतन (श्यामसुन्दर वैद्य, १९०४), चाँदबीबी (जयरामदास गुप्त, १९०७), अनंगपाल (दुर्गाप्रसाद खत्री, १९१७) और चौहानी तलवार (हरिदास माणिक, १९१९)। इन उपन्यासों में राजपूत युग से लेकर मुगलों के पतन तक का सारा इतिहास आ जाता है। कला की दृष्टि से ये उपन्यास अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, परन्तु उपन्यास-लेखक की एक विशेष कोटि को उन्होंने अवश्य आगे बढ़ाया है। ऐतिहासिक उपन्यासों की कोटि में विशिष्ट रचनाएँ १९३० के बाद ही आई हैं। इनमें कुछ विशुद्ध रूप से ऐतिहासिक हैं और कुछ में केवल इतिहास की पृष्ठभूमि का उपयोग किया गया है। विशुद्ध ऐतिहासिक रचनाओं में वृन्दावनलाल वर्मा की रचनाएँ प्रमुख हैं। वैसे उनके कई उपन्यास हैं, परन्तु गढ़कुण्डार (१९३४), विराटा की पद्मिनी (१९३६), झाँसी की रानी (१९४६) और मृगनयनी (१९४९) विशेष उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासों में बुन्देलखंड के गौरव, उसके इतिहास, उसके प्रकृति-वैभव, उसके जन-मन का सम्पूर्ण विस्तार कला-सुषमा के साथ चित्रित किया गया है। ये उपन्यास हिन्दी की श्रेष्ठतम निधि हैं और भारतीय भाषाओं में भी इनकी टक्कर की रचनाएँ कदाचित् ही मिलें। वर्माजी बुन्देलखंड-प्रदेश के इन पर्वतों और नदी-

नालों से इतने परिचित हैं कि हमें आश्चर्य होता है। उनकी कलम में प्रेमचन्द-जैसा प्रवाह नहीं है और न वे उनकी भाँति महा मानवों और दुर्बलता-भरे सामाजिकों की सृष्टि कर सके हैं। उनकी कला में भी आधुनिक भंगिमाएँ नहीं हैं, परन्तु ये राजपूत-काल और अंग्रेजी काल के शौर्य, प्रेम और बलिदान को पूर्ण रूप से प्रस्फुटित कर सके हैं। कुछ ऐसे उपन्यास भी हैं, जिनमें केवल ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उपयोग किया गया है। भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' (१९३४) और राहुल सांकृत्यायन का 'सिंह सेनापति' (१९४६) इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं। प्रसाद का ऐतिहासिक उपन्यास 'इरावती' इन सब ऐतिहासिक उपन्यासों से भिन्न अपनी ही श्रेणी का उपन्यास है। इस उपन्यास में उन्होंने शुंग वंश की पृष्ठभूमि में अपने आनन्दवादी दर्शन को स्थायित्व देना चाहा था। और भी कुछ श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास हमारे सामने हैं, परन्तु अभी कदाचित् हम इस कोटि की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं का निर्माण नहीं कर सके हैं। अभी हम टालस्टाय की 'युद्ध और शान्ति'-जैसी कोई भी बृहत् ऐतिहासिक रचना विश्व-साहित्य को नहीं दे सके हैं। फिर भी रामदास वंद्योपाध्याय और कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी के बँगला-गुजराती ऐतिहासिक उपन्यासों के सामने हिन्दी का ऐतिहासिक उपन्यास-साहित्य एकदम लज्जित नहीं हो सकेगा। कम-से-कम वृन्दावनलाल वर्मा की आधी दर्जन श्रेष्ठ रचनाएँ तो हमारे पास हैं ही, यही क्या कम है।

ऐयारी तिलिस्मी उपन्यास

हिन्दी में ऐयारी-तिलिस्मी उपन्यासों की परम्परा कदाचित् उर्दू के इसी श्रेणी के उपन्यासों के प्रभाव से चली। इस परम्परा का आरम्भ देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास (१८९२) से होता है। बाद में उन्होंने इस कथा की परम्परा को 'चन्द्रकान्ता संतति' (१८८६) में १४ भागों और भूतनाथ (१९०६-१२) के १६ भागों में विकसित किया है। तीनों बृहत् ग्रंथों को एक साथ लें तो कथा का ताना-बाना इतना ऐन्द्रजालिक हो जाता है कि बुद्धि

चमत्कृत हो उठती है। इन रचनाओं में हमें खत्री जी की मौलिक घटना-संकलन-प्रतिभा का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारी प्रेरणा के स्रोत उर्दू के 'बोस्ताने ख्याल', 'दोस्ताने अमीर हम्जा', 'उमरन ऐयार','तिलिस्मे होशरुबा' आदि रचनाएँ हैं जो उस समय बड़ी लोकप्रिय थीं। जान पड़ता है, खत्री जी इन रचनाओं से पूर्णतया परिचित थे और उन्होंने इसी रास्ते चलकर अपनी मौलिक प्रतिभा की एक अत्यन्त अभिनव सृष्टि उपस्थित की। 'नरेन्द्र मोहिनी' (१८९९), 'कुसुम कुमारी' (१८९९-१९००) और 'वीरेन्द्र वीर' (१८९८) देवकीनन्दन खत्री की अन्य रचनाएँ हैं, परन्तु वे 'चन्द्रकान्ता-संतति' और 'भूतनाथ'-जैसी उत्कृष्ट नहीं हैं। ये रचनाएँ प्राचीन राजपूतों के शौर्य और प्रेम की कहानियों से बहुत भिन्न नहीं हैं। कोई राजकुमारी से प्रेम करता है। प्रतिनायक उसकी आकाङ्क्षाओं में बाधक होता है। दोनों ओर के ऐयार प्राचीन सामन्तों की भाँति भाँति-भाँति के खेल खेलते हैं, अनेक दाँव-पेंच चले जाते हैं। ऐयारों और जासूसों के एक-से-एक बड़े हथकंडे देखने को मिलते हैं। अन्त में राजकुमारी प्रतिनायक के ऐयारों की भूल से किसी तिलिस्म में फँस जाती है। तिलिस्म की दुनिया ही दूसरी है। ऐसे-ऐसे दृश्य सामने आते हैं कि हम आश्चर्य-चकित हो जाते हैं, आँखें चौंधिया जाती हैं। रत्नों के अपार भाण्डार और तिलिस्मी अस्त्र-शस्त्रों की चमत्कारक विशेषताएँ। धीरे-धीरे कथानक इतना जटिल हो जाता है कि पाठक की उत्सुकता पृष्ठ-पृष्ठ पर मचलने लगती है। देवकीनन्दन खत्री के ऐयारी उपन्यासों की विशेषता यह है कि उनका कथा-सौष्ठव अद्भुत है। तिलिस्म, ऐयारी, प्रेम, घृणा और साहस के सूत्रों को इतनी सफलता से एक स्थान पर एक सूत्र में गूँथ दिया गया है कि उनकी निर्मात्री प्रतिभा पर आश्चर्य होने लगता है। एक प्रकार से इन ऐयारी और तिलिस्मी उपन्यासों को प्रेम-रोमांस भी कह सकते हैं। 'चन्द्रकान्ता' में कुमार वीरेन्द्र और चन्द्रकान्ता का प्रेम किसी भी बाधा-बंधन को स्वीकार नहीं करता। यद्यपि इस उपन्यास में मानवी चरित्र-चित्रण और भावों की विशद

व्याख्या नहीं है, तथापि यह निश्चित है कि सारी रचना इन दो कोमल हृदयों के प्रेम-बंधन की सुदृढ़ नींव पर आश्रित है। ऐयारी के दाँव-पेंच, प्रतिनायक का खलत्व और तिलिस्मी जीवन के कष्ट इन प्रेम-बंधनों को तोड़ने में असमर्थ हैं।

पूर्व प्रेमचन्द-युग में इन उपन्यासों का खूब प्रचार हुआ—यहाँ तक कि कभी-कभी अन्य कोटियों के उपन्यासों में भी ऐयार और तिलिस्म दिखलाई पड़ने लगे। एक तरह से इस सारे युग की जन-शक्ति अतिप्राकृत की ओर थी। वास्तविक जीवन के चित्रण की परम्परा प्रेमचन्द से ही आरम्भ हुई, यद्यपि उनके 'कायाकल्प' उपन्यास में अतिप्राकृत को प्रवेश मिल ही गया है। युग की इस महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति से बचना सचमुच कठिन था। और भी अनेक लेखक हमारे सामने आते हैं जैसे जैनेन्द्रकिशोर, हरिकृष्ण जौहर, बालमुकुन्द वर्मा, मदनमोहन पाठक, किशोरीलाल गोस्वामी और रामलाल वर्मा, परंतु इन सभी लेखकों की रचनाओं का प्रतिनिधित्व देवकीनंदन खत्री की रचनाओं द्वारा ही होता है, यद्यपि उनकी रचनाएँ अब भी लाखों पाठकों के मनोरंजन का विषय हैं। १९१८ ई० के बाद इन रचनाओं में पिष्टपेषण की मात्रा अधिक है और उन्हें वह साहित्यिक महत्ता नहीं प्राप्त है। प्रेमचंद और उनके सामाजिक उपन्यासकारों ने जन-रुचि का परिमार्जन किया और उसे प्राकृतिक जीवन के कलापूर्ण चित्रण की ओर उन्मुख किया।

जासूसी उपन्यास

हिन्दी में जासूसी उपन्यासों का आरम्भ गोपालराम गहमरी से होता है। जिस प्रकार पिछली कोटि के उपन्यासों में देवकीनंदन खत्री को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है, उसी प्रकार जासूसी उपन्यासकारों में भी वे केन्द्र में प्रतिष्ठित हैं। उनके उपन्यासों की संख्या ५०–६० के लगभग है और उनका रचना-काल १९०९ से १९१४–१५ तक चला जाता है। इसके बाद भी उनकी कुछ रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। गहमरीजी के उपन्यासों में साहित्य की छटा अधिक नहीं है। उन पर इस

कोटि के अंग्रेजी उपन्यासों—विशेषतः कोमनडायल की शरलाकहोम्स कहानियों का प्रभाव सबसे अधिक है। बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में इस प्रकार की कुतूहल-जनक रचनाओं की बड़ी माँग थी और इस युग के जासूसी उपन्यासों ने इस माँग की ही पूर्ति की। प्रेमचन्द के अवतरण के साथ मनोवैज्ञानिक और चरित्र-प्रधान उपन्यासों का युग आया। सभी श्रेणियों की जनता की रुचि का परिष्कार तो असंभव था, परन्तु पढ़े-लिखे लोगों में पश्चिमी उपन्यास के ढंग की रचनाएँ विशेष लोकप्रिय होने लगीं और अतिप्राकृत घटनाओं की ओर से इस वर्ग की रुचि उठने लगी।

परन्तु इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के विकास-क्रम के अध्ययन के लिए सभी प्रकार की रचनाओं का परिचय आवश्यक है। ऐयारी-तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों और सस्ते प्रेम रोमांसों को हम कलापूर्ण उपन्यासों के विकास का प्रथम सोपान कह सकते हैं। इनके बाद उद्देश्यपूर्ण सामाजिक उपन्यास आते हैं, जिनमें प्रचार-भावना का बाहुल्य होता है। धीरे-धीरे प्रचार-भावना कम होती जाती है और चरित्र-प्रधान एवं मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का युग आता है। जैसा हमने पहले बताया है हिन्दी में यह युग प्रेमचन्द के 'सेवा सदन' (१९१८) के प्रकाशन से आरम्भ होता है। प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यास आदर्श-वादी हैं। उन्होंने मानव-चरित्र के कालिमापूर्ण पक्ष को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। उन्होंने स्वयं अपने कलात्मक दृष्टिकोण को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहा है। परन्तु 'गोदान' (१९३६) में आदर्श की भित्ति बहुत-कुछ हिल उठी है और हम उन्हें विशुद्ध यथार्थवाद की भूमि पर खड़ा पाते हैं। पिछले १४-१५ वर्षों में उपन्यास में यथार्थवाद की ओर विशेष आग्रह मिलता है। जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, रांगेय राघव और अन्य कितने ही उपन्यासकारों की इधर की रचनाओं में जीवन के वास्तविक चित्रों को ही उभारा गया है और क्षुद्रों, उपेक्षितों एवं पीड़ितों को ही उपन्यासकार ने अपनी अन्यतम समवेदना दी है। यह तो निश्चित है

कि प्रेमचन्द के बाद कोई ऐसा कृती कलाकार सामने नहीं आया है जिसकी रचनाओं को युग की मान्यता प्राप्त हो, परन्तु अज्ञेय, अश्क, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव, इलाचंद जोशी, धर्मवीर भारती आदि अनेक उपन्यासकारों के कलात्मक प्रयोग हमें प्राप्त हैं। कालांतर में इन्हीं प्रयोगों के क्षेत्र में से युग की प्रतिनिधि रचनाओं का जन्म होगा, इसमें किंचित्-मात्र भी संदेह नहीं है। आज का गतिरोध पूर्व परम्परा से विच्छिन्नता का सूचक है। यह प्रयोगों का युग है। परन्तु हिन्दी-उपन्यास की भावी दिशा की भी पूर्व सूचना कुछ रचनाओं में मिल जाती है। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी-उपन्यास का अतीत उज्ज्वल रहा है, परन्तु उसका भविष्य और भी उज्ज्वल है। अज्ञेय का 'शेखर', जैनेन्द्र की परवर्ती रचनाएँ 'कल्याणी', 'त्यागपत्र' और 'सुखदा', डॉ० देवराज का 'पथ की खोज', भगवतीचरण वर्मा का 'आखिरी दाँव' और अन्य रचनाएँ भविष्य की ओर महत्त्वपूर्ण इंगित हैं।

इसमें संदेह नहीं कि आज उपन्यास का उद्देश्य बदल गया है और उसके रूप-संविधान में भी पृथ्वी-आकाश का अंतर हो गया है। श्रीनिवासदास से प्रेमचन्द तक हिन्दी-उपन्यास के विकास की एक कड़ी समाप्त हो जाती है। इन उपन्यासकारों में कथावस्तु की धारावाहिक गति सुरक्षित है और पात्रों का कर्तृत्व घात-प्रतिघात और घटनाओं की योजना से विकसित होता है। ऐयारी-तिलिस्मी उपन्यासों और उपदेशात्मक नीति-कथाओं से होकर हिन्दी-उपन्यास की सामाजिक धारा का विकास होता है और १९१६ में 'सेवा सदन' के प्रकाशन के साथ हम चारित्रिक उपन्यासों के नये युग में आते हैं। उपन्यास सामाजिक सुधारवाद और राष्ट्रीयता का उन्नायक बन जाता है। फिर भी इस युग के उपन्यासों में चारित्रिक उलझनें नहीं मिलतीं और कथावस्तु और चरित्र-चित्रण में ऐसा संतुलन चलता है कि उपन्यास का रूप विशृङ्खलित नहीं हो जाता। जैनेन्द्र के उपन्यासों में हम पहली बार उपन्यास की कथावस्तु की धारावाहिकता पर आघात देखते हैं। बाहर का कर्तृत्व भीतर के

कर्तृत्व में बदल जाता है। उपन्यासकार की चित्रपटी पात्र या पात्रों के अंतर्मन मे उतर आती है और वह तर्क-वितर्क, पुण्य-पाप, नीति-अनीति के झूले में झूलता हुआ लगभग निष्क्रिय हो जाता है। उसके चरित्र का विस्फोट ऐसे वेगवान और अस्वाभाविक रूप में हमारे सामने आता है कि हम आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। जान पड़ता है कथा के पात्र ह्रासोन्मुखी संस्कृति के प्रतीक हैं और कर्तृत्व का स्थान वाद-विवाद और निरर्थक मानसिक उधेड़-बुन को दे देना चाहते हैं। इंगलैंड मे हेमरी जैन्स के उपन्यासों में हमें पहली बार इस प्रकार की औपन्यासिकता का आभास मिलता है। माँग यह है कि उपन्यासकार जीवन के प्रति सच्चा है। परंतु जीवन के दो पक्ष है। बाह्य जीवन के प्रति उपन्यासकार की वस्तून्मुखी दृष्टि आनर्ल्ड बेनकट की कला को जन्म देती है जिसने नगरों के गलियारों, भवनों और नागरिकों के जीवन का सूचीबद्ध सूक्ष्म वर्णन उपस्थित किया है। परन्तु पात्रों के भीतर का जीवन भी तो जीवन है और इस क्षेत्र में सूक्ष्म मनःविश्लेषण की प्रवृत्ति अंतश्चेतनावादी रचनाओं को जन्म देती है। ज्वाइस और वरजीनिया वूल्फ की रचनाएँ इसी कोटि में आती हैं और अज्ञेय का 'शेखर' हिंदी मे इसी कला का प्रतीक है। उपन्यास के क्षेत्र में एक दूसरी धारा यौन मनोविज्ञान को लेकर चलती है और भगवतीप्रसाद वाजपेयी और इलाचन्द्र जोशी की रचनाओं में इस धारा का हिंदी रूप हमें दिखलाई देता है। जैनेन्द्रकुमार की रचनाओं में भी 'सेक्स' है, परंतु वह उनके विशिष्ट दार्शनिक सुधारवादी जीवन-दर्शन का अंग बनकर आता है। वाजपेयी और जोशी की रचनाएँ यौन मनोविज्ञान के तथ्यों को लेकर चलती हैं। पहाड़ी की रचनाएँ भी इसी कोटि की होती हैं। उनमें अस्वस्थ मनोविकारों और दमित यौनेच्छाओं के स्मृति-चित्र हैं और अधिकाश रचनाएँ या तो अस्पतालों से शुरू होती हैं या उनमें जाकर समाप्त होती हैं। डॉ० देवराज के 'पथ की खोज' में भी इसी अस्वस्थ यौन दृष्टि का विस्तार है। मनोविज्ञान के नाम पर किसी अस्वस्थ सामाजिक वृ[illegible] साहित्य का रूप देना साहित्य-संस्कार पर आघात करना

है, परन्तु नया कलाकार आत्मनिष्ठ होने के कारण अपनी क्षुद्र प्रवृत्तियों से बाहर के विस्तृत संसार को देखना ही नहीं चाहता। वह मकड़ी की भाँति अपने भीतर से ही अपने बंधनों का विकास करता है और उसकी रोगिणी दृष्टि साहित्य को दुर्बल मनस्तत्त्व से भर देती है। कलाकार का यह विशृङ्खलित और असंतुलित दृष्टिकोण साहित्य को किसी अमर कृति का दान ऊपर देगा, ऐसी आशा नहीं है, परंतु पिछले कुछ वर्ष प्रयोगों, विद्रोहों और वैयक्तिक अनुसंधानों के युग हैं। आधुनिक उपन्यास को इनसे उठना है।

(४) कहानी

आधुनिक कहानी भी पश्चिमी प्रेरणा की उपज है, यद्यपि भारतवर्ष प्रागैतिहासिक काल से कहानियों का जन्म-प्रदेश रहा है और ऋग्वेद की सरमा-मणि, दिवोदास, सोम-विक्रेता आदि कहानियों से लेकर १० वीं शताब्दी की गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' और 'कथा सरित्सागर' तक आख्यान, कहानी, कथा, गाथा, कादम्बरी (उपन्यास) के रूप में गद्य-पद्य में बहुत लिखा जा चुका है। मध्ययुग के आख्यानक काव्यों और चरित्र-काव्यों में कहानी के सभी अंग पूर्ण विकसित रूप में मिल जाते हैं। १७ वीं-१८ वीं शताब्दी में साहित्य-क्षेत्र में गद्य-पद्यात्मक कहानी की परम्परा समाप्त हो जाती है, परन्तु लोक-कथा के रूप में कहानी फिर भी चलती रहती है। हमारी सभी जनपदीय भाषाओं में लोक-कथाओं की एक बड़ी लंबी परम्परा चली आती है जिसका अभी केवल अंश-मात्र आलेखित हो सका है। रामायण, महाभारत, अष्टदश पुराण और नीति-ग्रंथ (पंचतंत्र, हितोपदेश आदि) भारतवर्ष की कथा-प्रवृत्ति के ज्वलंत प्रमाण हैं। उन्हें एक तरह से कथा-कोष ही कहना ठीक होगा। इस सारे साहित्य को हम किसी एक केन्द्र पर नहीं ला सकते। प्राचीन कथा में मनोरंजन और असंभाव्य के तत्त्व बहुत अधिक मात्रा में रहते हैं, परन्तु साथ ही नीति, उपदेशों, सिद्धांत-व्याख्या, व्यंग और विनोद के लिए भी उसका उपयोग हुआ है। विद्वानों का कहना है कि १०वीं-११वीं शताब्दी में भारत की कहानियाँ ईरान में गईं और वहाँ 'अलिफ लैला',

'कलेला दमन' प्रभृति रचनाओं के रूप में उन्हें लोकप्रियता प्राप्त हुई। इन कहानियों ने परवर्ती युग में यूरोप की कथा-प्रवृत्ति को उत्तेजित किया और इटली में बकेसियो और सरवेण्टिस की कहानियों के रूप में हमें आधुनिक कहानी-कला का पहला पश्चिमी रूप दिखलाई देता है।

परन्तु १३ वीं शताब्दी के बाद यूरोप में भी कथा का विकास पद्यात्मक रचनाओं, कथा-काव्यों, नाटकों और उपन्यासों के माध्यम से ही हुआ। आधुनिक परिभाषा में जिसे कहानी कहते हैं उसका जन्म १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के प्रारंभ में ही हुआ। बनिअन की 'पिलग्रम्स प्रॉग्रेस' (१६७८) और 'द लाइफ एंड डेथ आफ मि० बेडमेन' में हम भारतीय रूपकात्मक कथा का वह रूप देखते हैं जो 'प्रबोध चंद्रोदय' नाटक में दिखलाई पड़ता है। इसके बाद डेनिअल डिफ्सो के रोमांटिक आख्यान आते हैं जिनमें 'रॉबिन्सन क्रूसो' (१७१६) विशेष महत्त्वपूर्ण है। चरित्रनिष्ठ उपन्यास का जन्म सेमुअल रिचर्डसन (१६८६-१७६१) से होता है और १६वीं शताब्दी में जेन आष्टिन, सर वाल्टर स्कॉट, चार्ल्स डिकेन्स, थेकरे, जार्ज इलियट, ब्रांटी, मेरिडेथ और हार्डी की रचनाएँ हमें प्राप्त होती है। इन उपन्यासकारों ने बृहद् उपन्यासों के साथ-साथ कुछ लघु आख्यान भी लिखे, परन्तु कहानी की कला उनके द्वारा अधिक विकसित नहीं हुई। अंग्रेजी कहानी-कला के विकास में आस्कर वाइल्ड, गाल्सवर्दी, वेल्स और किपलिंग का प्रमुख हाथ है। इन कलाकारों ने कहानी को विशिष्ट कला का रूप दिया। परन्तु कहानी के विकास में फ्रांस और रूस ने विशेष योग दिया और फ्लावर्ट, मोपासाँ, तुर्गनेव, चेखव, तोल्सताय और गोर्की को हम इस क्षेत्र में अग्रणी पाते हैं।

भारतवर्ष में आधुनिक कहानी का जन्म कथात्मक निबंधों, पत्रों, रोमांटिक आख्यानों और पश्चिमी कहानियों के अनुकरण से हुआ। इस क्षेत्र में प्रभातकुमार मुखोपाध्याय और रवीन्द्रनाथ ने हमें जो दिया था, वह काव्य के क्षेत्र में उनकी रचनाओं से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पश्चिमी

कहानीकारों से उनकी कला में उपादानों, उपकरणों और संविधान का महान् अंतर है। उनमें कवि की भावुकता और कलाकार की अंतर्दृष्टि का ऐसा अद्भुत समन्वय है कि मन मुग्ध रह जाता है। सामान्य जीवन को कवि की भावुकता और रहस्य-रंजिता असामान्य बना देती है और काव्य-कला और कल्पना से विजड़ित वह खंड-चित्र सदैव के लिए मन में जाता है। पात्रों और परिस्थितियों का ऐसा सुन्दर गुम्फन कदाचित् किसी पश्चिमी कहानी में भी नहीं मिलेगा।

परंतु जैसा हम कह चुके हैं, हिंदी-कहानी की एक पूर्व परम्परा भी थी और इसके प्रारम्भिक विकास में उस पूर्व परम्परा का योग-दान उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना नवीन प्रभावों और मौलिक योजनाओं का। उन्नीसवीं शताब्दी के हिंदी-साहित्य में कहानी नाम की चीज नहीं थी। परंतु 'स्वप्न', 'माया', 'ललित निबंध', नाटकीय वार्तालाप और मंच के रूप में बहुत-कुछ रोचक सामग्री ऐसी थी जिनमें कहानी के अनेक विकसित अंग विद्यमान थे। हिंदी-कहानी के जनक हैं :

१—हिंदी आख्यानक-काव्य, जैसे पदुमावत।

२—लोक-कथाएँ, जैसे बैताल-पच्चीसी और सिंहासन-बत्तीसी।

३—१९ वीं शताब्दी के ऐसे ललित निबन्ध, जिनमें कथा के तत्त्वों की प्रधानता थी।

४—वास्तविक और काल्पनिक कथाएँ।

५—स्वप्न (Dream Fantasies)।

बाद में 'सरस्वती' (१९०३-०६) में ये प्रवृत्तियाँ उस विशिष्ट कला-रूप में जड़ीभूत हुईं जिसे 'कहानी' कहा जाता है। 'सरस्वती' (१९००), 'इंदु' (१९११) और 'माधुरी' (१९२३) ने कहानी-कला के प्रारम्भिक विकास में विशेष रूप से भाग लिया है। उन्नीसवीं शताब्दी के कला-रूपों में 'जमपुर की यात्रा' ('सारसुधानिधि' जून १४, १८८०), एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न (भारतेन्दु) और राजा भोज का सपना (शिवप्रसाद) विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। ललित निबन्धों के क्षेत्रों में अनेक ऐसे मिलेंगे

जिन्हें हम कहानी का पूर्व-रूप कहें। १९०० ई० में काशी से दो पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं—'सरस्वती' और 'सुदर्शन' इनमें सुदर्शन कहानी छापने में प्रथम था। पंडित माधवप्रसाद की सात कहानियाँ इसमें प्रकाशित हुईं। ये कहानियाँ 'आख्यायिका सप्तक' (१९१९) के नाम से प्रकाशित हुईं। ये कहानियाँ हैं दया का फल, दयालु मिथिलेश, विश्वास का फल, सत्य का फल, पितृ-भक्ति का फल, लड़की की बहादुरी और मन की चंचलता। अंतिम ही प्रथम रचना है। १९०३ में जब 'सरस्वती' में पहली कहानियाँ प्रकाशित हुईं 'सुदर्शन' बंद हो चुका था। इन कहानियों में हम उपदेश-तत्त्व की प्रधानता पाते हैं। शीर्षकों से ही कहानियों के बीज तत्त्व सूचित हो जाते हैं। कला की दृष्टि उनमें नहीं मिलती।

'सरस्वती' में जो कहानियाँ प्रकाशित हुईं उनमें विविधता की मात्रा अधिक थी और मनोरंजकता के साथ उनमें कला पक्ष पर भी ध्यान दिया गया था। शेक्सपियर के कई नाटकों के कथानक कहानी के रूप में उपस्थित किये गए। सिम्देलिन, टाइमन आफ ऐथेन्स पेरिक्लस और टेम्पेस्ट के कथा-रूप हमें मिलते हैं। कहीं-कहीं कथानकों पर नया रंग चढ़ाया गया है। संस्कृत-नाटकों को भी कहानी का स्रोत बनाया गया और रत्नावली, मालविकाग्निमित्र, कादम्बरी इत्यादि अनेकानेक नाटकों के कथानक संक्षिप्त होकर सामने आये। साथ ही बंगला-कहानी की ओर भी हिंदी-लेखकों का ध्यान गया। पार्वतीनंदन और बंगमहिला ने अनेक बंगाली कहानियों के अनुवाद 'सरस्वती' के पृष्ठों पर दिये।

कहानियों के विषय के लिए लेखकों ने अपने चारों ओर भी देखा। प्रारम्भ में उनकी दृष्टि नाटकों और उपन्यासों पर ही केन्द्रित रही, परंतु बाद में वे यह जान गए कि सीधे जीवन से कथा की सामग्री प्राप्त करना कहीं अधिक सरल है। वास्तविक जीवन के इस स्पर्श ने ही यथार्थवादी कहानी का सूत्रपात किया। कदाचित् मई १९०७ में 'सरस्वती' में प्रकाशित 'दुलाई वाली' पहली यथार्थवादी कहानी है। कहानी का एक अन्य स्रोत भी था—कल्पना और कला-सज्जा। जयशंकरप्रसाद ने ऐसी कहानिय

का आरम्भ किया। १६११ ई० में 'इंदु' में उनकी पहली कहानी प्रकाशित हुई। आदर्शवादी, प्रेमाख्यानक और काल्पनिक सूत्रों पर आश्रित भावुकता-प्रधान कहानियों के क्षेत्र में वे सचमुच अद्वितीय हैं। प्रसाद के साहित्य में कलात्मक कहानियों के दर्शन हमें पहली बार होते हैं। उनकी 'छाया' संग्रह की कहानियाँ हल्के प्रेम-रोमास हैं, जो हमें हठात् मध्य-युगीन प्रेम-रोमांसों की याद दिलाते हैं। 'आकाशदीप' में उनकी कला पहली बार निखरी है। उनकी सबसे सुन्दर कहानियाँ कदाचित् उनके अंतिम संग्रह 'इन्द्रजाल' में सुरक्षित हैं। उनमें प्रेम, रोमांस, इतिहास और यथार्थ जीवन का काव्यात्मक, वातावरण-प्रधान, कलापुष्ट निरूपण मिलेगा।

१६१६ में प्रेमचंद ने कहानी-क्षेत्र में प्रवेश किया। उसी वर्ष जून की 'सरस्वती' में 'पंच परमेश्वर' नाम की उनकी एक कहानी प्रकाशित हुई। शीर्षक द्विवेदी जी ने स्वयं दिया था। प्रेमचंद की कहानियों ने आदर्शवादी कथा-परंपरा को आगे बढ़ाया। उनकी कला में रवीन्द्र औ तोलस्ताय का बड़ा सुन्दर सम्मिश्रण था। उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि उन्होंने कहानी की कला रविबाबू से ही सीखी। इसमें संदेह नहीं कि चरित्रनिष्ठ कहानी पहले-पहल प्रेमचंद ने ही हमें दी। १६१६-२५ में कहानी-कला का मासिक पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठों में बड़ी तीव्रता से विकास हुआ। १६३६ तक प्रेमचंद और प्रसाद ही इस क्षेत्र में अग्रणी रहे यद्यपि १६२८ के लगभग नई शक्तियों ने कथा-क्षेत्र में प्रवेश कर लिया था और बाद में यह नई धारा ही विशेष विकास को प्राप्त हुई।

प्रेमचंद की कहानियाँ मध्यवित्त, राष्ट्रीय आन्दोलन और ग्रामीण समाज से सम्बन्धित हैं। रवीन्द्रनाथ की कहानियों की अपेक्षा उनकी कहानियों की चित्रपटी अधिक विस्तृत है। वैसे इन दोनों श्रेष्ठ कलाकारों की कहानियाँ आदर्शोन्मुखी ही हैं। परंतु रवीन्द्रनाथ का आदर्शवाद कवित्व के स्फुरण में इस प्रकार दब गया है कि स्वच्छ रूप में सामने नहीं आता। रवीन्द्रनाथ की कहानियाँ जीवन के अनेक खंड-चित्रों पर

आश्रित हैं और इन जीवन-चित्रों को कवि ने अपनी अतिसंवेदित काव्यमयी सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के द्वारा बहुत मार्मिक बना दिया है। इन कहानियों का क्षेत्र बंगाल का मध्यवित्त है, परंतु उनमें इस मध्यवित्त के जीवन की यथार्थता को काव्य और रहस्य के आवरण से देखा गया है। मध्यवित्त की ओर यथार्थवादी दृष्टिकोण हम शरच्चंद्र की रचनाओं में पाते हैं। शरत् के उपन्यासों और कहानियों में व्यक्ति और समाज की यथार्थ परिस्थितियों की योजना है और उन पर से वह काव्यमय और रहस्यात्मक आवरण उतर गया है जो रविबाबू की विशेषता है। प्रेमचंद की कहानियाँ इन दोनों दृष्टिकोणों के बीच में आती हैं। वे यथार्थ स्थिति के उभारने में अत्यंत सफल हैं। और उनकी कहानी-कला भी यथार्थ के चित्रण में समर्थ है। परंतु अपनी समस्याओं के समाधान में वे भ रवीन्द्रनाथ की तरह आदर्शवादी हैं।

प्रेमचंद की कहानियों को अनेक कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। एक-दो पृष्ठ के सामान्य स्केच अथवा नाटकीय संवाद से लेकर अनेक पृष्ठों के जीवन के खंड-चित्र अथवा संपूर्ण चित्र तक उनकी कहानियों में आते हैं। यदि हमें संक्षेप में प्रेमचंद की कहानी-कला की विशेषताओं को उपस्थित करना पड़े तो हमें कहना होगा कि (१) वह आदर्शात्मक है। (२) उनमें जीवन के एक संपूर्ण चित्र अथवा खंड-चित्र को उभारा जाता है परंतु वह चित्र स्वयं अपने में पूर्ण रहता है। (३)उसमें पात्रों के मानस-विश्लेषण अथवा उनके भीतर की द्वन्द्वात्मक स्थिति का अधिक विस्तार नहीं होता। (४) उसमें शैली की दृष्टि से कलावादी दृष्टिकोण को महत्त्व नहीं मिलता। प्रेमचंद कला की रंगीनियों और विविधताओं को महत्त्व नहीं देते। अतः उनकी कहानियों में भाषा-शैली की विचित्रता और भाव-गुम्फन की अनेकता नहीं मिलेगी (५) उनकी कहानियाँ किसी विशेष लक्ष्य अथवा उद्देश्य को उपस्थित करती हैं। प्रेमचन्द उपयोगितावादी कलाकार हैं और वे ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में कहानी के केन्द्र बिंदु में उपदेश अथवा संदेश को अंतर्निहित कर देते हैं।

प्रेमचन्द के अपने समय में ही कहानीकारों का एक ऐसा वर्ग उठ खड़ा हुआ जो उनके दृष्टिकोण का विरोधी था। उनकी कहानी-कला की आदर्शोन्मुख यथार्थवादी दृष्टि के विपरीत ऐसे दृष्टिकोण विकसित हुए जिन्हें हम सम्पूर्णतया यथार्थवादी अथवा स्वच्छन्दतावादी कह सकते हैं। 'उग्र', ऋषभचरण जैन और चतुरसेन शास्त्री को केन्द्र बनाकर कहानीकारों का एक प्रभावशाली दल उठ खड़ा हुआ जो कला में नग्नता और घोर यथार्थवाद का उपासक था। वह वस्तुस्थिति के यथार्थ और नग्न चित्रण द्वारा पाठकों को एकदम झकझोर देना चाहता था। एक दूसरा दल कवि कहानीकारों का था जो कहानी में काव्यात्मक प्रेरणा को महत्त्व देते थे और जिन्हें हम स्पष्ट रूप से स्वच्छन्दतावादी कह सकते हैं। भगवतीचरण वर्मा, निराला और पंत इस श्रेणी के कथाकार हैं। इन स्वच्छन्दतावादी कलाकारों ने मुख्यतः प्रेम को अपना विषय बनाया और उनके स्त्री-पात्र अपनी विदग्धता और भावप्रवणता के कारण हमें विशेष रूप से छूते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द की कला के विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप में हमें नग्न यथार्थवादी और स्वच्छन्दतावादी कहानीकारों के दो वर्ग मिले। परन्तु इसी समय के लगभग दो ऐसे कहानीकार भी आये जो इन दोनों वर्गों में से किसी के भीतर नहीं आते। उनका दृष्टिकोण स्वतन्त्र था और बाद में यह उनकी कला में विशेष रूप से विकसित हुआ। ये कलाकार जैनेन्द्र और अज्ञेय हैं। जैनेन्द्र कुछ पहले आये और उन्होंने भाषा-शैली के क्षेत्र में नवीन प्रयोग किये और मध्यवित्त के जीवन की असंगतियों को विशेष रूप उभारा? उनकी भाषा-शैली और कला पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव स्पष्ट है। परन्तु उनका दृष्टिकोण भी प्रेमचन्द की तरह यथार्थवादी था। प्रेमचन्द की भाँति ही ये आत्मवेदना कष्ट-सहन और बलिदान के उपासक थे। अज्ञेय ने हिन्दी-कहानी की नई संभावनाओं की ओर इंगित किया। उनकी प्रारम्भिक कहानियाँ राष्ट्रीय भावनाओं और स्वच्छन्दतावादी वातावरण के कारण विशेष रूप से प्रिय रहीं। १६२८ में 'विशाल भारत' में 'पगोड़ा वृक्ष' नाम की कहानी का

प्रकाशन वस्तुतः एक घटना थी। इस कहानी का वातावरण अतिरंजित था और इसमें क्रान्तिकारी जीवन की कठिनाइयों को अत्यन्त आकर्षक पृष्ठभूमि दे दी गई थी। बाद की कहानियों में हम अज्ञेय को कला और विचार के क्षेत्र में नये प्रयोग करते पाते हैं। इन प्रयोगों ने उनकी कहानियों को इतना विविध और विचित्र बना दिया है कि उन्हें एक केन्द्र पर लाना कठिन है परन्तु यह स्पष्ट है कि वह प्रेमचन्द के कहानी-सम्बन्धी दृष्टिकोण से बहुत दूर और कदाचित् बहुत आगे हैं। उनकी कहानियों में हम किसी उपदेश तत्त्व अथवा संदेश की प्रधानता नहीं पाते। अधिकांश कहानियाँ केवल कहानियाँ-मात्र हैं। उनमें जीवन के खंड-चित्र अथवा मानस के गति-चित्र उपस्थित कर दिए गए हैं। लेखक ने अपनी ओर से कुछ भी नहीं जोड़ा है। वह कहानी में जीवन-दर्शन की उपस्थिति अथवा व्याप्ति अवांछनीय समझता है। उसके मत में कहानी जीवन का एक चित्र-मात्र है। ये चित्र विभिन्न मनुष्यों के द्वन्दों, विभिन्न घटनाओं के घात-प्रतिघातों अथवा एक ही पात्र के मानसिक द्वन्दों के गत्यात्मक चित्र हो सकते हैं। फिर लेखक के लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि वह उस चित्र के अर्थ को पाठक के सामने रखे। पाठक के मन में उस चित्र के सम्बन्ध में संवेदना जगाकर उसे अलग हो जाना चाहिए। प्रेमचन्द के मत में जीवन-दर्शन ही सब-कुछ है। वे कलावादी नहीं हैं। वह कहानी के माध्यम से एक नया युग धर्म उपस्थित करना चाहते हैं। फलतः उनकी कहानियों में उपदेश अथवा संदेश की प्रधानता है। इसके विरोध में अज्ञेय कहानी को स्वतंत्र और सब प्रकार से निर्विशेष रखना चाहते हैं। प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में मन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण पर बल नहीं दिया है। जैनेन्द्र और अज्ञेय की कहानियाँ इसी नींव पर टिकी हैं और फलस्वरूप उनकी कला के बाह्य उपकरण भी प्रेमचन्द की कला के बाह्य उपकरण से भिन्न है। परंतु जहाँ जैनेन्द्र की कला में तटस्थता है, वह पात्रों के मन में बैठकर अपनी सत्ता अलग रखते हुए वस्तुस्थिति का निरूपण उपस्थित करते हैं, वहाँ अज्ञेय की रचनाओं में

अनुभूति के तत्त्व भी प्रधानता पा जाते हैं और उनका परिस्थितियों, व्यक्तियों और मानव-मनों का विश्लेषण अनुभूतिमूलक और वैयक्तिक बन जाता है। फलतः उनकी कला में सामाजिक और वैयक्तिक कला-दृष्टि का अद्‌भुत समन्वय है। प्रेमचंद और जैनेन्द्र की कहानियों में कलाकार का समाज के प्रति उत्तरदायित्व कुछ अधिक महत्त्व पा गया है और उनमें उनकी वैयक्तिक समवेदना को स्थान नहीं मिल सका है। यह वैयक्तिक समवेदना अज्ञेय की कला की एक प्रमुख विशेषता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिंदी-कहानी की कला अपने जीवन के कई चरणों को पार कर चुकी है। प्रेमचन्द (१६१६) तक हम कहानी-कला का पहला चरण पाते हैं। इसे नीतिमूलक, सुधारात्मक कहानियों का युग अथवा प्रयोग काल कहना ठीक होगा! १६१६ ई० से १६२८ ई० तक के समय को हम प्रेमचंद युग कह सकते हैं। इस युग की कहानियाँ चरित्रनिष्ठ और आदर्शवादी हैं। सुदर्शन, कौशिक, प्रेमचंद, गुलेरी इस युग के प्रमुख कहानीकार हैं। १६२८ ई० से हिन्दी-कहानी का तीसरा चरण आरम्भ होता है। इस नये युग की कहानियों में पश्चिमी प्रभाव अधिक स्पष्ट हैं। कहानी का बाह्य रूप प्रयोगात्मक बन गया है और उसके आभ्यंतर में भी परिवर्तन होता है। इस युग में हम प्राकृत-वादी, स्वच्छंदतावादी, कलावादी, प्रयोगवादी, अतश्चेतनावादी और प्रगतिवादी कलाकारों के अनेक दल विकसित पाते हैं। जीवन के प्रति एक विद्रूप अथवा तिरस्कार का भाव, अनास्था और कटुता इस युग की कहानियों की विशेषता है। आदर्शवादी दृष्टिकोण अब पिछले युग की चीज बन गया है। कहानी के उद्देश्य और उसके बाह्य रूप में भी अब परिवर्तन हो गया है। प्रारम्भिक कलाकारों का उद्देश्य स्पष्ट अथवा प्रच्छन्न रूप से समाज-सुधार था। आज कहानी मुख्यतः सोद्देश्य है। उससे हम अकेले मनोरंजन की माँग नहीं कर सकते। ऐसा करेंगे तो अपने को रूढ़िवादी सिद्ध करेंगे। फलस्वरूप आज कहानी विभिन्न 'वादों' से बँध गई है। समाजवादी और साम्यवादी कलाकार कहानी में सामाजिक

शोषण, दीनता-हीनता और विद्रोह का चित्र उपस्थित करते हैं। उनके पात्रों में कला के दीप की शांत लौ नहीं, प्रचार का ताप है। राजनैतिक कहानियों की बाढ़-सी आ गई है, जैसे जीवन में और कुछ रह ही नहीं गया हो। प्रचार की देवी पर कला की बलि दे दी गई है। कहानियाँ मुख्यतः विध्वंसात्मक हैं, निर्माण की कोई रूपरेखा इनमें नहीं मिलती। इस वर्ग के कहानीकारों में कृष्णचन्दर, अमृतराय और यशपाल की रचनाएं प्रमुख रूप से सामने आती हैं। कृष्णचंदर में कला का रूप सबसे अधिक खिलता हुआ दिखलाई देता है। अंतश्चेतनावादी कलाकार जीवन की विलक्षण ऊब, असंतुलन का चित्र उपस्थित करते हैं परंतु साथ ही पात्रों की प्रवृत्तियों में दमित इच्छाओं और यौन-समागम की प्रतिक्रियाओं को ढूंढते हैं। इनमें स्वस्थ और अस्वस्थ दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखलाई देती हैं। एक ओर अज्ञेय का साहित्य है, दूसरी ओर पहाड़ी, नरोत्तमप्रसाद नागर आदि की रचनाएँ। ये कहानियाँ अधिकांश स्मृति-चित्रों के रूप में हैं। रोगी या रोगिणी किसी पहाड़ी सुश्रूषा-गृह में जीवन की अंतिम घड़ियाँ समाप्त करता हुआ अपनी जीवन की ग्रंथियों को खोलने की चेष्टा करता है। कहानी के अंत में हम जीवन के प्रति किसी उदात्त भावना से नहीं भर जाते। टूटे और विशृङ्खल जीवन की ये कहानियाँ हमें क्षण-भर के लिए विक्षुब्ध कर देती हैं। ये आत्मक्षोभ (Frustration) की कहानियां हैं। उग्र, ऋषभचरण जैन और चतुरसेन शास्त्री ज़ोला की नग्न कला को हिन्दी में उतार लाए थे। फ्रांस के प्राकृतवादी कलाकार उनके गुरू थे। वे पाप के शोधक थे! वेश्याओं के चकलों और दलालों के अड्डों तक उनकी पहुँच थी। उन्होंने पाप का आकर्षक ढंग से चित्रण किया है और उनकी कला की मादकता और सुन्दरता देखने योग्य है। इस प्रकार की कहानियों का युग अब चला गया, परंतु १९२८ के बाद कुछ वर्षों तक तो इनकी साहित्य-समाज में बड़ी धाक थी। जिन नये कलाकारों ने 'वादों' या विशिष्ट भंगिमाओं के बंधन को स्वीकार न करते हुए कहानी के क्षेत्र में अपना

योग दान दिया है उनमें प्रमुख हैं निराला, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा; उपेन्द्रनाथ अश्क, राधाकृष्ण, और ऐसे ही कुछ अन्य कलाकार। उनमें कहानीकार 'वाद' विशेष का प्रचारक न बनकर कलाकार है, फलतः उसकी कहानी की सीमाएँ अपरिसीम हैं और उसका व्यापक दृष्टिकोण उसे जीवन के विभिन्न पहलुओं में उपस्थित करने में समर्थ बनाता है। परंतु यह अपरिसीम कला दृष्टि धीरे-धीरे कम होती जा रही है और हम पश्चिम के प्रयोगों और आंदोलनों में अपना साहित्यिक व्यक्तित्व खो रहे हैं।

संक्षेप में, यह आधुनिक हिंदी - कहानी की रूपरेखा है। आधुनिक कहानी को हम वैदिक-पौराणिक कथाओं नैतिक उपाख्यानों और काव्यात्मक रोमांसों से भले ही जोड़ें, सच तो यह है कि वह हमारे साहित्य में नई कला है जो पश्चिम से लाई गई है, परंतु जिसने थोड़े ही समय में इस देश में अपनी जड़ें फैला ली हैं। वह विशेषतः मध्यवित्त की चीज हैं, यद्यपि प्रेमचंद की कुछ कहानियों में सर्वहारा और किसान-मजदूर का भी सुन्दर चित्रण है और नए प्रगतिवादी कलाकार उपेक्षित वर्गों के चित्र देने को ही अधिक दम भरते हैं कदाचित् साहित्य के किसी भी अन्य अंग मध्यवित्ती संसार की ऐसी सुन्दर, प्रशस्त और विविधतापूर्ण झलक नहीं है। इस वर्ग की द्विधा, इसके उदात्त आदर्शवाद, इसके विमर्श (Contradictions), इसके दुःख-सुख के उच्छ्वास कहानी में ही सबसे अधिक स्पष्ट रूप में प्रतिबिम्बित हैं। हमारे देश की सामाजिक और राजनैतिक प्रवृत्तियों में यही वर्ग अगुआ है और उसे ही नई भारतीय संस्कृति को दागबेल डालने का महान् श्रेय मिला है। अगली पीढ़ी के साहित्यकार के लिए हमारा कहानी-साहित्य इस युग का सबसे सुन्दर दर्पण होगा।

(५) निबन्ध, आलोचना और साहित्य का इतिहास

(क) निबन्ध—अन्य साहित्य-कोटियों की भाँति निबंध की कोटि के

लिए भी हम पश्चिम के ऋणी हैं। निबंध गद्य-लेखन की एक विशिष्ट कोटि है और उसके विकास के लिए गद्य-शैली के क्षेत्र में कुछ विशेष प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने की आवश्यकता है। अंग्रेजी भाषा में गद्य-लेखन का आरम्भ ६वीं शताब्दी के अंत में हुआ। १२०० ई० तक गद्य अनेक प्रकार से विकसित हो गया था। गद्य-लेखन के विकास के लिए मुद्रण-कला का आविष्कार अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ और पहली प्रकाशित रचना मेलोरी (Malory) लिखित मार्टे द आर्थर (Morte d' Arthur) है जिसे केक्स्टन ने १४८५ ई० में प्रकाशित किया। १६वीं शताब्दी के आरम्भ से शैली के क्षेत्र में विशेष कलात्मक योग आरम्भ हुए। ये प्रयोग अतिरंजना की ओर झुके हुए थे। जान लिली का Euphues इस क्षेत्र में एक उदाहरण है। इसमें अनुप्रास, साम्य और विरोध का प्रयोग इतना अधिक था कि वह कृत्रिम हो गया था। इसके विरोध में गद्य-लेखन की सीधी सरल शैली का प्रवर्तन हुआ। सर फिलिप सिडनी (१५५४–८६ की) रचना काव्य के पक्ष में (Apology for Poetry) इस दिशा में ही बढ़ती है।

अंग्रेजी निबंध-लेखन का आरम्भ बेन जान्सन (१५७२–१६३७) और सर फ्रेन्सिस बेकन (१५६१–१६२६) की रचना से होता है। बेकन को साहित्यिक निबंध का पिता माना जाता है, परंतु बेन जान्सन का इस क्षेत्र में अपना महत्त्व है। दोनों विभिन्न समयों पर विभिन्न विचारों को लिखते रहते थे। कभी-कभी ये विशृङ्खल विचार एक सूत्र में गुम्फित कर दिए जाते थे। बेन जान्सन की दो रचनाओं में यह सामग्री सुरक्षित है। यह सारी सामग्री विकास की विभिन्न अवस्थाओं में है, कहीं अकेले वाक्य हैं, कहीं छोटे-छोटे अनुवाक्। कभी ये छोटे-छोटे निबंधों का रूप ले लेते हैं। बेकन के निबंध जीवन के संपूर्ण क्षेत्र को लेकर चलते हैं। उनके ५८ निबंध हमें प्राप्त हैं। ये निबंध सूत्र-शैली की रचना हैं। उसमें नादात्मकता या चित्रात्मकता नहीं है। भाषा का संयत अत्यन्त मितव्ययी प्रयोग मिलता है। कहावतों की जैसी सूक्ष्मता

उनके वाक्यों में है। विषय-निरूपण में वे तटस्थ रहते हैं। बेकन के इन निबंधों का अनुकरण नहीं हो सका—संभव भी नहीं था। बाद में मिल्टन और ड्राइडन द्वारा अंग्रेजी गद्य-शैली का विकास हुआ, परंतु इनकी रचनाएँ प्रबंध (Tract) के अंतर्गत आती हैं।

गद्य के दो लक्ष्य होते हैं—शिक्षा और मनोरंजन। बेकन ने शिक्षा वाला तत्त्व ग्रहण किया। उनकी शैली इतनी संयत, मितव्ययी, सारगर्भित और पांडित्य-बुद्धि-प्रधान थी कि अनुकरण संभव ही नहीं था। बाद में मनोरंजकता के तत्त्व को विशेष बल मिला। मासिक और साप्ताहिक पत्रों में एक नवीन प्रकार की सामग्री अपेक्षित थी जो मनोरंजन के माध्यम से शिक्षा दे। स्टील (१६७२–१७२९) और एडिसन (१६७२–१७१९) के टेटलर (Tatler, 1709) और स्पेक्टेटर (Spectator, 1711) के माध्यम से सामाजिक विषयों को लेकर मनोरंजक निबंधों का प्रादुर्भाव किया। उस युग के फैशन और कुरीतियों, धर्म और नीति, साहित्य और अभिरुचि के संबंध में ही उन्होंने विशेष रूप से लिखा। Sir Roger de Coverly नाम के एक विशेष व्यक्तित्व की कल्पना के माध्यम से इन निबंधों को वैयक्तिकता प्रदान की गई है। १८वीं शताब्दी के अन्य महत्त्वपूर्ण निबंधकार स्विफ्ट (Swift 1667–1745) डॉ० जानसन, गोल्डस्मिथ और Earl of Chesterfield (१६९४–१७७३) हैं। स्विफ्ट के निबंध व्यंगात्मक हैं, जानसन के पांडित्यपूर्ण और गोल्डस्मिथ से विवरणात्मक। साहित्य की दृष्टि से गोल्डस्मिथ ही आगे हैं।

अशास्त्रीय (Informal) का जन्म फ्रांस में मॉन्टेन के द्वारा हुआ। उसके निबंध (Essays) फ्रांस में १५८० – १५९५ के बीच में प्रकाशित हुए और १६०३ ई० में अंग्रेज़ी में अनूदित होकर आए। मॉन्टेन बेकन का समकालीन था, परन्तु उसमें कदाचित् उतना पांडित्य नहीं है। वह कलाकार कहीं बड़ा है। उसने अपने स्वतंत्र और अनियंत्रित चित्रण को अपने निबन्धों में मुक्त रूप से बहने दिया है। कदाचित् बेकन भी मॉन्टेन के निबन्धों से परिचित था। बेकन के कुछ निबन्धों

के विषय वही हैं जो मॉन्टेन के—परन्तु दोनों के कला रूप भिन्न हैं। बेकन ने १५६५ और १६२५ के अपने निबंधों में बार-बार संशोधन और परिवर्तन किया है और फलतः वह उनका कला रूप प्रौढ़तम रूप में उपस्थित कर सका है।

ललित निबंध की यह परंपरा उन्नीसवीं शती में विकसित हुई और इस क्षेत्र में चार्ल्स लेम्ब (१७७५—१८३४) के Essays of elia (१८२०—२३) विशेष महत्त्व है। ये भी प्रधानता के द्वारा सामने आये। लेम्ब के निबंधों में उसका संवेदना-प्रधान, कल्पना-शील और काव्यात्मक विनोदी व्यक्तित्व प्रकाशित हुआ है। उसने परिचित और सरल विषय को क्रीड़ा के द्वारा मनोरंजक बनाया है। पाडित्य का आवरण ज़रा भी नहीं है। वह अपनी कल्पनाओं, अपने हास्य-व्यंग, सुख-दुःख के क्षणों को पाठकों में बाँट देता है। कला का कोई आयास-सिद्ध रूप न होने पर भी उसके निबंधों में उच्च कोटि की कला है। छोटी-छोटी वस्तुओं को केन्द्र बनाकर लेम्ब ने अपने व्यक्तित्व का रंगीन इन्द्रजाल उन पर बना दिया है। उन्नीसवीं शती के अन्य महत्त्व-पूर्ण निबंधकार ले हंट (Leigh Hunt १७८४–१८५६), रस्किन (१८१६–१६००) मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२–१८८८), आर. एल्-स्टीवेंसन (१८५०—१८६४) और हेजलिट (१७७८—१८३०) हैं। परन्तु लेख की कला ले हंट और कुछ दूर तक स्टीवेंसन में ही विकसित हो सकी है। बीसवीं शती में ललित निबंध को विशेष लोक-प्रियता मिली है और मेक्स बियर बोम (Max Beerbohm), जी. के. चेस्टरटन इ० वी० लुकास, ए० जी गार्डिनर और राबर्टलिंड का नाम उल्लेखनीय है।

अंग्रेज़ी निबंध-कला के विकास की रूपरेखा देने की आवश्यकता इसलिए पड़ी यह कि साहित्य-कोट वहीं से ग्रहीत हुई। हमारे प्रारंभिक निबंधकार बेकन, एडिन, स्टील और लेम्ब की कला से अनु-प्राणित हुए। 'पंच', 'स्पेक्टेटर', 'यात्रा' आदि के रूप में १६ वीं शती

में बहुत-सी ऐसी सामग्री छपी जो १९ वीं शती की कलकत्ता की अंग्रेज़ी पत्रकारिता के अनुकरण में चल पड़ी है। पिछले १५० वर्षों से कार्लाइल, रस्किन, लेम्ब आदि निबंधकार हमारे प्रिय साहित्यिक रहे हैं। हमारे हिन्दी-गद्य और निबंध-कला ने भी अपने विकास में वही सब मंज़िलें पार की हैं जो अंग्रेजी गद्य और निबंध-कला को पार करनी पड़ी थीं।

निबंधों की दो प्रधान श्रेणियाँ हैं—शास्त्रीय (Formal) और अशास्त्रीय (Informal) शास्त्रीय निबंध की दो कोटियाँ हो सकती हैं—वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक (Personal & Informal)। साधारणतः शास्त्रीय निबंध निर्वैयक्तिक रहते हैं। उनमें विषय की विवेचना और विचार-विकास की सुस्पष्ट रूपरेखा पर ही विशेष ध्यान रहता है। प्रबंध (Tract) और खोजपूर्ण निबंध (Thesis) में यही श्रेणी ग्रहीत होती है। ऐसे निबंधों में वैयक्तिकता का समावेश अनावश्यक और अवांछनीय है। पांडित्य, तर्क-बुद्धि और विवेचना-शक्ति और सुस्पष्ट विचार-विकास पर आधारित ये निबंध विशिष्ट कोटि का निर्माण करते हैं। इनमें अथ और इति की सुस्पष्ट रूपरेखा रहती है और बीच में विषय-निर्वाह। अतः इन्हें सामान्यतः आरम्भ, विकास और अंत या परिसमाप्ति में बाँटा जा सकता है। कहीं-कहीं लेखक भूमिका दिये बिना सीधे विषय में प्रवेश करता है, कहीं-कहीं सुस्पष्ट परिसमाप्ति भी नहीं रहती, परंतु विषय का निर्वाह क्रमबद्ध और विकासोन्मुख होना चाहिए। ऐसे निबंधों की सामग्री को रूपरेखा में बाँधा जा सकता है। विषय के अनुरूप इन्हें ऐतिहासिक, आलोचनात्मक, मनोवैज्ञानिक, जीवन-कथात्मक, आत्मकथात्मक, घटना-प्रधान, वर्णनात्मक, विवरणात्मक, तर्क-प्रधान आदि कहा जा सकता है। इस प्रकार के निबंधों में शैली उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसे केवल सरल, सरस, प्रसाद गुणपूर्ण और प्रभावोत्पादक होना चाहिए।

परन्तु इस श्रेणी में ऐसे निबंध भी हैं जिनमें शास्त्रीयता और

विवेचनात्मक क्रम-विकास के साथ वैयक्तिक अभिरुचि और व्यक्तिगत विशेषताओं का समावेश होता है। हम निबंध के विचार और उसकी शैली को व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित कर सकते हैं। जैसे महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी और धीरेन्द्र वर्मा के निबंधों में शैली और विचार-संगठन का निजी ढंग स्पष्ट है। परन्तु यह वैयक्तिकता निबंधकार के व्यक्तित्व को हमारे निकट लाने में असमर्थ है। यह उस कोटि की वैयक्तिकता नहीं है जो ललित निबंधों में पाई जाती है। ऐसे निबंधों में हमें शब्द-प्रयोग, भाव-व्यंजना, रुचि अनरुचि के तत्त्वों और विचार-प्रकाशन की निजी संवेदना पर विचार करना होता है। शिक्षा-दीक्षा, जीवन-संबंधी दृष्टिकोण, अनुभव, स्वभाव, के कारण एक ही विषय पर लिखे इन विद्वानों के निबंध विभिन्न होंगे। शैलियों में भी वैयक्तिक छाप के कारण कुछ अन्तर होगा। परंतु फिर भी इस प्रकार के निबंधों में उपयोगिता का अंश ही अधिक है और यह व्यक्तिगत तत्त्वों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। बेकन की विचारबद्धता, स्विफ्ट के व्यंग, रामचन्द्र शुक्ल का पाण्डित्य, हजारीप्रसाद द्विवेदी की काव्यमयता, जवाहरलाल की व्यापक ऐतिहासिकता और जीवन-दृष्टि उनके निबंधों का वैयक्तिक पक्ष है, परंतु इतनी वैयक्तिकता तो साधारणतः सभी रचनाओं में रहेगी।

वैयक्तिक तत्त्वों की दृष्टि से दूसरी अशास्त्रीय या वैयक्तिक (ललित निबंधों की) श्रेणी अधिक महत्त्वपूर्ण है। मॉन्टेन, लेम्ब, गार्डिनर के निबंध इसी कोटि में आते हैं। मॉन्टेन ने लिखा है—I have a mind free and altogether her own and accustomed to follow her own humour (मेरा मन पूर्ण रूप से स्वतन्त्र और स्वनिष्ठ है। जिस दशा में चाहता है, वह जाता है।) वस्तुतः मन या व्यक्तित्व का यह स्वच्छन्द प्रवाह अशास्त्रीय (ललित) निबन्ध का मेरुदंड है। निबंध का ठीक दृष्टिकोण यही है। शास्त्रीय ढंग के निबंधों में एक विशेष कला रूप का आग्रह तो रहता ही है—यहाँ वह भी अवांछनीय है।

पिछली श्रेणी के निबंधों में शिक्षा पक्ष का विशेष महत्त्व है, इसमें आनंद का तत्त्व प्रमुख है। इस प्रकार के निबंधों में लेखक क्षुद्रतम वस्तुओं और विषयों को केन्द्र बनाकर अपने वैयक्तिक अनुभव, विचार और अनुभूति और ज्ञान, घृणा और द्वेष, गाम्भीर्य में और विनोद-वृत्ति का ऐसा विस्तार करता है कि यह क्षुद्र वस्तु ही हमारे लिए नये-नये अर्थों में समन्वित हो जाती है। निबन्ध पढ़ते हुए पाठक भी लेखक के व्यक्तित्व और विचार-प्रवाह में डूब जाता है और उसकी परिसमाप्ति के साथ उसके ज्ञान और अनुभूति के क्षेत्रों को वृद्धि और विस्तार मिलता है। ललित निबंध का लेखक एक विशेष अपरिबंध (Relaxed maod) भाव में डूबकर लेखनी उठाता है और प्रारम्भ के कुछ शब्दों में ही आत्मीयता और नैकट्य का वातावरण उत्पन्न कर देता है। एक बार पाठक की अन्तर्वृत्ति में प्रवेश करने पर लेखक चाहे उसे जहाँ ले जाय, चाहे जिन वर्जित प्रदेशों की सैर कराये—उसका एक-एक शब्द उसकी एक-एक वाक्य-भंगिमा पाठक को विचित्र और आनन्दप्रद अर्थ रखने लगती है। निबंध विचार-क्षेत्र को छोड़कर भाव और रस के क्षेत्र में आ जाता है। वह कला की वस्तु बन जाता है।

इस प्रकार के निबन्धों को हम किसी परिभाषा की सीमा में नहीं बाँध सकते। उनकी रूपरेखा भी नहीं बनाई जा सकती। वह मन के स्वच्छंद भाव-प्रवाह की भाँति ही स्वतंत्र रहते हैं—केवल एक ढीली शृङ्खला, एक कोई छोटा-सा बीज तत्त्व, सार या भाव उस सारे भाव-प्रवाह को एकसूत्रता में बाँधे रहता है। कहीं लेखक के व्यक्तित्व की झाँकी मिलती है, कहीं शब्द-क्रीड़ा से मनोरंजन होता है, कहीं आकर्षक सम्वाद, कथा या काव्यात्मक गद्य के दर्शन होते हैं। चेतना के इस स्वच्छंद आनन्द-मूलक प्रवाह में आनन्द भी सुन्दर बन जाता है। लेखक के व्यक्तित्व के तत्त्व ही इन निबन्धों को विशेषता और लोकप्रियता देते हैं। ललित निबंध का लेखक पांडित्य का दावा नहीं करता। वह विषय की सारी सीमाएँ नहीं समेट लेता। उसकी पकड़ (Approach) अवश्य वैयक्तिक

और आनंदप्रद, कभी-कभी एकदम असूझी रहती है। उसकी अपूर्णता ही उसका सबसे बड़ा गुण है। ललित निबंध में मौन चिंता-प्रवाह (Quiet Reveries) चुहलपूर्ण विनोद (Frolicsome Jests) और आनंदपूर्ण कल्पना (Hovering wistful fancies) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक प्रकार की कलाहीनता (Artlessness) उसका विशेष गुण है, यद्यपि हम इस कला में ही सर्वोत्कृष्ट कोटि की कला का संविधान रहता है। बहुधा निबंधकार अपने भीतर अनेक पुरातन स्मृतियों को जगा लेता है और उनके बल पर आगे बढ़ता है। कभी-कभी वह पाठक की भावतंत्री को झंकृत कर देता है, परन्तु उसकी भाव-शृङ्खला एक सूक्ष्म, अज्ञात सूत्र द्वारा उस भावना या विचार से सम्बद्ध अवश्य रहती है जिससे उसने अपनी निबंध-यात्रा का आरंभ किया था। कभी-कभी इस प्रकार के निबंधों में भाव-प्रवाह उच्छृङ्खल (Eccentric) भी हो जाता है, परन्तु फिर भी निबंध एकदम निरुद्देश्य नहीं रहता। व्यक्तित्व और चिंतन के स्वतंत्र प्रवाह में भी सुस्पष्ट विचारों के भँवर मिल जाते हैं और लक्ष्य निर्दिष्ट रह सकता है। श्रेष्ठ निबंधकार श्रेष्ठ अभिनेता की तरह अनेक भावों और रसों के कुशल चित्रकर्ता (A master of many moods) होते हैं।

हिन्दी-निबंध-कला के विकास के इन दोनों अंगों को हम इतिहास की दीपिका में अलग-अलग रख सकते हैं। निबंध-कला का पहला चरण 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' (१८७३) के आविर्भाव पर समाप्त होता है। इस चरण की अधिकांश सामग्री पाठ्य पुस्तकों, ट्रैक्टों और धर्म-पुस्तकों एवं मासिक पत्र के लेखों के रूपों में है। सुनिश्चित निबंध-सामग्री की दृष्टि से 'बुद्धि प्रकाश' (१८५२) विशेष महत्त्वपूर्ण है। दूसरा चरण १८७३ ई० से १९०३ ई० तक चलता है और उसमें गम्भीर निबंध-कला के विकास के साथ ललित निबंध भी सामने आते हैं। भारतेन्दु के दोनों प्रकार के निबंध हमें प्राप्त हैं। जहाँ एक ओर 'वैष्णव धर्म और भारतवर्ष' शीर्षक गंभीर ऐतिहासिक विवेचना है, वहाँ नाटक निबंध में नाटक के

सर्वाङ्ग विकास को उपस्थित किया है और स्वर्ग में केशवचंद्र सेन और स्वामी दयानंद और एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न-जैसी रचनाओं में कलाकार का रूप प्रधान है। वस्तुतः उन्नीसवीं शती के निबंधकारों का व्यक्तित्व बड़ा सजीव था। वे शिक्षा को गौण और मनोरंजन को प्रधान स्थान देकर चले हैं। उनके चुहल विनोदपूर्वक आनंदी स्वभाव का पूर्ण प्रतिबिम्ब उनके निबंधों में दिखलाई देता है। राधाचरण गोस्वामी की 'यमपुर की यात्रा' अथवा भारतेन्दु के 'कंकरस्तोत्र' और बालमुकुन्द गुप्त के 'शिव शंभु के चिट्ठे' में जो ज़िन्दादिली है वह द्विवेदी युग में अप्राप्य है—आज भी ढूँढने पर ही मिल सकेगी। बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु के अनुकरण में गम्भीर और ललित पक्षों को संतुलित कर सके, परन्तु प्रतापनारायण मिश्र के निबंधों में वैयक्तिक तत्त्वों की प्रधानता है। उन्हें हम विशुद्ध ललित निबंधकार कह सकते हैं।

हिन्दी-निबंध-कला के विकास के तीसरे चरण (१९०३-३०) में गम्भीर निबंधों की संख्या ही अधिक रही। यह युग ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नई सामग्री के संयोजन और प्रचार का युग था। अतः शिक्षा पक्ष पर विशेष बल रहा। द्विवेदी जी ने कई प्रकार के निबंध लिखे—गंभीर विषयों को बातचीत की भाँति सरसता देकर उन्होंने उपस्थित किया। हिन्दी की जातीय शैली का निर्माण भी उन्होंने किया। उनका स्वभाव गम्भीर था। कभी-कभी उनके निबंध में तीव्र व्यंग, परिहास और उपेक्षा का तिक्त रस भी उभर आता है और कला पक्ष की भी महत्ता दिखलाई देती है, परन्तु वे बहुधा सामान्य सरल शैली में अपनी बात कह भर देते हैं। इस युग के अन्य निबंधकार माधवप्रसाद मिश्र, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह, ब्रजनंदन सहाय, श्यामसुन्दरदास, रामचंद्र शुक्ल, माधवराम और मिश्रबन्धु हैं। इनमें से अध्यापक पूर्णसिंह और गुलाबराय के कुछ निबंध कलात्मक लज्जा और हास्य-विनोद के कारण ललित निबंध की कोटि में आ सकते हैं। इस युग के निबंधकार विषय-विवेचन और विचार-संगठन की दृष्टि से पूर्ण रूप से जागरूक थे।

अतः ललित निबंध की निर्बंधता वे हमें नहीं दे सके। तर्क-वितर्क-प्रधान आर्यसमाजी और भावुकता-प्रधान राष्ट्रीय प्रेरणामूलक शैलियाँ हमें इस युग में अवश्य मिलती हैं, परन्तु हास्य-विनोद, रूप-रंग, घृणा-द्वेष का कलात्मक इंद्रजाल इन निबन्धों में नहीं मिलता।

१९३० के बाद ललित निबंधों के क्षेत्र में यह शून्यता कुछ कलाकारों को खटकी। कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में नए मौलिक कर्तृत्व ने कुछ कहानीकारों और उपन्यासकारों को ललित कला के क्षेत्र की ओर भी आकर्षित किया। फलतः उग्र, जैनेन्द्र, भगवतीचरण, सियारामशरण के निबंध सामने आये। द्विवेदी युग की केवल एक कलात्मक सृष्टि हमारे सामने थी—दुबे जी की चिट्ठियाँ (विजयानंद दुबे—'कौशिक',१९२६)। १९३० के बाद जहाँ गम्भीर निबंधों के क्षेत्र में विविधता और व्यापकता आई और प्रसाद, निराला, धीरेन्द्र वर्मा, नगेन्द्र, हजारीप्रसाद, डा० रामविलास, अज्ञेय, बख्शी और अन्य अनेकानेक गम्भीर समीक्षकों और निबंधकारों का प्रवेश हुआ, वहाँ ललित निबंधों के क्षेत्र में भी प्रयोग हुए। रायकृष्णदास, वियोगी हरि, माखनलाल चतुर्वेदी, उग्र, नगेन्द्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रघुवीरसिंह, सियारामशरण, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी इस नये क्षेत्र में विशेष कृती हुए। फलतः आज हमारे पास दोनों कोटियों की श्रेष्ठ रचनाएँ प्राप्त हैं। फिर भी ललित निबंधों के क्षेत्र में हम उतनी उत्कृष्ट और व्यापक सामग्री नहीं रख सके हैं जितनी अपेक्षित थी। रेखाचित्र, स्केच, फीचर, स्मृति-चित्र आदि नामों से कुछ नई सामग्री भी हमारे सामने आ रही है। 'रिपोर्ताज' नाम से गद्य-लेखन की एक नई कला-कोटि भी विकसित हो रही है जो निबंध और कहानी के सभी तत्त्व समेटकर चलती है, परन्तु इन सभी नये क्षेत्रों में अभी हमने प्रवेश ही किया है।

ललित निबंधों के क्षेत्र को यदि हम विहंगम दृष्टि से देखें तो उसमें हमें अनेक उपादेय तत्त्व मिल जाते हैं। बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के ललित निबंध शब्द-क्रीड़ा पर आधारित हैं, उग्र के भावशबलता

और अति भावुकता (Sentimentality) पर जैनेन्द्र के निबंधों में हमें दार्शनिक का अप्रयास जड़ित 'मौनालाप' (Quiet Reverie) मिलता है—जैसे वह आपके सामने बैठे हुए अपने विशिष्ट ढंग पर 'बात कही' कर रहे हों। अम्बौरी जी के 'इत्यादि की आत्मकथा' और बाल मुकुन्द गुप्त के 'शिवशम्भु के चिट्ठे' में हमें आकर्षक व्यक्तित्व के निर्माण की कला भी मिलती है। भारतेन्दु, शिवप्रसाद और राधाचरण गोस्वामी के ललित निबंधों में स्वप्न (Dream phantasy) के तत्व हैं और जैनेन्द्र और उग्र की रचनाओं में कहानी और संवाद की नाटकीयता है। सियारामशरण और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के निबंध स्मृति-चित्रों पर आधारित रहते हैं। व्यंग, परिहास और चुहल के क्षेत्र में कौशिक, गुलाबराय, अन्नपूर्णानंद और नगेन्द्र सामने आते हैं। हिंदी-निबंध-कला के विकास को यह चौथा चरण आज भी चल रहा है—इसमें अनेकरूपता, व्यापकता, विशिष्टता और नवीनता के सभी पक्ष पूर्ण रूप से समन्वित हैं। इसमें संदेह नहीं कि कालांतर में कलात्मक और वैयक्तिक निबंधों के क्षेत्र में हम और भी आगे बढ़ेंगे।

आधुनिक युग मुख्यतः विवेचना का युग है और गद्य के क्षेत्र में विवेचना अधिकतर निबंध का रूप लेकर ही चलती है। आज मनुष्य के ज्ञान-क्षेत्र का जैसा व्यापक विस्तार मिलता है, वैसा किसी भी पहले युग में संभव नहीं था। फलतः हमारी अधिकांश साहित्य-सामग्री निबंध के रूप में ही प्रकाशित होती है और ज्ञान-क्षेत्र के विस्तार में सहायता देती है। सैकड़ों मासिक-साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओं में निबंध ही का कोई-न-कोई रूप सामने आता है। विवेचनात्मक और व्याख्यात्मक साहित्य की एक बहुत बड़ी मात्रा निबंध-कोटि में ही योग दान देती है? उसमें गद्य के शिक्षा-पक्ष की आवश्यकता की पूर्ति होती है। गद्य का आनंद-पक्ष कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, रेखाचित्र, रिपोर्ताज और ललित निबंध को लेकर चलता है। पिछले तीन (रेखाचित्र, रिपोर्ताज और ललित निबंध) की विभाजन-रेखाएँ अलग-अलग नहीं की जा सकतीं। अन्य कोटियों

में कथा और चरित्र-चित्रण का पक्ष अनिवार्यतः रहता है—ललित निबंध में कथा और चरित्र-वैशिष्ट्य का सहारा लिया जा सकता है. परंतु गौण रूप में। लेखक का व्यक्तित्व और भाव-प्रवाह क्षुद्रतम विषय के सहारे महान्-से-महान् विचार और संवेदना देने में समर्थ है उसे तो विचार और भय को लटकाने के लिए खूँटी चाहिए—कोई भी खूँटी काम दे सकती है। भय-प्रवाह में डूबता-उतराता निबंधकार अपने विशेष भाव के अनुसार अनेकानेक शैलियों का प्रयोग करता है—कवित्वपूर्ण, नाटकीय, संभाषण-प्रधान, उपदेश, आत्मचिंतन, चित्रात्मक, कलात्मक, भावात्मक, गम्भीर पांडित्यपूर्ण। वस्तुतः भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग श्रेष्ठ निबंधकार का सबसे बड़ा गुण है। शब्द-योजना, पाठ्य संगठन, सज्जा और अलंकृति, ध्वनिमय चित्रण, चित्रमयता और भावबोध पर निबंधकार की दृष्टि बराबर लगी रहती है। मनः-प्रवाह की स्वच्छंद योजना में भी वह कलाकार की जागरूकता और आह्लादकता का निर्वाह करता चलता है।

(ख) आलोचना और काव्य-चर्चा—आलोचना एक बौद्धिक प्रक्रिया है और वह साहित्य चेष्टा की अनुगामिनी है। साहित्यिक रचनाओं के गुण-दोष, सृजनात्मक तत्त्वों और सौंदर्यमय रूपों के संबंध में तर्क-वितर्क और गवेषणा आलोचना और काव्य-साहित्य-चर्चा का विषय है। श्रेष्ठ साहित्य रचनाओं के समान गुण-दोषों के आधार पर सैद्धांतिक आलोचना की नींव प्रतिष्ठापित होती है। अतएव यह स्पष्ट है कि आलोचना-साहित्य के विकास से पूर्व उच्च कोटि का साहित्य सृजित हो चुका हो और उस साहित्य को लेकर बौद्धिक अभिमान करने वाला पंडितवर्ग तैयार हो गया है। कुछ विद्वान् आलोचना और साहित्य-चर्चा को साहित्य के अंतर्गत न रखकर विज्ञान के अंतर्गत रखते हैं। परंतु विशुद्ध आलोचक-दृष्टि साहित्य में जिस सौंदर्य का अन्वेषण करती है और उसके लिए जिन तत्त्वों को अपनाती है वह अंततः काव्यानुभूति से भिन्न नहीं है। उन्हें विशुद्ध बौद्धिक तत्त्व नहीं कहा जा सकता है। फलतः हम

आलोचना और साहित्य-चर्चा को साहित्य का एक अनिवार्य अंग मानकर ही चलते हैं।

संस्कृत-साहित्य में काव्यालोचन का यथेष्ट विकास हो चुका था। नाटक को भी काव्य के अंतर्गत ही समझा जाता था और इसलिए संस्कृत-साहित्य की विवेचना करते समय नाटक भी काव्य के भीतर ही आ जाता है। गद्य-विशेष विकसित नहीं था, फलतः उपन्यास, कहानी, निबंध, गद्य-काव्य आदि के संबंध में हमें आधुनिक युग में नई मान्यताएँ गढ़नी पड़ीं। जहाँ तक काम चल सका वहाँ तक पश्चिम से हमने मान्यताएँ ले लीं, साहित्य के ये कला-रूप हमने पश्चिम से ही लिये थे और वहाँ उनके संबंध में शास्त्रीय मानदंडों का निर्माण हो चुका था। संस्कृत-साहित्य में काव्य-चर्चा के आधार पर छः मतों की नींव पड़ी जिन्हें हम क्रमशः रसमत, अलंकार मत, रीति-मत, गुण मत, वक्रोक्ति मत और ध्वनि मत कह सकते हैं। यह चर्चा ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में प्रणीत भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से आरम्भ हुई और ईसा की १४वीं शती में आनंदवर्द्धनाचार्य के साथ समाप्त होती है। भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में नाटक-संबंधी मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए अनुभूति के प्रमुख तत्वों के रूप में रस को उपस्थित किया था और उसकी निष्पत्ति में तीन विभिन्न तत्वों विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (संचारी) भाव को सहायक माना था। रस की व्याख्या इतनी आकर्षक और पूर्ण थी कि वह काव्य के क्षेत्र में भी उपयोग में लाई जाने लगी और उसे छोड़कर काव्यानुभूति की व्याख्या असंभव-सी हो गई। अलंकार मत के प्रवर्तक दंडी और भामह हैं, जिन्होंने कल्पना-सौन्दर्य को काव्य की आत्मा माना है! अनुभूति को नहीं। इनके लिए अभिव्यंजना का सौन्दर्य ही काव्य का प्रमुख तत्त्व है। वे इतिवृत्ति और वस्तु-कथन को प्रधानता नहीं देते और इसीलिए रस को भी रसवत् और प्रेयस अलंकार बनाकर रस के अन्तर्गत लाने का साहस करते हैं। परवर्ती युगों में इसी संप्रदाय से वक्रोक्ति-संप्रदाय का जन्म हुआ। इसके उद्भावक कुन्तक नाम के

आचार्य थे जिनका समय दसवीं शताब्दी ईसवी है। इन्होंने काव्य को वैदग्ध्यभंगी (वक्रोक्ति अथवा चमत्कारपूर्ण उक्ति) और अलंकारों की व्याख्या इस प्रकार की कि वे विदग्धता के अंतर्गत आ गए। उन्होंने और भी आगे बढ़कर रस को भी विदग्ध-भंगिमा मान लिया। 'रीति-संप्रदाय' वामन द्वारा विज्ञापित हुआ और उन्होंने पद-रचना के तीन विभिन्न प्रकार मानकर उन्हें काव्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित किया। इन्हें उन्होंने गौड़ी, वैदर्भी और पांचाली रीति कहा। इनमें समास-बहुला पदावली, समास-हीना पदावली और दोनों के बीच के एक मध्यम मार्ग का आक्षेप है। वामन के अनुसार इनके काव्य में क्रमशः ओज, माधुर्य और प्रसाद तत्त्व की सृष्टि होती है। गुप्त मत के प्रवर्तकों ने इस व्याख्या का और भी विस्तार किया और ओज, माधुर्य तथा प्रसाद के अतिरिक्त अन्य गुणों की भी कल्पना की। कुछ आचार्यों ने तो गुणों की संख्या दस तक मानी है। रीति और गुण मतवादों के प्रस्थापकों ने रस और अलंकार को भी इन दोनों के भीतर ही दिखलाने की चेष्टा की। अंत में यह आवश्यकता हुई कि इन विभिन्न मतवादों को जब केन्द्र पर लाया जाय और आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वनि मत का आविष्कार करके इस आवश्यकता की पूर्ति की। ध्वनि मत में एक प्रकार से पूर्ववर्ती मतों का समाहार है—विभिन्न काव्य-तत्त्वों को ध्वनि द्वारा एकनिष्ठ कर दिया गया है। आचार्य के अनुसार रस, अलंकार और वस्तु (रीति, गुण) तीनों व्यंग्य हैं। ध्वनि संप्रदाय का यह समाहार अत्यंत लोकप्रिय हुआ और उसे अभूतपूर्व मान्यता मिली, परंतु कुछ आलोचक ध्वनि और रस में भेद करके भी चले। जो हो, यह स्पष्ट है कि काव्य और नाटक के क्षेत्रों में हमारे अपने देश में एक अत्यंत दीर्घ चर्चा चल चुकी थी।

हिन्दी का प्रारम्भिक काव्य मुख्यतः आध्यात्मिक था और उसमें साहित्यिक तत्त्वों का अधिक समावेश नहीं हो पाया। फलतः उसके साहित्यिक उपादानों पर विचार करने की आवश्यकता ही नहीं जान पड़ी। १६०० ई० के बाद रीति-काव्य-धारा के अनेक प्रमुख कवि काव्य-

चर्चा को स्वतंत्र विषय बनाकर चले परंतु उनका आधार हिंदी की पूर्ववर्ती या समसामयिक रचनाएँ नहीं थीं। संस्कृत भाषा में प्रस्तुत भारतीय काव्य-मत को ही उन्होंने हिंदी रूप दिया और कहीं-कहीं उसे भ्रामक और अवैज्ञानिक ढंग से भी उपस्थित किया। रस के कतिपय अंगों को उन्होंने स्वतंत्र रूप दिया जैसे विभाव के अंतर्गत नायक-नायिका के पक्ष को लेकर चलने वाले प्रसंग के आधार पर 'नायिका-भेद' ग्रंथ लिखे गए, उद्बोधन के अंतर्गत प्राकृतिक दृश्यों के विधान को लेकर 'षट् ऋतु-वर्णन' की व्यवस्था हुई और नायिका के अंग-प्रत्यंग का वर्णन करते हुए 'नख-शिख' लिख डाले गए। अलंकारों और गुण-दोषों का भी व्यापक विवेचन हुआ और कभी-कभी इस क्षेत्र में ऊहात्मक नवीन कल्पनाएँ भी प्रस्तुत हुईं। परंतु यह स्पष्ट है कि यह सैद्धांतिक विवेचन तथ्य-शून्य और निरर्थक था। उससे साहित्य-शास्त्र के संबंध में किसी नए ज्ञान में वृद्धि नहीं हुई। हिंदी-साहित्य में नाटकों का आविर्भाव नए युग की चीज है। फलतः नाटक के क्षेत्र में हम भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र से आगे नहीं बढ़ सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी में आलोचना और काव्य-चर्चा के विषय में भारतेन्दु से पूर्व के युगों में बहुत थोड़ा था, जो था वह संस्कृत-आचार्यों का पिष्टपेषण था निरर्थक ऊहापोह। नई समीक्षा का जन्म भारतेन्दु युग में हुआ और उनके 'नाटक' ग्रंथ को हम नई समीक्षा का शिलारंभ कह सकते हैं। इस ग्रंथ में भी नवीनता कुछ नहीं थी, परंतु नाटक के तत्त्वों की विवेचना करते हुए लेखक ने पश्चिमी सिद्धांतों को भी अपनाया था और नवीन युग के अनुरूप कुछ स्वतंत्रता लेकर चलने की बात भी उठाई थी। फिर भी उन्नीसवीं शताब्दी में साहित्य-रचना की अपेक्षा साहित्यालोचन का काम कम हुआ और सैद्धांतिक क्षेत्र में कोई समीक्षा-दृष्टि नहीं बन सकी। परिचयात्मक ढंग की कुछ रचनाएँ अवश्य सामने आईं, जैसे 'समालोचना' (गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, १८९६) अथवा 'गद्य काव्य मीमांसा (अंबिकादत्त व्यास, १८९७)। अधिकांश

ग्रंथ रस अथवा उसके विशिष्ट अंगों, अलंकारों और छंदों को लेकर चलते थे। छंद शास्त्र के क्षेत्र में इस युग की एक महत्त्वपूर्ण कृति जगन्नाथ-प्रसाद 'भानु' की 'छंद प्रभाकर' (१९१४) है।

बीसवीं शताब्दी में आलोचना के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई। इसका कारण यह है कि यह युग साहित्य-सृजन के क्षेत्र में नवनवोन्मेष का युग था और सृजन के साथ तर्क-प्रतिभा पूर्ण रूप से जागरूक थी। साहित्य के प्राचीन मान नये युग की रचनाओं को तौलने में असमर्थ थे। नई कृतियाँ नये पश्चिमी प्रभावों को लेकर उपस्थित हुईं अथवा उनमें बदले हुए युग की मनोवृत्ति प्रकाशित हुई। फलतः उनके लिए प्राचीन मान अनुपयुक्त थे। इस क्षेत्र में आचार्य द्विवेदीजी सबसे पहले आये। उन्होंने रीतिकालीन साहित्य-मान्यताओं का विरोध किया और काव्य के लिए नई कसौटी तैयार की। यह कसौटी तो काव्य के लिए ही थी परंतु उसमें साहित्य-दृष्टि इतनी भिन्न और नवीन थी कि सम्पूर्ण साहित्य-क्षेत्र में उसका उपयोग हो सकता था। समालोचना की तर्क-पद्धति और भाषा-शैली के निर्माण में भी उनका योग महत्त्वपूर्ण है। उनकी दृष्टि को हम नैतिक आदर्शात्मक एवं सुधारवादी कह सकते हैं। वह विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि नहीं है, परंतु यह अवश्य है उसी के द्वारा हमारा साहित्य पहली बार जीवन से संयोजित हुआ। नवीन धारा के इतिवृत्तात्मक, उपदेश-प्रधान निरालंकृत काव्य को इस आलोचना से बड़ा बल मिला। यह स्पष्ट है कि द्विवेदीजी की दृष्टि बहिर्मुखी और समाजोन्मुखी थी और वे अंतः वृत्तियों पर आश्रित भावना-प्रधान छायावादी काव्य को ठीक-ठीक नहीं परख सके। उनके साथ मिश्रबंधुओं का भी नाम लिया जा सकता है परंतु देश-काल के उपादानों का संग्रह करते हुए और कवियों की जीवनियों पर प्रकाश डालते हुए भी वे आलोच्य कवियों के साथ न्याय नहीं कर सके। उनकी दृष्टि में द्विवेदी-जैसी उदारता नहीं थी। वे रीति-काव्य की भावक और कला-सज्जा-प्रधान दृष्टि से बँधे हुए थे। उनका मस्तिष्क नये युग की ओर जाता था, हृदय रीति-काल की ओर। इस द्विधा के कारण वह

कवियों के तुलनात्मक स्थान-निर्देश में बहुत-कुछ असंतुलन कर देते हैं।

सच तो यह है कि बीसवीं शताब्दी के पहले दो-ढाई दशकों में समीक्षकों में रीतिकालीन दृष्टि की ही प्रधानता रही। पं० पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदास, पं० कृष्णविहारी मिश्र और बहुत दूर तक मिश्रबंधु रीति-कला के ही समर्थक हैं। उन्होंने रीति-काव्य की शृङ्गारात्मकता का विरोध किया है परंतु उसकी कलावादिता, उसका रचना-कौशल, उसकी अभिव्यंजना-शक्ति उनके लिए गर्व का विषय रही है। उन्होंने काव्य की सज्जा को देखा है, उसके अनुभूतिमय प्राणों की ओर नहीं। वे देव और बिहारी का पक्ष-विपक्ष लेकर लड़ रहे हैं जब युग कहीं आगे निकल आया है। फिर भी यह निश्चित है कि द्विवेदीजी की आलोचनाओं, उनकी पुस्तक-समीक्षाओं और काव्य और कला के संबंध में उनके स्वतंत्र निबंधों के बाद मिश्रबंधुओं का 'हिंदी नवरत्न' (१९११) पहले बीस वर्षों की सर्वश्रेष्ठ कृति है। उनका बृहद् कविकोष (विनोद) उनके अध्यवसाय और काव्य-चर्चा-सम्बंधी उनके उत्साह का निर्देशक है।

द्विवेदी युग के अंतिम वर्षों में साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में नई शक्तियाँ आने लगी थीं। इनमें तीन महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ थीं—पं० रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दरदास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की व्यावहारिक समीक्षा हमें उनके 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९३०), जायसी-ग्रंथावली (१९३२), तुलसी ग्रंथावली (१९३४) और भ्रमरगीतसार (१९३६) में प्राप्त होती हैं। उनकी सैद्धांतिक समीक्षा भी इन ग्रंथों में यत्र-तत्र बिखरी हुई है, यद्यपि उसका विशेष विस्तार उनके दो ग्रंथों 'काव्य में रहस्यवाद' (१९२९) और 'रस-मीमांसा' (१९४६) में होता है। पिछला ग्रंथ उनकी मृत्यु के कई वर्ष बाद प्रकाशित हुआ है और कदाचित् उसमें साहित्यालोचन की सभी रूपरेखाएँ पुष्ट नहीं हो सकी हैं। इसके अतिरिक्त अनेक निबंधों में भी उनके साहित्य-संबंधी दृष्टिकोण का विकास मिलता है। शुक्लजी प्राचीन साहित्य-शास्त्र को नया मनोवैज्ञानिक आधार देते हैं और

पश्चिमी साहित्य-शास्त्र की कई नई मान्यताओं को भी लेकर चलते हैं। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण पाडित्यपूर्ण और समन्वयात्मक है। उन्होंने काव्य-शरीर की अपेक्षा काव्यात्मा को अधिक महत्त्व दिया है। उनकी दृष्टि भी नैतिक है और उसमें वैयक्तिक पक्ष को सामाजिक पक्ष अथवा लोक-कल्याण से छोटा मान लिया गया है। वह रस-सिद्धान्त को लेकर चलते हैं परन्तु भाव-व्यंजना या अनुभूति से अपनी दृष्टि हटाकर लोक-मगल और नीतिवादिता पर उसे टिका देते हैं। कुछ अपनी अभिरुचि के कारण, कुछ युग की मान्यताओं के वशीभूत होकर वे कवियों और साधकों के अनुभूति पक्ष को अधिक महत्त्व नहीं दे सके हैं। उन्होंने उनसे भी परिपूर्ण साहित्यिकता की माँग की है। फलस्वरूप उनके लिए तुलसी ही सब-कुछ हो गए हैं, सरहपा, गोरख, कबीर और दादू बहुत छोटे पड़ गए हैं। अपनी महाकाव्य-संबंधी मान्यताओं कारण वे मुक्तक कवियों के प्रति भी न्याय नहीं कर सके हैं। इसी में सूरदास और आधुनिक स्वच्छंदतावादी कवि उन्हें उतने नहीं रुचते। फिर भी यह अवश्य है कि आलोचना को साहित्य की मर्यादा उन्हीं की रचनाओं के कारण मिली। डॉ० श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' (१९२३) 'हिंदी नवरत्न' के बाद दूसरी क्रांतिकारी रचना है। मौलिकता की दृष्टि से वह उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, परंतु उसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें काव्य और नाटक के साथ साहित्य की अन्य कोटियों की भी संर्वांगपूर्ण व्याख्या है। साहित्य को देखने की एक नवीन और संपूर्ण दृष्टि हमें इसमें मिलती है। बख्शी जी का 'विश्व-साहित्य' (१९२४) और 'हिंदी काव्य विमर्श' (१९२८) पश्चिमी प्रभाव की गहनता और व्यापकता की पहली बार सूचना देते हैं। वस्तुतः बख्शी जी का साहित्य द्विवेदी युग के आलोचना-साहित्य को परवर्ती युग के साहित्य से जोड़ता है।

परवर्ती युग के साहित्य में आलोचना की अनेक दिशाएँ विकसित हुई हैं और वह 'वादों में बँध गई हैं। १९२० के लगभग हिंदी-काव्य में

स्वच्छंदतावादी आंदोलन का जन्म हुआ। १९३० तक इस धारा का बहुत-सा काव्य सामने आ गया था और उसे लेकर समीक्षा के क्षेत्र में अनेक वाद-विवाद उठ रहे थे। इस साहित्य की दृष्टि विशुद्ध सौंदर्यवादी और साहित्यिक थी। पिछले युग के नैतिक और लोक मंगलवादी (सामाजिक) तत्त्वों से उसका विरोध था। फलस्वरूप नई स्वच्छंदतावादी समीक्षा की सृष्टि हुई जिसके दो पक्ष थे। एक पक्ष प्रभाववादी था जिसके प्रमुख आलोचक शांतिप्रिय द्विवेदी थे। यह पक्ष नये काव्य के भीतर बैठकर अपनी अभिरुचि के आधार पर उसकी विवेचना करता था—उसकी भाषा-शैली अलंकृत और भाव-धारा अस्पष्ट थी। गम्भीर साहित्य-विवेचन की दृष्टि से उसका बहुत महत्त्व नहीं था, परंतु इस आलोचना ने नये कवियों और उनके काव्य को जनता के सामने ऐसे आकर्षक ढंग से रखा कि वह शीघ्र ही लोकप्रिय बन गया। दूसरे वर्ग के आलोचक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, 'सुमन' आदि थे। उन्होंने नई काव्य-धारा में नवीन सांस्कृतिक तत्त्वों का अन्वेषण किया और उसे एक संपूर्ण साहित्यिक दृष्टि देने की चेष्टा की। यह चेष्टा बहुत-कुछ असफल रही। परंतु इसमें संदेह नहीं कि यह वर्ग न काव्य में नैतिक मान्यताओं को लेकर चला, न केवल उपयोगितावादी अथवा सौंदर्यवादी। उसने साहित्य का सम्बंध कवि के अंतर्मन से स्थापित किया और इस प्रकार मनोविज्ञान और साहित्य का पल्ला जोड़ा। इस समय तक मध्य वर्ग ने एक विशेष अभिजात्य प्राप्त कर लिया था और नये काव्य में इस अभिजात्य का संपूर्ण गौरव दिखलाई पड़ता था। नई स्वच्छंदतावादी समीक्षा ने उसे सैद्धांतिक गति दी। स्वयं कवियों ने अपनी रचनाओं की भूमिका और व्याख्या में बहुत-कुछ लिखा। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी के काव्य और साहित्य-सम्बंधी विचार साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में हिंदी की नई देन हैं। इनमें प्रसाद के सिद्धांत तो इतने विस्तृत और मौलिक हैं कि उनके आधार पर हम एक संपूर्ण साहित्य-शास्त्र का निर्माण कर सकते हैं। उनमें रोमांटिक दृष्टि का पूर्ण विकास दिखलाई देता है। इन

आलोचकों और कवियों ने काव्य के अतिरिक्त अन्य साहित्य-कोटियों के सम्बंध में भी लिखा परंतु वह उतना अधिक नहीं था।

१९३६ के बाद स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा का विरोध हुआ और विरोधी दल ने उसे पूँजीपतियों का काव्य बताया। काव्य और साहित्य के क्षेत्र में मार्क्सवादी आलोचना का पदार्पण हुआ और साहित्य को उपयोगितावादी सामाजिक मूल्यों पर परखा जाने लगा। इस वर्ग के आलोचकों के लिए संसार का सारा साहित्य वर्ग-युद्ध की उपज है और आलोचक को केवल यह देखना है कि साहित्य इस वर्ग-युद्ध में उत्कर्षोन्मुखी जन-शक्तियों का साथ देता है या ह्रासोन्मुखी बुर्जुआ-शक्तियों का। इस प्रकार साहित्यकारों के लिए कठघरों की योजना हुई और बड़े-बड़े आकर्षक-अनाकर्षक 'लेबिल' तैयार हुए। जो साहित्य इस वर्ग की मान्यताओं को लेकर चला वह प्रगतिवादी कहलाया, शेष अप्रगतिशील अर्थात् रूढ़िवादी रहा। एक दूसरा वर्ग फ्राइड की मान्यताओं को लेकर चला और साहित्य में अंतर्वृत्तियों, प्रमुखतः काम-सुख की खोज करने लगा। दमित यौन भावनाओं और अंतश्चेतनामूलक प्रवृत्तियों की खोज के आधार पर साहित्य छोटा-बड़ा उतरने लगा। इस तरह साहित्य-समीक्षा विशुद्ध साहित्यिक चीज़ न रहकर सामाजिक शास्त्र और मनोविज्ञान की उपज बन गई। यह एक प्रकार का अतिवाद था। कबीर और तुलसी से लेकर आजकल के साहित्य तक अर्थमूलक अथवा यौन-प्रवृत्तियों का प्रसार देखना हास्यास्पद बात थी। यह दूषित अतिवाद ही आज चलनशील मुद्रा बन गया है। मार्क्सवादी, फ्राइडवादी, अंतश्चेतनावादी समीक्षकों से साहित्य भर गया है और 'वाद'-विशेष से ऊपर उठकर विशुद्ध साहित्य दृष्टि, या किसी भी समन्वयात्मक दृष्टि से, साहित्य को देखने के लिए कोई तैयार नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि हमारी देशी मेधा पश्चिमी मेधा से इतनी चमत्कृत है कि पश्चिम के बदलते हुए मानों को छोड़ सकना उसके लिए असंभव है। परंतु पश्चिम जहाँ स्रोत की तरह बहता है,

वहाँ हम जड़ जमाकर बैठ जाते हैं, और मान साहित्य से भी अधिक बड़े बन जाते हैं। साहित्य के रस को साहित्य से बाहर अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष किसी में भी ढूँढने से ऐसी ही विडम्बना की संभावना है। संतों के लिए धर्म-मोक्ष ही सब-कुछ थे, रीतिवादियों के लिए काम ही साहित्य का मूल तत्त्व था और अब नए समीक्षकों के लिए अर्थ और काम ही मूल मानव-तत्त्व रह गए हैं। अवचेतन ने चेतन को एकदम स्थान-च्युत कर दिया है और कलाकार और कलाकृतियों का व्यक्तित्व विशृङ्खलित, असंयोजित और असंतुलित होकर बिखर गया है। आज साहित्य और उसकी समीक्षा भी यही विद्रूप बनाकार कुण्डली मारकर बैठ गए हैं।

फिर भी यह स्पष्ट है कि पिछले बीस वर्षों में हमने अपने साहित्यिक दृष्टिकोण का विस्तार किया है और हमारा समीक्षक विश्व-साहित्य की सम्पूर्ण प्रगति को सामने रखकर चलने लगा है। रस, रीति और अलंकार-निरूपण को ही अब आलोचना नहीं समझा जाता। हमारी साहित्य-परख पश्चिम-पूर्व की सभी कसौटियों से पुष्ट हो गई है और रचना और रचनाकार की समीक्षा में देश, काल, समाज, अंतः प्रवृत्ति, परम्परा और मौलिक प्रयोग के सभी तत्त्वों को समन्वित करके हम चल रहे हैं। अब काव्य ही हमारा एक-मात्र विषय नहीं रह गया है, साहित्य की सभी कोटियाँ हमारे लिए एक ही प्रकार की खोज और उपलब्धि का विषय बन गई हैं।

नवीन समीक्षकों में डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डॉ० रामकुमार वर्मा, इलाचंद्र जोशी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अज्ञेय, गुलाबराय, डॉक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्मा, डॉक्टर देवराज, विनयमोहन शर्मा, डॉक्टर सत्येन्द्र, जानकीवल्लभ शास्त्री, नलिन-विलोचन शर्मा, कन्हैयालाल सहल, देवराज उपाध्याय बलराज साहनी, मोहनसिंह सेंगर, शिवदानसिंह चौहान और कन्हैयालाल पोद्दार की रचनाएँ विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें संदेह नहीं

कि इनके द्वारा हमारे आलोचना-साहित्य की पुष्टि हुई है, परंतु पिछले दिनों में बहुत से समीक्षक वर्गदृष्टि को ही लेकर चलने लगे हैं और इसलिए उनकी समीक्षा एकांगी रह गई है। डॉक्टर रामविलास शर्मा और शिवदानसिंह-जैसे कृती समीक्षक मार्क्सवाद में बँध गए हैं और श्री इलाचंद्र जोशी एवं नगेन्द्र-जैसे उत्साही स्वप्नवादी बन गए हैं। वादों की इस भीड़ में संतुलित दृष्टि वाले समीक्षकों को कौन पूछेगा? प्राचीन संतों और भक्तों के साहित्य में भी दमित इच्छाएँ और अस्वस्थ अंतश्चेतना की खोज हो गई है और निर्माण और स्वस्थ समीकरण के स्थान पर विध्वस्त और पक्षपातपूर्ण बवंडर ही महत्त्वपूर्ण हो उठे हैं। यह असंतुलित दृष्टि स्वस्थ साहित्य के मूल्याकन में बाधक है। जब तक हम पश्चिम के अनुकरण को छोड़कर अपनी स्वस्थ साहित्यिक और समीक्षात्मक परंपरा स्थापित नहीं कर लेंगे, जब तक हम प्राचीन मानों और अत्याधुनिक पश्चिमी मानों के बीच में से साहित्य-समीक्षा की एक निश्चित मध्य रेखा नहीं बना सकेंगे तब तक हम वादों के दिवा-स्वप्न में ही भटकते रहेंगे। संतोष का विषय यही है कि हमारे बीच में ऐसे आलोचक भी हैं जो संतुलनशील समन्वित दृष्टि के महत्त्व को जानते हैं और इस दृष्टि के निर्माण में प्रयत्नशील हैं। साथ ही विश्वविद्यालयों के खोजी और अध्यापक पूर्व पश्चिम के मापदंडों को नए मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक उपादानों पर परख रहे हैं। इससे कालांतर में ऐसी नवीन संतुलित समीक्षा-दृष्टि के आविष्कार की आशा हो सकती है जो वादों से ऊपर उठकर एक सामान्य मानदण्ड के सहारे प्राचीन और नवीन कला-सृष्टियों का सम्यक् मूल्यांकन कर सकेगी।

(६) नाटक

इसमें सन्देह नहीं कि हमारी नाटक-परंपरा बहुत प्राचीन है, परन्तु यह कहना संभव नहीं कि वह कितनी प्राचीन है। ऋग्वेद में कुछ बड़े सूक्त-संवाद हमें मिलते हैं। जान पड़ता है, उस समय बड़े-बड़े सोमयज्ञ होते थे, और उस अवसर पर सोम के क्रय-विक्रय के संबंध में अभिनय

भी होते थे। भरत ने लिखा है कि देवासुर-संग्राम के बाद इन्द्रध्वज के महोत्सव पर देवताओं द्वारा नाटक का आरंभ हुआ। वैदिक काल के बाद इसमें 'नृत्त' की योजना हुई। बौद्ध पुस्तकों में नाटक के संबंध में अनेक उल्लेख मिलते हैं। 'विनय पिटक' से पता चलता है कि कांटा-गिरी की रंगशाला में संघाटी फैलाकर नाचने वाली नर्तकी के साथ मधुर आलाप करने वाले और नाटक देखने वाले अश्वजित और पुनर्वसु नाम के दो भिक्षुओं को प्रव्राजनीय दण्ड मिला और वे विहार से निर्वासित कर दिए गए। जान पड़ता है, रंगशाला के आनन्द को भिक्षु निंदनीय समझते थे, परन्तु जनता में उसकी लोकप्रियता भी घोषित होती है।

वैदिक, बौद्ध तथा रामायण-महाभारत-काल में नाटकों का प्रयोग भारत में प्रचलित था। आदि-काव्य रामायण में नाटकों का उल्लेख है और बालकाण्ड में 'नाटक संघ' शब्द आया है। महाभारत में भी 'रंभाभिसार' के अभिनय का विशद वर्णन है। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' में 'अमृत-मंथन' और 'त्रिपुर-दाह' का उल्लेख है। पतंजलि ने 'कंसवध' और 'बलिबध' नाटकों का उल्लेख किया है। इन प्राचीन नाटकों की कोई प्रतिलिपि नहीं मिलती। सम्भव है, अन्य प्राचीन साहित्य की तरह नटों को यह सामग्री कण्ठस्थ रही हो। कालिदास ने भी जिन भास, सोमिल्ल, कविपुत्र आदि नाटककारों का उल्लेख किया है, उनमें भी केवल भास के ही कुछ नाटक मिले हैं, जिन्हें लोग ईसा की कई शताब्दी पहले का मानते हैं।

कालिदास के समय (४५० ई० के लगभग) से १० वीं शताब्दी तक हमें संस्कृत नाटकों की परंपरा बराबर मिलती है। इन ६०० वर्षों में न जाने कितने नायक बने होंगे, परन्तु वे सब काल-कवलित हो गए। केवल कुछ इने-गिने नाटक हमें प्राप्त हैं। यही हमारी प्राचीन नाटक-संपत्ति है। यह स्पष्ट है कि कालिदास के समय से बहुत पहले संस्कृत-नाटकों का आरम्भ हो गया था, और कालिदास के नाटक वास्तव में

संस्कृत-नाटक-साहित्य के मध्याह्न के नाटक हैं। ४५० ई० से ८५० ई० तक के समय को हम संस्कृत-नाटक का सबसे सुन्दर काल कह सकते हैं। पाँचवीं शताब्दी में कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र', विक्रमोर्वशी' और 'शकुन्तला', सातवीं में श्रीहर्ष के 'नागानन्द' और 'रत्नावली' और शूद्रक के 'मृच्छकटिक' और ८ वीं शताब्दी के भवभूति के 'उत्तर-रामचरित','महावीर चरित' और 'मालती माधव'-जैसे विश्व-विश्रुत-नाटक हमें मिलते हैं। भवभूति के बाद न राजाश्रय रहा, न रंगमंच, न संस्कृत भाषा ही लोक भाषा रही। प्राकृत और अपभ्रंश का राज रहा। प्राकृत कालिदास के नाटकों में ही मिलने लगती है, परन्तु प्राकृत और अप-शभ्रं का कोई सम्पूर्ण नाटक प्राप्त नहीं है। मुस्लिम-काल में 'प्रबोध-चन्द्रोदय' जैसे कुछ नाटक अवश्य लिखे गए, परन्तु वे अधिक महत्त्व-पूर्ण नहीं है। केवल मिथिला और नेपाल में संस्कृत नाटकों की परंपरा अविच्छिन्न रूप से चलती रही। ८ वीं शताब्दी के भट्ट नारायण के 'वेणिसहार' और विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस', १० वीं शताब्दी के राजशेखर के 'बालरामायण', 'कर्पूरमंजरी' और 'बालभारत' और १३–१४ वीं शताब्दी के 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' प्रभृति नाटकों से भी हम परिचित हैं।

इसके बाद लगभग ४००–५०० वर्षों तक नाटक नहीं बने। रंगमंच ही नहीं था। जो रंगमंच था, वह भी भ्रष्ट हो चुका था। ८०० ई० से १८०० ई० तक हिन्दी की सारी साहित्य-सम्पत्ति काव्य है। परन्तु कुछ काव्यों और महाकाव्यों में नाटक के तत्त्व अवश्य थे। 'रामचरितमानस' (१५७४ ई०) और 'रामचन्द्रिका' (१६०० ई०) के संवाद इसके साक्षी हैं। केशवदास का एक नाटक 'विज्ञान गीता' (१६१०) भी हमें प्राप्त है जो 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की परंपरा से प्रभावित है। कहते हैं, नाटकों के अभाव को देखकर तुलसी ने 'रामलीला' की योजना की और सबसे पहली रामलीला उन्हीं के तत्त्वावधान में काशी में हुई। इस तरह मध्ययुग में राज्याश्रय के अभाव में लोक-रंगमंच की योजना हुई।

पश्चिमी प्रदेश में रामलीला के अनुकरण में कृष्णलीला (ब्रजलीला) का प्रचार हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि १७ वीं शताब्दी में भक्तों ने राम-कथा और कृष्ण कथा के आधार पर नाटकों के पुनरुत्थान की चेष्टा की। १७ वीं शताब्दी में लिखे हुए इस प्रकार के अनेक नाटक मिलते हैं। वे उस तरह के नाटक नहीं हैं, जिस तरह के नाटकों से हम परिचित हैं। उनमें गद्य विशेष नहीं। केवल 'संकेत' गद्य में हैं। शेष दोहा-चौपाई छन्द में काव्य ही है।

वास्तव में नाटक के लिए गद्य आवश्यक है। हिन्दी-प्रदेश में ब्रज-भाषा-गद्य का प्रचार १६ वीं शताब्दी में हो गया था। 'वार्ता'-ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं। परन्तु ब्रज-गद्य का प्रयोग नाटक-रचना के क्षेत्र में नहीं हुआ। ब्रजभाषा में सबसे पहला नाटक 'नहुष' है, जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता ने १८५९ ई० में लिखा। इसकी कोई भी प्रति उपलब्ध नहीं है। केवल कुछ अश राधाकृष्णदास ने 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में छपाया था। इस प्रकार भारतेन्दु के जन्म (१८५०) से पहले नाटक की कोई अवस्थिति हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में नहीं थी।

परन्तु १९ वीं शताब्दी में नाटक के विकास के कई साधन इकट्ठे हो गए थे। १७५७ई० की प्लासी की लड़ाई के बाद यह निश्चित हो गया था कि देश में एक नई राजनैतिक और सास्कृतिक शक्ति का प्रवेश हुआ था। परन्तु इस नई अंग्रेज शक्ति को स्थायित्व प्राप्त करने में लगभग सौ वर्ष लग गए। औरंगजेब की मृत्यु (१७०७ ई०) के बाद केन्द्रीय सत्ता धीरे-धीरे विशृङ्खल होती गई और राजपूत, जाट, मराठा, गोरखों और सिखों ने साम्राज्य स्थापना के स्वप्न देखने आरम्भ किये। दक्षिण में मैसूर का मुसलमान-राज्य एक-मात्र शक्तिशाली मुस्लिम राज्य रह गया था। यह निश्चित था कि भारतवर्ष कई स्वतन्त्र हिन्दू राज्यों में बँट जाता, परन्तु अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों के होते हुए भी ऐसा नहीं हो सका। १८०३ ई० में दिल्ली पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया और लगभग सारा हिन्दी-प्रदेश अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। परन्तु अभी

भी देश की राजनीति में उथल-पुथल मची हुई थी। १८५०ई० तक भारत के मानचित्र ने वह रूप ग्रहण कर लिया था जो १९४७ तक बना रहा।

उथल-पुथल के इस युग में नाटक और रंगमंच के जन्म या विकास की कोई कल्पना भी नहीं हो सकती थी। परन्तु १००० ई० के लगभग ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं। जिन्होंने जनता और पढ़े-लिखों का ध्यान नाटक की ओर आकर्षित किया? कुछ अंग्रेज विद्वानों ने भारतीय विद्वानों का ध्यान संस्कृत की ओर आकर्षित किया वे संस्कृत के नाटक-साहित्य से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने कुछ विशिष्ट नाटक अंग्रेजी और दूसरी यूरोपीय भाषाओं में अनूदित किये। इन नाटकों की बड़ी प्रशंसा हुई। इससे भारतीयों का ध्यान भी संस्कृत नाटकों की ओर गया और संस्कृत नाटकों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद होना आरम्भ हुआ। हिन्दी में पहला अनूदित नाटक राजा लक्ष्मणसिंह का 'शकुन्तला नाटक' (१८६१ ई०) है। धीरे-धीरे सभी प्रसिद्ध संस्कृत नाटक अनूदित हो गए, संस्कृत साहित्य के पठन-पाठन का भी प्रबन्ध होने लगा और इस तरह संस्कृत-नाटक एक बार फिर पाठ्य-पुस्तकों के रूप में सामने आये। १८३५ ई० में लार्ड मैकाले के प्रस्ताव पर अंग्रेजी राजभाषा बना दी गई। १८४४ ई० में लार्ड हार्डिङ्ग ने यह घोषणा कर दी कि नौकरियाँ अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों को दी जायँगी। अंग्रेजी का खूब प्रचार हुआ। अंग्रेजी भाषा का ज्ञान मध्यवित्त शहरी जनता के लिए अनिवार्य हो गया। सन् १८५७ ई० में उच्च शिक्षा की भी योजना की गई। कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित हुए! उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी जहाँ अंग्रेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त करते वहाँ अंग्रेजी नाट्यशास्त्र से भी अपरिचित नहीं रह सकते थे, विशेषतया शेक्सपियर के नाटकों से। अंग्रेजी साहित्य का प्राण शेक्सपियर ही माना जाता था और अंग्रेजों के सांस्कृतिक विकास पर उसकी स्पष्ट छाप थी। फिर कलकत्ता, बंबई और मद्रास में अंग्रेजों के अपने रंगमंच थे। उच्च श्रेणी के भारतीय अधिकारी इनसे परिचित हो चुके थे। शेक्सपियर, गोल्डस्मिथ

और एडीसन के नाटक खेले जाते। इसका ढाँचा बहुत-कुछ एलिजाबेथ कालीन रंगमंच था। इस प्रकार जहाँ एक ओर उन्नीसवीं शताब्दी के नाटककारों के सामने संस्कृत नाटकों का आदर्श पुनर्जीवित हुआ, वहाँ दूसरी ओर शेक्सपियर के नाटकों और एलिजाबेथ-रंगमंच का आदर्श भी सामने आया।

स्वयं हिन्दी-समाज ने भी इस समय तक नाटक के उपयोगी अनेक उपकरण इकट्ठे कर लिए थे। ईसाइयों के प्रवेश के साथ भारतीय धार्मिक वातावरण फिर एक बार आन्दोलित हो उठा। अनेक धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों का व्यंग सामने आया। नई शिक्षा नई मान्यताएँ स्थापित कर रही थी और प्राचीन आचार-विचार के प्रति शंका, व्यंग और उपहास का भाव होना अनिवार्य था। सामयिक विषमता प्रहसन का प्राण है। इसी से १९ वीं शताब्दी के प्रहसन बड़े प्रभावान् हैं। भारतेन्दु ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३) लिखकर इसका आरम्भ किया। उनका अपूर्ण नाटिका 'प्रेमयोगिनी' (१८७५) में मन्दिरों के पुरोहितों और अधिकारियों पर व्यंग स्पष्ट है, यद्यपि 'प्रेमयोगिनी' प्रहसन नहीं, गम्भीर यथार्थवादी रचना है। आर्य समाज की स्थापना (१८७५) के बाद प्रहसनों की बाढ़ आ गई। धार्मिक, सामाजिक और नैतिक विषमताएँ नाटक का सबसे रोचक अंग बनीं। परन्तु आर्य समाज के भक्ति-विरोधी, नीतिवादी, वातावरण ने वैष्णव भक्ति को नई चेतना भी दी। चन्द्रावली (१८७६) लिखकर भारतेन्दु ने इस चेतना को पुनर्जाग्रत किया। उन्नीसवीं शताब्दी की जनता कितनी धर्म-प्राण थी, यह पारसी-रंगमंच पर धार्मिक नाटकों की भरमार से स्पष्ट है। अब भी धर्म हमारे सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी प्रेरणा है। पौराणिक नाटक इसका प्रतिबिम्ब हैं। स्वयं भारतेन्दु के अपूर्ण नाटक 'सती प्रताप' (१८८४) ने पौराणिक नाटकों में योग दिया। उनसे पहले १८५९ ई० में उनके पिता 'नहुष' नाम से हिन्दी के सर्वप्रथम नाटक की रचना कर चुके थे। राष्ट्रीय जीवन के वैषम्यों ने 'विषस्य विषमौषधम्' (१८७५) और 'अंधेर नगरी' (१८८१)-जैसे

प्रहसन दिये। परन्तु भविष्य के नाटकों को सबसे बड़ी प्रेरणा राष्ट्रीयता के विकास से मिलेगी, यह इसी समय स्पष्ट हो गया था। नीतिवादी (ऐतिहासिक, १८८०) और भारत दुर्दशा (सामयिक, १८८०) राष्ट्रीय चेतना के विकास के ही दो रूप थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी की नाटकीय चेतना का सबसे सुन्दर और सबसे पूर्ण प्रतिनिधित्व भारतेन्दु के नाटकों में ही हो जाता है। उस समय अनुवादों की तीन दिशाएँ चलीं। संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी से नाटक अनूदित होने लगे। स्वयं भारतेन्दु के सात नाटक संस्कृत से अनूदित या संस्कृत-नाटकों पर आश्रित हैं। ये हैं रत्नावली (१८६८), पाखण्ड विडम्बन (१८७२), धनंजय विजय (१८७३), सत्य हरिश्चन्द्र (१८७५), मुद्राराक्षस (१८७५) और कर्पूर मंजरी (१८७६)। नाटक के क्षेत्र में भारतेन्दु की पहली ये रचनाएँ अनुवाद ही हैं। 'रत्नावली' 'शकुन्तला' के बाद संस्कृत की सबसे लोकप्रिय नाट्य-रचना रही है। १८६१ ई० में राजा लक्ष्मणसिंह ने 'शकुन्तला' का अनुवाद प्रस्तुत कर दिया था। इसीसे भारतेन्दु ने १८ वर्ष की आयु में 'रत्नावली' के अनुवाद की चेष्टा की जो असफल रही। १८७२ ई० से १८७६ ई० तक वे बराबर प्रतिवर्ष एक नाटक का अनुवाद करते रहे। मौलिक रचना की ओर उन्होंने उसी समय ध्यान दिया जब वे अनुवादों के काम में सिद्धहस्त हो चुके थे। उनके बाद तो अनुवादों की एक बड़ी परम्परा चल पड़ी। संस्कृत के लगभग सभी प्रसिद्ध नाटक हिन्दी में अनूदित हुए और कुछ तो कई-कई बार। भारतेन्दु बंगला-नाटक और रंगमंच से भी परिचित थे। अपने 'विद्यासुन्दर' (१८६८) को उन्होंने बंगला-कविता पर आधारित किया था और उनका 'भारत माता' नाटक (१८७७) बंगला-नाटक 'भारत जननी' का ही नया रूप है। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक युग में नाटकों की परम्परा भारतेन्दु के अनुवादों और मौलिक रचनाओं से ही स्थापित हुई। 'दुर्लभ बन्धु' (१८८०) के नाम से शेक्सपियर के 'मर्चेण्ट्स आफ वैनिस' नाटक का अनुवाद उन्होंने आरंभ

किया था। परन्तु वह अपूर्ण रहा।

भारतेन्दु के मौलिक नाटकों में हम समसामयिक सारी प्रवृत्तियाँ पाते हैं।

१. पौराणिक—सती प्रताप १८८४

२. ऐतिहासिक—नील देवी, १८८०

३. प्रहसन—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति १८७३, अंधेर नगरी १८८१ और विषस्य विषमौषधम। (भाण) १८७५

४. राष्ट्रीय या प्रतीकवादी नाटक (रूपकात्मक)—भारत दुर्दशा (१८८४), भारत जननी (१८७६)

५. यथार्थवादी—प्रेमयोगिनी १८७५

६. भक्ति-रसपूर्ण—चन्द्रावली १८७६

'चन्द्रावली' की कोई परम्परा नहीं चली और यथार्थवादी नाटकों की परम्परा ४५-५० वर्ष बाद लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में विकसित हुई। परन्तु पौराणिक, ऐतिहासिक और राष्ट्रीय नाटकों की परम्परा पूर्ण रूप से विकसित होती रही। इस परम्परा के नाटकों को हम आदर्शवादी नाटक कह सकते हैं। इतिहास और पुराणों के आदर्श पुरुषों को नाटक का नायक बनाया गया और उनके माध्यम से युग की राष्ट्रीयता की व्यंजना हुई। प्रहसन की अपनी अलग श्रेणी थी। परन्तु उसमें भी मुख्यतः आदर्शवादी शक्तियों की विजय ही सूचित होती थी। प्रहसनों में नवीन चाल-ढाल और अंग्रेजियत की हँसी उड़ाई जाती। प्राचीन रीति-रिवाज और संस्कार भी प्रहसन के विषय थे। पर उन्हें भी हम आदर्शवादी नाट्य-धारा के अंतर्गत रख सकते हैं।

रोमांटिक या स्वच्छन्दतावादी नाट्य-धारा में मुख्यतः प्रेममूलक पौराणिक या काल्पनिक कथाएँ आती हैं। संस्कृत नाटक मुख्यतः इसी श्रेणी के नाटक थे। शकुन्तला, विक्रमोर्वशी, मालविकाग्निमित्र, रत्नावली, मृच्छकटिक, मालती-माधव और कर्पूर मंजरी का विषय स्वच्छन्दतावादी प्रेम ही है। नाटककार जीवन के एक इसी क्षेत्र को लेकर चले हैं। काव्यात्मक भाषा और पद्यमय वार्तालाप एवं संगीत की योजना से

नाटककार अपनी वस्तु को साधारण लोक-जीवन से ऊपर उठा देता है। शकुन्तला में पृथ्वी और स्वर्ग को एक ही कल्पना-सूत्र में बाँध दिया गया है। नारी के प्रति एक तीव्र लालसा, एक उत्कट प्रणय-भावना और पुरुष के प्रति नारी का सम्पूर्ण आत्म-समर्पण इन नाटकों का विषय है। रामायण और महाभारत को लेकर वीर रस-प्रधान नाटक भी लिखे गए। नागानन्द, उत्तर रामचरित, महावीर चरित, वेणी संहार, बाल रामायण, बाल भारत, प्रसन्न राघव और हनुमन्नाटक प्रभृति नाटक धीरोदात्त नायक को हमारे सामने उपस्थित करते हैं। धीरोदात्त नायक की भावना ही स्वच्छन्दतावादी है। साधारण जीवन से कुछ ऊपर उठकर एक आदर्श जीवन को चित्रित करना ही जैसे नाटककार का ध्येय हो। मुद्राराक्षस की अपनी अलग श्रेणी है। प्राचीन राजनीतिक कूटनीति-प्रधान नाटक केवल यही है। यहाँ हम वस्तुवादी कला से थोड़े-बहुत परिचित होते हैं। 'प्रबोध-चन्द्रोदय' एक प्रतीकवादी नाटक है जिसमें मन की वृत्तियों को पात्रों का रूप दे दिया गया है। इस नाटक की भी अपनी अलग श्रेणी है। इन दोनों नाटकों का अनुकरण नहीं हुआ। युग की प्रवृत्ति आदर्श-मूलक और रोमांटिक नाटकों में ही तृप्त होती थी। अतः यही श्रेणियाँ संस्कृत नाटकों में अधिक मिलेंगी। हरिश्चन्द्र के अनूदित नाटक मुख्यतः स्वच्छन्दतावादी नाटकों की श्रेणी में आते हैं।

भारतेन्दु के कुछ समसामयिकों ने नाटकों की परंपरा को दृढ़ करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। यथार्थवादी नाटकों की तो कोई परंपरा नहीं चली। भारतेन्दु की इस श्रेणी की रचना 'प्रेमयोगिनी' अपूर्ण रही। आदर्शवादी और स्वच्छंदतावादी नाटकों की परंपरा चली और भारतेन्दु के बाद उनमें कोई विशेष विकास नहीं दिखलाई पड़ता।

आदर्शवादी नाटकों की पौराणिक धारा में महत्त्वपूर्ण रचनाएँ अधिक नहीं मिलतीं। उषा-हरण (चन्द्र शर्मा, १८८७), प्रह्लाद-चरित्र (श्रीनिवासदास, १८८८) मिथिलेश कुमारी (विन्ध्येश्वरीप्रसाद त्रिपाठी, १८८९), मोरध्वज (शालिग्राम वैश्य, १८९०), उषा-हरण (कार्तिकप्रसाद

वर्मा, १८९१), प्रद्युम्न विजय (अयोध्यासिंह उपाध्याय, १८९३), दमयन्ती स्वयंवर (बालकृष्ण भट्ट, १८९५), अभिमन्यु (शालिग्राम वैश्य १८९६), प्रह्लादचरितामृत (जगन्नाथशरण, १९००), सावित्री (देवराज, १९००) इस श्रेणी की कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। ऐतिहासिक धारा की रचनाएँ और भी कम हैं। महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं : संयोगिता स्वयंवर (श्रीनिवासदास, १८८६), अमरसिंह राठौर (राधाचरण गोस्वामी, १८९५), महाराणा प्रतापसिंह (राधाकृष्णदास, १८९८)। इनमें राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रतापसिंह' रंगमंच पर बहुत सफल रहा और बहुत दिनों तक बराबर खेला जाता रहा। काशी के रंगमंच पर यह कई बार खेला गया और इसकी लोकप्रियता ने साहित्यिकों को भी इसकी ओर आकर्षित किया। राष्ट्रीय नाटकों की परंपरा खूब चली। भारतेन्दु के भारत-दुर्दशा(१८८०) और भारत जननी (१८७६) इस श्रेणी की पहली चीजें हैं। बाद की कुछ रचनाएँ हैं गौ-संकट (अंबिकादत्त व्यास, १८८७), भारत सौभाग्य (अंबिकादत्त व्यास, १८८७) भारत ललना (खड्गबहादुर मल्ल, १८८८), भारत दुर्दिन (जगतनारायण शर्मा, १८८९), भारत सौभाग्य (बदरीनारायण चौधरी, १८८९), वर्तमान दशा (पं० दुर्गादत, १८९०), देश-दशा (गोपालराम गहमरी, १८९२) और भारत-हरण (देवकीनन्दन त्रिपाठी, १८९२)। प्रहसनों की संख्या सबसे अधिक है। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी के नाटकों का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग प्रहसन ही है। सामाजिक उथल-पुथल और वर्ग-वैषम्य के उन दिनों में नाटककार का यही सबसे तीव्र अस्त्र था। ये प्रहसन मेलों-उत्सवों के बीच में खेले जाते और जनता का साधुवाद प्राप्त करते। 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३) और 'विषस्य विषमौषधम्' (१८७५) लिखकर भारतेन्दु ने पहली बार समाज की मान्यताओं पर कड़ी चोट की। उनका 'अन्धेर नगरी' (१८८१) प्रहसन तो बड़ा ही लोकप्रिय रहा। इसके बाद अनेक प्रहसन लिखे गए। जय नारसिंह की (देवकीनन्दन त्रिपाठी, १८७६), विवाह-विडम्बना (१८८४), बाल विवाह विदूषक (देवदत्त मिश्र,

१८८५), कलियुग और घी (अंम्बिकादत व्यास, १८८६), कलियुगी जनेऊ (देवकीनन्दन त्रिपाठी, १८८६), कलि कौतुक (प्रतापनारायण मिश्र १८८६), मैं तुम्हारी हूँ (सतीशचन्द्र वसु, १८८६), बूढ़े मुँह मुँहासे (राधाचरण गोस्वामी १८८७), तन-मन-धन गुँसाईजी के अरपन (राधाचरण गोस्वामी, १८९०), कलियुगी विवाह (देवकीनंदन त्रिपाठी, १८९८), भंग-तरंग (राधाचरण गोस्वामी, १८९८), ग्राम पाठशाला और निकृष्ट नौकरी (काशीनाथ खत्री, १८९३), और महा-अंधेर नगरी (विजयानन्द त्रिपाठी, १८९३) उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रहसन हैं। इन प्रहसनों ने समाज के किसी भी अंग को अछूता नहीं छोड़ा है।

स्वच्छन्दतावादी नाटकों की परम्परा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की चन्द्रावली नाटिका (१८७६) से चली। वैसे यह नाटक वैष्णवी-भक्ति का नाट्य स्पष्टीकरण-मात्र है, परन्तु प्रसंग-विधान, संवाद, कवित्तों, सवैयों, और पदों के प्रयोग ने इसे रोमांटिक रूप दे दिया है। अन्य नाटकों में शृङ्गार रस को ही प्रधानता मिली और प्रसंग-विधान में स्वतन्त्रतापूर्वक कल्पना का उपयोग किया गया। सज्जाद-सम्बुल (केशवराम भट्ट, १८७७), दुःखिनी बाला (राधाकृष्णदास, १८८०), रणधीर प्रेममोहिनी (श्रीनिवासदास, १८८०), तप्ता-संवरण (श्रीनिवासदास, १८८३), ललिता (अम्बिकादत्त व्यास, १८८४), मदन मंजरी (अमनसिंह गोतिया, १८८४), माधुरी (कृष्णदेव शरणसिंह १८८८), मयंक मंजरी (किशोरीलाल गोस्वामी, १८९१), लावण्यवती सुदर्शन (शालिगराम वैश्य, १८९८) और मालती-बसंत (वज्रप्रसाद, १८९९) इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं।

रास और रामलीला के रंगमंच भी चलते रहे परन्तु इन रंगमंचों के लिए जो रचनाएँ उपस्थित हुईं, वे अधिक साहित्यिक नहीं थीं। केवल कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ जैसे महारास (हरिहरदत्त दुबे, १८८४; खड्ग बहादुर मल्ल, १८८५)। ख्यालों, सांगीतों, नौटंकियों और भगतों की

अनगिनत संख्या मिलती है, जो यह स्पष्ट करती है कि रंगमंच के लिए जनता के हृदय में कितना चाव था। यह शोक का विषय है कि साहित्यिक नाटककार जनता के रंगमंच-सम्बन्धी इस उत्साह से कोई लाभ नहीं उठा सके और पारसी रंगमंच बाजी ले गया। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस दिशा में बड़ा प्रयत्न किया परन्तु वे कृतकार्य नहीं हो सके।

१९१०-११ ई० तक परिस्थिति लगभग वही रही जो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम पच्चीस वर्षों में थी। केवल प्रवृत्तियाँ अधिक दृढ़ हो गईं। १९०६ ई० में बङ्ग-भङ्ग-आंदोलन के कारण राष्ट्रीयता का विकास बड़ी तीव्रता से हुआ और अनेक ऐतिहासिक वीर पुरुष नाटकों के नायक बने। इन दस वर्षों के नाटकों में प्रमुख थे बुद्ध के चरित्र (महेन्द्रनाथ, १९०२) वीर जयमल (गंगाप्रसाद गुप्त, १९०३), महारानी पद्मिनी (राधाकृष्णदास, १९०३), पुरु-विक्रम (शालिगराम वैश्य, १९०६), राजसिंह (हरिप्रसाद जिंजल, १९०६), सेनापति उदाल (वृन्दावनलाल वर्मा, १९०९), पौराणिक नाटकों में प्रभास-मिलन (बल्देवप्रसाद मिश्र, १९०३), जया (हरिप्रसाद जिंजल, १९०३), चन्द्रकला भानुकुमार (देवीप्रसाद राय, १९०४), उषा (बलवंतराय शिन्दे, १९०४), कृष्ण-लीला (रूपनारायण पाडेय, १९०६), कृष्ण-सुदामा (शिवनंदन सहाय, १९०७), राजा हरिश्चन्द्र (कुशीराम, १९०७) और अनर्घ नल चरित्र (सुदर्शनाचार्य, १९०८) प्रधान हैं। भक्ति-प्रधान नाटक कम लिखे गए। उद्धव (ब्रजनन्दनसहाय १९०९ ई०) इस श्रेणी का एक-मात्र नाटक है। उन्नीसवीं शताब्दी के नाटक-साहित्य में प्रहसन का प्रमुख स्थान था। बीसवीं शताब्दी में अन्य साहित्य-श्रेणियों की तरह नाटक में भी गम्भीरता की मात्रा अधिक हो गई। इसी कारण प्रहसन भी कम लिखे गए।

यह तो हुए आदर्शवादी नाटक।

स्वच्छन्दतावादी नाटकों की परम्परा में किसी भी महत्त्वपूर्ण नाटक का नाम नहीं मिलता। पौराणिक कथाओं को लेकर कुछ शृङ्गार-प्रधान

अवश्य लिखे गए, परन्तु स्वतन्त्र कल्पना का सहारा लेकर प्रेम-प्रसंगों की की योजना नहीं हुई। बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में समाज में नैतिकता की प्रधानता हो चली थी। अर्थ की महत्ता बढ़ गई थी और उन्नीसवीं शताब्दी के ज़िन्दादिल नाटककार विदा ले रहे थे। वास्तव में बीसवीं शताब्दी का पहला दशक नाट्य-कला के विकास और नाटकों की दृष्टि से ज़रा भी महत्त्वपूर्ण नहीं है।

१९१० से १९३६ ई० ई० तक के नाटककारों में जयशंकरप्रसाद को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। नाटक के क्षेत्र में उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ वे रूपक हैं जो इन्दु (१९०९–१६) में प्रकाशित हुए और जिन्हें हम आज 'एकांकी' का नाम दे सकते हैं। इन रूपकों में प्रसाद की नाटकीय कला का केवल अविकसित रूप ही मिलता है। ये प्रारम्भिक रचनाएँ हैं सज्जन, कल्याणी-परिणय, करुणालय और प्रायश्चित्त। इनमें करुणालय, विश्वामित्र-रोहिताश्व की वैदिक कथा पर आश्रित गीति-नाट्य है। 'सज्जन' में महाभारत के वन पर्व पर आधारित खण्ड-कथा का नाट्य-रूप है। 'कल्याणी-परिणय' और 'प्रायश्चित्त' ऐतिहासिक हैं। पहले में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सिल्यूकस-पुत्री के वरण की कथा है और दूसरी में पृथ्वीराज-जयचन्द के संघर्ष की छाया है। इन प्रारम्भिक रचनाओं को हम प्रसाद के प्रयोग कह सकते हैं। इनसे यह तो स्पष्ट ही है कि वे ऐतिहासिक इतिवृत्त को नाटकीय रूप देने की चेष्टा कर रहे थे। 'राज्यश्री' (१९१५) और 'विशाख' (१९२१) में प्रसाद ने ऐतिहासिक आधार को स्वीकार किया था, परन्तु 'राज्यश्री' के प्रारम्भिक संस्करण में इतिहास का ताना-बाना उतने कौशल से नहीं बुना गया था और 'विशाख' की कथावस्तु कल्हण की 'राजतरंगिणी' पर आधारित होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है—स्थानीय राजा की चरित्रभ्रष्टता का प्रकाशन ही कथा का लक्ष्य है। वस्तुतः इन दोनों नाटकों में प्रसाद की उस नाटकीय प्रतिभा का शतांश भी ईहीं मिलता जो परवर्ती नाटकों में प्रमुख रूप से सामने आती है।

प्रसाद के परवर्ती नाटकों को हम तीन श्रेणियों में रख सकते हैं। पहली श्रेणी ऐतिहासिक नाटकों की है। ये हैं 'अजात शत्रु' (१९२२), 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' (१९२८), 'चन्द्रगुप्त-मौर्य' (१९३१) और 'ध्रुवस्वामिनी' (१९३३)। दूसरी श्रेणी में हम 'जनमेजय के नागयज्ञ' (१९२६) को रख सकते हैं, जो एक पौराणिक नाटक है। तीसरी श्रेणी में 'कामना' (१९२७) और 'एक घूँट' (१९२९) नाम के रूपात्मक नाटक आते हैं। 'कामना' अन्तः प्रवृत्तियों के मानवीकरण के आधार पर लिखा हुआ 'प्रबोध चन्द्रोदय' की श्रेणी का रूपक है। 'एक घूँट' को हम समस्या-मूलक नाटक कह सकते हैं। नाटकीय दृष्टि से वह प्रसाद की सबसे असफल रचना है।

प्रसाद के नाटक मूलतः आदर्शवादी स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) नाटक हैं। उनकी अपनी अलग परम्परा है। इस प्रकार के नाटकों में कथानक बहुत ही जटिल और मिश्र होते हैं। मुख्य कथावस्तु अनेक गौण कथानकों या उपकथाओं में इस तरह उलझी होती है कि उसको अलग करना कठिन हो जाता है। चरित्र स्वच्छन्द, आदर्शवादी और कवि-दार्शनिक के समान होते हैं। नाटक के स्वच्छन्द और कवित्वपूर्ण वातावरण में ऐसे ही पात्रों की योजना स्वाभाविक लगती है। इन नाटकों की भाषा-शैली बहुत ही कवित्वपूर्ण, अलंकृत एवं गद्यगीतों के समान होती है। कवित्वपूर्ण वातावरण उपस्थित करने के लिए रहस्यपूर्ण और कलापूर्ण गीतों की योजना भी चलती है। जहाँ तक कवित्व का सम्बन्ध है, ये नाटक नाट्य-साहित्य की विभूति हैं। इनका अपना सौन्दर्य है। परन्तु रङ्गमंच की दृष्टि से इनमें अनेक दोष हैं और ये अभिनय के अयोग्य, जटिल, दुरूह और जन-रुचि के विरुद्ध हैं। पाठ्य-नाटकों के रूप में ही विशेष लोकप्रिय रहे हैं।

इस बीच में अन्य नाटककार भी आये। इनमें अधिकांश पाठ्य ही रहे, कारण कि रंगमंच का विकास अब भी नहीं हो पाया था। आदर्श-वादी नाटकों में पन्ना (कृष्णप्रकाशसिंह अखौरी, १९१५), चन्द्रगुप्त

(बदरीनाथ भट्ट, १६१५), संयोगिता-हरण (हरिदास माणिक, १६१५), दयानन्द (सुदर्शन, १६१७), सिद्धार्थकुमार (चन्द्रराज भण्डारी, १६२२), गोस्वामी तुलसीदास (बदरीनाथ भट्ट, १६२२), महात्मा ईसा (बेचन शर्मा 'उग्र', १६२२), पद्मिनी (जेबा, १६२३), सम्राट् अशोक (चन्द्रराज भण्डारी, १६२३), संग्राम (प्रेमचंद, १६२३), तुलसीदास (पुरुषोत्तमदास गुप्त, (१६२४), कर्बला (प्रेमचंद,१६२४), वीर छत्रसाल (कन्हैयालाल, १६२५), दुर्गावती (बदरीनाथ भट्ट, १६२८), प्रताप प्रतिज्ञा (जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, १६२८), पंजाब केसरी (जमुनादास मेहरा, १६२८), चन्द्रगुप्त मौर्य (उदयशंकर भट्ट, १६३१)), विक्रमादित्य उदयशंकर भट्ट, १६३३), और तुलसीदास (जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, १६३४) महत्त्वपूर्ण हैं। रंगमंच की दृष्टि से इनमें से कई नाटक बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। वे कई बार सफलतापूर्वक खेले गए हैं। परन्तु प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की उदात्त कल्पना-भूमि, काव्यात्मक भाषा-शैली और काव्यात्मकता उनमें नहीं है। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की कोटि ही भिन्न है। १६१६-७ के लगभग द्विजेन्द्रलाल राय के सब नाटक हिन्दी में अनूदित हो गए थे और हिन्दी-रंगमंच पर हिन्दी-नाटकों की तरह खेले जाते थे। इन नाटकों ने हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों को प्रभावित किया। प्रसाद के नाटक राय की कला को आत्मसात् करते हुए भी एक नई मौलिक सृष्टि उपस्थित करते हैं। प्रहसनों की परंपरा भी बराबर चलती रही, परन्तु मौलियर के कुछ अनुवादों और उनके आधार पर लिखी रचनाओं के अतिरिक्त प्रहसन की कला का कोई विकास नहीं हुआ। वास्तव में २०वीं शताब्दी में प्रहसन सामाजिक क्रांति का संदेशवाहक नहीं रह गया। वह साहित्यिक रचना-मात्र रह गया है। इसी से उसमें उन्नीसवीं शताब्दी के प्रहसनों-जैसे प्राण नहीं हैं।

१६१० ई० के बाद के स्वच्छन्दतावादी नाटकों में अंजना (सुदर्शन, १६२३), वरमाला (गोविन्दवल्लभ पन्त), प्राणेश्वरी (धनीराम 'प्रेम', १६३१) ही कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि

इस क्षेत्र में अधिक रचनाएँ प्राप्त नहीं हैं। जान पड़ता है, राष्ट्रीय भावनाओं का नाटकीय क्षेत्रों में बहुत अधिक प्रभाव पड़ा और आदर्शवादी रचनाओं की प्रधानता रही। वैसे 'अंजना' और 'वरमाला' दोनों का विषय वैज्ञानिक है, परन्तु कथानक की शिथिलता एवं स्वच्छन्दता और परिस्थितियों की अतिनाटकीयता एवं काव्यात्मकता के कारण हम उन्हें स्वच्छन्दतावादी ही मानेंगे! इन नाटकों का विषय पौराणिक होने पर भी इनमें मानवीयता का विकास दिखाया गया है। घटनाओं और चरित्रों में इस दृष्टि से अनेक परिवर्तन किये गए हैं। इस क्षेत्र में भी द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक हिन्दी-नाटककारों के पथगामी बने। इन नाटकों में पौराणिक कथाओं की अतिरंजकता को दूर कर दिया है और चरित्रों को साधारण मानव-धरातल तक लाने की चेष्टा की गई है।

१९३१ के लगभग हिन्दी-नाटकों में नये सिरे से यथार्थवादी या वास्तुवादी नाटक-कला का प्रदर्शन हुआ। इसके प्रवर्तक पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र थे। उन्होंने संन्यासी (१९३१) राक्षस का मन्दिर (१९३१), मुक्ति का रहस्य (१९३१), राजयोग (१९३१) और सिंदूर की होली (१९३४) में बर्नार्ड शॉ और इब्सन प्रभृति कलाकारों की कला को हिन्दी के क्षेत्र में पहली बार उतारा। अब तक नाटककारों के आदर्श कालिदास, शेक्सपियर और द्विजेन्द्रलाल राय थे। इन नाटकों के द्वारा नये आदर्श क्षेत्र में आये। ये सब नाटक समस्या-नाटक थे और एक तरह से भारतेन्दु की 'प्रेमयोगिनी' (१८७५) की कला को आगे बढ़ाते थे। इन नाटकों को हम उन्नीसवीं शताब्दी के पहले तीन दशकों के आदर्शवादी स्वच्छन्दतावादी नाटकों की प्रतिक्रिया के रूप में भी ग्रहण कर सकते हैं ऐतिहासिक नाटकों से वर्तमान की किसी समस्या का हल नहीं होता, परन्तु नाटककार वर्तमान को छोड़कर चल ही नहीं सकता। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में अनेक आधुनिक समस्याएँ स्पष्ट रूप से गुम्फित हो गई हैं। फिर नाटककार अपने समय की समस्याओं और समसामयिक जीवन से भागे क्यों? वह उसी को अपने नाटकों का विषय क्यों नहीं

बनाये ? कदाचित् इसी विचार-धारा के साथ मिश्र ने नाटकीय क्षेत्र में पदार्पण किया। परन्तु उन पर भी आदर्शवादी विचार-धारा का प्रभाव पड़ा और जहाँ भाषा-शैली और 'टेकनिक' में वह शॉ और इब्सन को आत्मसात् करके चले, वहाँ उनका दृष्टिकोण पूर्णतः भौतिक और वस्तु-वादी नहीं बन सका। ये वस्तुवादी नाटक भाषा-शैली, संवाद, नाटकी-यता और अन्य दृष्टि से पिछले नाटकों से भिन्न हैं। नाटककार जैसे जीवन का एक प्रतिबिंब ही उतारना चाहता है। सब-कुछ जैसे कटा-छँटा हो। स्वगत, अश्राव्य, भावुकतापूर्ण संलाप, भाषा की आलकारिकता इत्यादि को इन नाटकों में किंचित् भी स्थान नहीं है। उनकी भी अपनी रूढ़ियाँ हैं—कभी-कभी वह बुरी तरह दबा देती हैं—परन्तु आदर्शवादी स्वच्छन्दतावादी नाटकों की रूढ़ियों से वह नितांततः भिन्न हैं।

पिछले पन्द्रह वर्षों में नाटक की कला आदर्शवादी, ऐतिहासिक और वस्तुवादी कोटियों को लेकर और भी विकसित हुई है। आदर्शवादी नाट्य-कला के क्षेत्र में उदयशंकर भट्ट और सेठ गोविन्ददास की रचनाएँ प्रमुख हैं। उदयशंकर भट्ट ने ऑपेरा के ढंग के काव्यात्मक गीति-नाट्यों की भी सृष्टि की है और विकास, कुलीनता, सप्तरश्मि, हर्ष, पंचभूत, शशिगुप्त और पाकिस्तान नाटकों में सेठ गोविन्ददास की नाट्य-कला के विविध रूप हमें प्राप्त होते हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क के 'जय-पराजय' (१९३७) और 'स्वर्ग की झलक' (१९३८) नाटकों को भी हम इसी श्रेणी में रख सकते हैं। यद्यपि बाद में उन्होंने एकांकी के रूप में गृहस्थी के यथार्थोन्मुख चित्र देकर एक नई वस्तुवादी कला की सूचना दी है। 'आधी रात' (१९३७) के बाद लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपनी नाट्य-कला में परिवर्तन की सूचना दी है। उन्होंने 'गरुड़ध्वज', 'नारद की वीणा' और 'वासवदत्ता' नाम से तीन ऐतिहासिक नाटकों की सृष्टि की है, परन्तु ये नाटक प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों से भिन्न विचार-पद्धति पर खड़े किये गए। इनमें वस्तुवादी नाटकों का कला-विन्यास मिलेगा और ऐतिहासिक वस्तु को समस्याओं के भीतर से देखने का प्रयत्न दिखलाई देगा। डॉ०

सत्येन्द्र का 'मुक्ति यज्ञ' (१९३८), जनार्दनराय नागर का 'आधी रात' (१९३८), हरिकृष्ण प्रेमी का 'रक्षा बन्धन' (१९३९), मुरारि मांगलिक का 'मीरा' (१९४०), और विश्वम्भर सहाय का 'बुद्धदेव' हमारे परवर्ती रंगचीय नाटक हैं। १९४० के बाद हिन्दी में रंगमंच के सम्बन्ध में एक नये आन्दोलन का जन्म हुआ और कम्युनिस्ट लेखकों के प्रयत्न से 'इंडियन नेशनल थियेटर' नाम की एक संस्था का आविर्भाव हुआ। इस संस्था ने किसान-आंदोलन, बंगाल के अकाल और जापानी आक्रमण को लेकर अनेक जन-नाटक उपस्थित किये। विश्वविद्यालयों के रंगमंचों के लिए नये एकांकी नाटकों की भी सृष्टि हुई और अनेक श्रेष्ठ एकांकीकार हमारे सामने आये जिनमें उपेन्द्रनाथ अश्क, भुवनेश्वर, डॉ० रामकुमार वर्मा और उदयशंकर भट्ट प्रमुख हैं। डॉ० रामकुमार के नाटकों में हमें काव्य-दृष्टि और रंगमंचीय कला का बहुत सुन्दर सम्मिश्रण मिलता है। रूप-विधान की दृष्टि से भी ये रचनाएँ उत्कृष्ट हैं। पृथ्वीराज की आँखें (१९३६), रेशमी टाई (१९४१), चारुमित्रा (१९४२), सप्तकिरण (१९४६), शिवाजी (१९४८) और कौमुदी महोत्सव (१९४९) डॉ० रामकुमार के श्रेष्ठ एकांकी-संग्रह और नाटक हैं। रेडियो के लिए आधे घंटे तक चलने वाले ध्वनि-प्रधान एकांकियों की भी बहुत बड़ी संख्या में सृष्टि हुई है और उनमें नाट्य-कला का एक नया ही रूप हमें दिखलाई पड़ता है।

: ५ :

उपसंहार

संक्षेप में हिन्दी साहित्य के विकास की यह रूपरेखा है। प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य की भाषा-सम्बन्धी परिस्थितियाँ विचित्र हैं और एक तरह से यह साहित्य हिन्दी के पूर्वरूप अपभ्रंश के अन्तर्गत आता है परन्तु हिन्दी की प्रादेशिक शैलियाँ अपभ्रंश का ही विकास है। और उनमें अपभ्रंश काव्य की प्रवृत्तियों का ही विकास हुआ है। फलतः यदि हम इस संधि काल के साहित्य को हिन्दी के अन्तर्गत ले लें तो बुरा भी नहीं है। इससे हमें पूर्ववर्ती साहित्यिक प्रवृत्तियों का आभास हो जाता है और इस प्रकार हिन्दी साहित्य हमारी भारतीय साहित्य-परंपरा की एक निश्चित कड़ी बन जाता है। ७५० ई० से १४०० ई० तक यह संधि काल का काव्य चलता है। इसमें सन्देह नहीं कि १६०० ई० के लगभग देशी शैलियों को महत्ता मिलने लगी थी और रामानन्द-नामदेव-विद्यापति तक आते-आते प्रादेशिक शैलियाँ काव्य-क्षेत्र में आ गई थीं।

परन्तु पंडितवर्ग में हिन्दी को मान्यता लगभग दो शताब्दियों बाद मिली। केशवदास के समय तक हिन्दी-काव्य गृहस्थों के मनोरंजन, आनन्द और प्रेरणा का विषय नहीं था। उसके सूत्र वीतरागी सिद्धों, सन्तों और भक्तों के हाथ में थे। फलतः उसमें साहित्यिक परिपाटियों का अधिक पालन नहीं था। सिद्धों और सन्तों ने अपने काव्य को अपनी साधना और अनुभूति की पृष्ठभूमि पर खड़ा किया उनके लिए साहित्य-परिपाटी का ज्ञान आवश्यक ही नहीं था। भक्तों के काव्य का आधार

पुराण थे, यद्यपि वे पौराणिक कृतियों के अनुवाद की ओर प्रवृत्त नहीं हुए पौराणिक इष्टदेवों को उन्होंने अपनी रागात्मिका वृत्ति के विकास का साधन बनाया। भक्तों में सूर, तुलसी और मीरा का काव्य प्रमुख है। मीरा अपनी अनुभूति के बल पर ही बड़ी है। सूर और तुलसी भक्त होकर भी पंडित कवि हैं। तुलसी ने अपनी रचनाओं को अपने युग की सम्पूर्ण साहित्यिकता दी है—बरवै, कवित्त, दोहे, कुण्डलिया-जैसे सामयिक साहित्य में प्रयुक्त सभी छन्दों का प्रयोग उसमें है। साथ ही उन्होंने संस्कृत-नाटकों और कालिदास-माघ प्रभृति कवियों की रचनाओं से भी लाभ उठाया है। इस प्रकार उनके काव्य में पौराणिक संस्कृति के साथ हमारी अपनी काव्य-संस्कृति भी पूरे बल के साथ मिलती है। सूरदास का काव्य जयदेव और विद्यापति की गीति-पद्धति पर खड़ा है और इन दोनों कवियों में हमें उत्तरकालीन संस्कृत कवियों और आचार्यों की काव्य-रूढ़ियाँ और नायक-नायिका सम्बन्धी मान्यता पूर्णतया मिलती हैं। फलस्वरूप हमारा कृष्ण-काव्य संस्कृत की साहित्य-कला और लोक-जीवन की गीति-कला से एक साथ पुष्ट है। इस युग में कबीर और दादू-जैसे सन्त साधक हमें बौद्ध सिद्धों और नाथपन्थी योगियों की ही याद दिलाते हैं। सामन्ती काव्य-कला की विवेचना की दृष्टि से केवल विद्यापति ही महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार प्राचीन हिन्दी-साहित्य वीतरागी सन्तों, भक्तों, साधकों और जीवन धर्मी महामनीषियों की सृष्टि था। फलतः उसमें जीवन के प्रति विरक्ति ही अधिक मिलती है और उसकी दृष्टि पर-लोकमुखी है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उसमें उपनिषद्, गीता और भागवत में विकसित सन्त-संस्कृति का पूर्ण उन्मेष है। वह काव्य-मात्र नहीं है, वह तो जीवन-व्यापी साधना है। जायसी और सूफियों के काव्य को भी हम इसी श्रेणी में रख सकते हैं।

संस्कृत काव्य और नाटक सामन्ती-साहित्य हैं। उनमें राजाओं, सामन्तों और उच्च वर्गों की ही सौन्दर्य दृष्टि-विकसित हुई है। हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक वर्षों में यह वर्ग संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश

को प्रधानता देता रहा। फलतः जननाट्य या 'वेसिलवसना' में कोई विशिष्ट रचना हमारे सामने नहीं आई। सामन्तों का आश्रित पंडित और राज-कवि वर्ग संस्कृत को ही प्रधानता देता रहा। राजपूतों के दरबारों में विशेष कारणों से अपभ्रंश को भी आश्रय मिला और अपभ्रंश का सामन्ती-काव्य हिन्दी सामन्ती-काव्य का ही पूर्व रूप है। इसके विकास का समय भी ७०० ई० से १४०० ई० तक है। हिन्दी सामन्ती-काव्य का आरम्भ १६०० ई० के लगभग होता है। बीच के वर्षों में हिन्दू राजाश्रय लुप्तप्राय हो गए थे और अकबर के समय (१५५६-१६०५) में ही उनका पुनरुद्धार हुआ। १८५० तक इस राजाश्रय की परंपरा चली आती है और यही समय हमारे रीति-काव्य के उत्थान का है।

रीतिकाल का कवि और आचार्य सन्तों और भक्तों से भिन्न प्राणी था। साहित्य उसका उपजीव्य था। पांडित्य उसका धर्म था। उत्तरकालीन संस्कृत कवि और आचार्य उसके आदर्श थे। वह अलंकारों और छन्दों का पंडित था और उसका मस्तिष्क ज्योतिष, वैद्यक, गणित और न जाने कितने शास्त्रों का कोष था। इस पंडित कवि में भावुकता की मात्रा उतनी नहीं थी और उसका दृष्टि-क्षेत्र भी सीमित था। प्राचीन कवियों के काव्य और उनकी सूक्तियों के आधार पर वह अपनी मौलिकता का प्रकाशन करना चाहता था। उसका सम्बन्ध बड़े-बड़े नगरों के ऐश्वर्य से था और इसलिए उसका दृष्टिकोण बहुत-कुछ नागरिक था। स्वच्छन्द काव्य-स्फूर्ति के नाम पर उसके पास बहुत अधिक नहीं था। उसका काव्य और पांडित्य भी साधारण जनता के लिए नहीं था—वह केवल कुछ अति संस्कृत उच्चवर्गीय नागरिक जनों, ऐश्वर्य और विलास में पलने वाले रूढ़िप्रिय अमीरों के लिए थे। जनता से उसका सम्बन्ध यही है कि उसके नायक-नायिका राधाकृष्ण मान लिए गए थे जिनके प्रति जन-भावना में भक्ति का संचार था। परन्तु रीति-काव्य के ये राधाकृष्ण सामान्य धीर-ललित नायक-नायिका से अधिक कुछ भी नहीं थे। युग की विलासी और कामकौतुकी प्रकृति ने उनका साधारणीकरण कर दिया था। एक

तरह से इस युग का अधिकांश काव्य या तो प्रशस्ति-मात्र है, या सामान्य जीवन के लिए व्यवहार-नीति की बातें कहता है, या कामिनी के नख-शिख और अभिसार-लीला में सिमट जाता है। जन-जीवन के लिए यह काव्य स्पष्ट रूप से अहितकर था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संपूर्ण प्राचीन काव्य और साहित्य के प्रणेता सामान्य जन-जीवन से दूर थे। बौद्ध-सिद्ध, निर्गुणी सन्त, जैनाचार्य और वैष्णव भक्त जन-जीवन के वृत्त पर ही घूमते रहे। उनमें ज्ञान की ज्योति है, साधना का प्रकाश है, आदर्श की मशाल है परन्तु साहित्य केवल उतना ही है जितना धर्म और दर्शन की सीमाओं में समा सका है। जन-जीवन को बार-बार छूकर, उसे ऊपर उठाकर भी वे जनता को आशाकांक्षाएँ, सुख दुःख, संकल्प विकल्प हमें नहीं दे सके हैं। रीति-कवि के पास यह सब-कुछ नहीं है। उसके पास साहित्य है, परन्तु यह साहित्य नायक-नायिका के हास-विलास और अमर्यादित शृङ्गार चाटूक्तियों और निरर्थक युद्ध-वर्णनों तक ही सीमित है। हजार-दस हजार व्यक्तियों का जीवन जैसा था, उसकी उसमें अभिव्यक्ति है, लाखों-लाखों बोधवान प्राणियों की भावनाएँ उसमें नहीं हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से हमारे साहित्य का रंग-रूप बदलता है और उसका नेतृत्व अध्यात्म साधकों और राजपंडितों के हाथ से निकलकर ऐसे व्यक्तियों के हाथ से आता है जो साधारण श्रेणी के लोग थे। इस समय एक नई विदेशी अंग्रेजी शक्ति ने देश में पदार्पण कर लिया था, वह धीरे-धीरे शासन-सूत्रों को अपने हाथ में समेट रही थी। यह शक्ति मूलतः वाणिज्य-प्रधान थी, अतः इसके प्रयत्न से नये-नये उद्योग-धन्धों और नये प्रकार के वाणिज्य का संगठन हुआ और अनेक नगरों का निर्माण हुआ। इन नगरों में ही हमारा आधुनिक साहित्य विकसित हुआ। इसके निर्माता ऐसे व्यक्ति थे जो इसी पीढ़ी में, या एक-दो पीढ़ी पहले गाँवों से आकर नगरों में बस गए थे, परन्तु अब भी गाँव की धरती से सहस्रों सूत्रों से बँधे हुए थे। वे न सन्त-भक्त थे, न साहित्य-परिपाटियो

के ज्ञाता पंडित। उनमें से बहुतों के पास केवल हिन्दी-अंग्रेजी का थोड़ा-सा ज्ञान ही सम्बल था। परन्तु उन्होंने शीघ्र ही यह देख लिया कि नए साहित्य-सृजन में न अध्यात्म के तत्त्व काम देंगे, और न पुरानी रीतिकालीन परिपाटियाँ। उन्होंने अपने चारों ओर आँख खोलकर देखा और यूरोप के साहित्य, प्रमुखतया अंग्रेजी साहित्य और स्वयं अपने देश के एक नव-जाग्रत भाग बङ्गाल में उन्हें नया प्रकाश दिखलाई पड़ा। अपने अध्ययन, अध्यवसाय और कर्मठता से उन्होंने नये साहित्य की नींव डाली। यह साहित्य काम-काजी अधिक था, फलतः उसमें गद्य की प्रधानता थी। प्राचीन संस्कृत-साहित्य में गद्य का विशेष विकास नहीं हुआ था, अतः गद्य के विभिन्न रूपों (उपन्यास, निबन्ध, लेख, कहानी) के लिए उन्हें पश्चिमी साहित्य का आश्रय लेना पड़ा। पद्य और नाटक के क्षेत्र में उनके पास संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और स्वयं हिन्दी-साहित्य में बहुत कुछ था, परन्तु नई जीवन-व्यवस्था उन्हें पुराने रूप में ग्रहण नहीं कर सकती थी। नया साहित्यकार स्वानुभवी, बुद्धि-व्यवसायी, प्रयोगवादी और सुधारक था। उसके जीवन-दर्शन में नैतिकता और चरित्र-निष्ठा का बड़ा महत्त्व था। उसने प्राचीन इष्टदेवों को भी नए सामाजिक आदर्शों से मंडित किया। अपने व्यक्तित्व को उसने अत्यन्त मुखरता से सामने रखा और राष्ट्रीयता की शंख-ध्वनि से विदेशी शासकों को भी चौंका दिया। अंग्रेजी और बङ्गला-साहित्य के मधु से उसने अपने प्राण सिंचित किये और कालिदास-वाल्मीकि-तुलसी के साथ रवीन्द्रनाथ, माईकेल मधुसूदन, शेक्सपियर, शेली और कीट्स को भी मान्यता दी। इस प्रकार उसमें पूर्व-पश्चिम की भावनाओं और साहित्यादर्शों का अद्भुत सामंजस्य सम्भव हो सका।

आधुनिक साहित्य इसी सद्यःजाग्रत मध्य वर्ग की कृति है जो पिछले ६० वर्षों से राष्ट्रीयता के क्षेत्र में देश का नेतृत्व करता रहा है और जिसने अपने व्यक्तित्व के निर्माण में पश्चिमी संस्कृति और साहित्य से अनेक तत्त्व संयोजित किये हैं। नगरों का जीवन जिस तीव्रगति से विवि-

धता और प्रसार की ओर उन्मुख हुआ है उस तीव्र गति से यह नवीन-साहित्य भी विकसित हुआ है। अभी भी उसमें पूरा संतुलन नहीं आया है, अभी वह पूर्व की ओर झुकता है, कभी शॉ, ज्वाइस, इलियट में उलझकर रह जाता है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह धीरे-धीरे अपने निश्चित व्यक्तित्व और दृष्टिकोण के विकास की ओर बढ़ रहा है। पश्चिम के कलारूपों को उसने पूर्णतः अपना बना लिया है, यह कम श्रेय की बात नहीं है, और उसमें भारतीय संस्कृति को वाणी देने की भी माँग उठी है और देश के पीड़ित उपेक्षित, समाज-बहिर्भूत प्राणी भी साहित्य में स्थान पा गए हैं। स्वयं मध्यवर्ग का साहित्यिक आज सर्वहारा का नेता बनकर सामने आ रहा है और नई माँग के अनुसार फिर एक बार साहित्य का रूप बदल-सा रहा है। रूसी और चीनी जन-क्रान्तियों ने समाजवादी वस्तुवाद के रूप में साहित्यिकों को नया मानदण्ड दिया है। इस प्रकार पश्चिमी कलाकारों के प्रयोग (फ्राइडवाद, इम्प्रेशनिज़्म, अन्तश्चेतनावाद, मार्क्सवाद) रूस का समाजवादी वस्तुवाद और भारतीय साहित्य की आदर्शवादी परम्परा की त्रिधारा आज हमारे साहित्य के रूप-निर्माण में अग्रसर है। दूर-दूर देशों और संस्कृतियों का यह नया-पुराना जल मिलकर किस अभूतपूर्व साहित्य-संगम की सृष्टि करेगा, अभी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।